॥ प्रतिबंध ॥

(पृष्ट १३८ पंक्ति २४ से निकाला गया)

" जो जन निकृष्ट, मध्यम और उत्तमों की मंडली में स्थित है उस को हम कभी पराविद्या की बात सुनानी नहीं चाहते परन्तु जो परम उत्तम बुद्धि रखता है पराविद्या सुनाने का उद्यम हम उस के लिये करते हैं। इसी हेतु से हम यहां एक प्रतिबंध लिखते हैं कि जिस के हाथ हमारा यह ग्रंथ आवे वह जहां से चाहे पढ़ने न लग जावे किंतु क्रम पूर्वक प्रथम पहिला भाग और फिर दूसराभाग पढ़े कि जिस के पढ़ने से वह परम उत्तम बन सकता है। यदि क्रम विरुद्ध पढ़ेगा तो उभय तो भ्रष्ट हो जावेगा और कभी शांत नहीं होवेगा किंतु संशयों में व्याकुल रहेगा ॥"

(ग्रन्थ कर्त्ता)

॥ सत्यामृत प्रवाह के विषयों का सूचीपत्र ॥

पूर्व भाग

विषय का नाम	पृष्ठ

॥ इति पूर्व भाग ॥

अथोत्तर भाग

१ तरंग

२ तरंग

विषय का नाम	पृष्ठ

॥ इति सूची पत्रम् ॥

॥ भूमिका ॥

संवत् १९१० विक्रमा दित्य में जब मेरी अवस्था सोलह वर्ष की थी; एक महापुरुष के संग से इस सत्य विद्या का शब्द मेरे कान में पड़ा था कि जिस को मैं इस ग्रन्थ में पराविद्याके नामसे लिखूंगा। उस के पीछे जो मुझे कई प्रकार के विद्वानों से मिलने का समागम पड़तारहा और कुछ न्याय वेदांतादि शास्त्रोंका पढ़ना हुआ तो उस प्रथम श्रुत विद्या का छिपाना योग्य समझ लिया था क्यों कि जगत को उस का अधिकारी नहीं समझा था। उसके पीछे यद्यपि कईप्र कार के मत मतांतर को देखा और सुना परंतु उस पूर्व श्रुत सत्य विद्या को मेरे मन से कोई दूर न कर सका । भारतखंड में कोई ऐसा मत नहीं जिस को मैं ने देख नहीं लिया । मुसलमानों तथा अँगरेजों के मत में जितने भेद हैं मैं ने उन सब के कथन सुने परंतु मेरी सत्यविद्या के तुल्य मुझे कोई भी प्रतीत न हुआ। कईवार यह बात भी मन में समाई कि मैं अपनी सत्यविद्याको जगत में फैलाऊं कि जिस पर न तो कभी कोई संदेह उठ सकता और न किसी को युक्ति हीन झूठे मार्ग में चलाती है परंतु फिर यह बात मेरे संकल्प को शिथिल कर देती थी कि यह सत्यविद्या जैसी मेरे मन में भरी हुई है यदि वैसी ही सांगोपांग किसी दूसरे की समझमें न आई तो लोग यथेच्छाचारी और कुकर्मी होजायेंगे क्योंकि जन्मसे लेकर आज लों सब लोग जो झूठी बातें सुनते चले आये हैं उन्हें तुरंत सच पर विश्वास ले आना कठिन है। इस विचार के प्रताप से सत्यविद्या का प्रकट करना तो मैंने उचित न समझा परंतु उन दिनों में जो २ लो ग मुझ से कुछ धर्म के विषय में पूछते सुनते रहे मैं उन्हें वैष्णव धर्म का उपदेश करतारहा कि जिसमें लगा हुआ मनुष्य सदा शुभकामों को करता और अशुभ कामों से डरता रहिताहै। जैसा कि मेरे उन दिनोंके उपदेशने बहुत लोगोंको मद्य, मांस ,चोरी, द्यूत, झूठ, छल, अहंकार, व्यभिचारादि कुकर्मों से बचाया कि जो प्रत्यक्षही जीव को नाना क्लेशोंमें डालतेहैं और दान, स्नान, उपकार, दया, सत्य, शौच, सेवा आदिक सुकर्मोंमें लगाया कि जो प्रत्यक्षमें परमसुखके हेतुहैं ॥

संवत् १९३२में मुझे चारों वेद की पढ़ने और अर्थ विचारनेका समागम मिला तो यह बात निश्चित हुई कि ऋग्वेदादि चारों वेद भी यथार्थ सत्य विद्याका उपदेश नहीं करते किंतु अपरा विद्याको लोगों के मन में भरते हैं । हां वेद के उपनिषत् भाग में कुछ २ सत्यविद्या अर्थात् परा विद्या अवश्य चमकती है परंतु ऐसी नहीं कि जिस को सब कोई स्पष्ट समझलेवे । चाहे वेद और उपनिषत्का लिखनें वाला सत्य विद्या को जानता तो अवश्यथो परंतु उसने सत्यविद्या को वेद में न लिखना वा छिपाके लिखना इस हेतु से योग्य समझा दिखाई देताहै कि जिन के लिये वेद और उपनिषत् को लिखा उन के लिये यही उपदेश श्रेष्ठ था जो वहां लिखा है ॥

संवत् १९२६ में हरिद्वारके कुंभ पर जो मैंने मतमतांतरके विषय में कई प्रकार के वाद बिवाद होते देखे कारण उन का मुझे यही प्रतीत हुआ कि वे लोग उस सत्यविद्या से शून्य हैं कि जिस के जानने से सब बिबाद शांत होजाते हैं । चित्तमें तो उसीदिन यह उमंग उठी कि आज से सत्य विद्या का शंख अवश्यबजा देना चाहिये परंतु अपने गृह पहुंचने तक मैं कई दिन फिर भी इसी विचारमें रहा कि सत्य के प्रकट करनेमें जगतपर कुछ अपकार न हो जावे । बहुत सी सोच बिचार के अनन्तर घर पहुंचते ही मेरे मनमें यह बात दृढ़ होगई कि सत्य बिद्याके प्रकट करनेमें जैसी पूर्व विद्वानोंने कई अनर्थ समझेथे वैसे अब इसको गुप्तरखनेमें भी अनेक अनर्थ प्रतीत होतेहैं जैसा कि ॥

प्रथम अनर्थ यह है कि चाहे मनुष्य मनुष्य सब एक ही हैं परंतु जबलों सत्यविद्याको नहीं पाते कोई भेदवाद और कोई अभेदवाद में युक्ति उक्ति उठाते और कोई शैव, शाक्त,वैष्णव तथा जैन बौद्ध के झगड़ों में कष्ट उठातेहैं । इसी भांति कई एक लोग आज काल ब्रह्मसमाज और आर्य्य समाजमें प्रवृत्त तथा राम दास से गुलाम मुहम्मद और गुलाम मुहम्मदसे अबदुल मसीह बनके निज बांधवों को दुःखी करते और अन्य मतों के साथ लड़ लड़ मरते हैं ॥

२ बुद्धिमानों ने ईश्वर और परलोक का लालच और भय केवल निकृष्ट और मध्यम कोटि के मनुष्यों को शुभाचारमें प्रवृत्त और मंदा

चार में निवृत्त करने के निमित्त नियत कियाथा परंतु अब उस को सत्यज्ञान के परम उत्तम कोटि के मनुष्य भी अपना तन, मन, धन, नष्ट करने लग गये और सदा करते रहेंगे ॥

३—अब मेरा आयु चालीस वर्ष से आगे निकल गया अनुमान से जाना जाता है कि अब मृत्यु का समय निकट है * सो योग्य है कि अब इस सत्य को न छिपाऊं कि जो चिरंकाल से मेरे मन में भरा हुआ है यदि सत्य विद्या को साथ ले मरूंगातो बड़े अनर्थ की बात होगी ॥

यद्यपि सत्यविद्या के लिखने में मुझे यह उत्पात होता भी दिखाई दिया कि अपराविद्या के प्रेमी लोग मेरे शत्रु, और निंदक बन जायेंगे परंतु सत्यविद्या का प्रेम अब मुझे रुकने नहीं देता उलटा बलात्कार से मुख और हाथको सत्यही के कहिने और लिखने में जोड़ता है। मैं बहुतेरा ही अपनी जिह्वा और लेखिनी को थामता हूं परंतु क्या करूं और कुछ कहिने और लिखने को जब मनही नहीं मानता तो अब इस(**सत्यामृत**)नाम गृन्थ लिखने का आरंभ अवश्य करना पड़ा जिसको मैं केवल उस अधिकारी के लिये लिखता हूं कि जिसकी बुद्धि अत्यंत उत्तम और परा विद्या की बात समझ सकती हो। इस गृन्थ के दो भाग हैं। पूर्व भाग में तो आत्मा की चिकत्सा का निर्णय किया है कि जिसके विना किसी को पराविद्या का उपदेश कबी न सुनाना चाहिये। और उत्तर भाग में पराविद्या का वर्णन है जो परम सत्यका उपदेश करती है ॥

जो सत्य विद्या मैंने इस गृन्थ में लिखी वह प्राप्तती चाहे बहुत पुरुषों को है परंतु इस विद्या का प्रसिद्ध गृन्थ जो मैंने आज लों कोई नहीं देखा इस कारण मैं ने इस के लिखनेका परिश्रम उठाया नहीं तो कबी न लिखता। विद्वज्जनों के आगे मेरी एक प्रार्थना है कि इस गृन्थ के पाठ से केवल यही बात न निकाल लें कि यह गृन्थ नास्तिक मत को सिद्ध करता है किंतु शूर बीर वह होगा जो

* इस गृंथ लिखने के पीछे तुरंत पंचत्वको प्राप्त हुये अर्थात् सं० १९३७ आषाढ कृष्ण १३ को गृंथ कर्त्ता "श्री स्वामी पंडित श्रद्धा राम जी" की ज्योति लय लीन हुई ॥

इस गृन्थ के लेख को अपनी उक्ति युक्ति से खंडन करके दिखावे। हां मैं देखता हूं कि कई एक लेखकों ने अपने गृन्थों में नास्तिक मतका खंडन कुछ लिख रखा है परंतु एक देशी खंडन होने के कारण हम उसको भी शूर वीरता नहीं समझते। जिसको सामर्थ्य है वह किसी नास्तिकके समक्ष आके वा उसे अपने पास बुलाके खंडन करे क्यों कि जो अभिप्राय दोनों के समक्ष होने में सिद्ध होता है वह दूर से लेख द्वारा नहीं होता॥

ईर्षा वा द्वेष के बलसे तो चाहे कोई कुछ नाम रखो परंतु न्याय द्वारा हम नास्तिक नहीं हैं क्योंकि नास्तिक वह होता है जो अस्ति को नास्तिक है—हमारे मतमें जो उसी वस्तु की अस्तिमानी जाती है जो प्रत्यक्ष में अस्ति रूप है। अब विचार ना चाहिये कि नास्तिक हम हैं वा वे लोग हैं जो प्रत्यक्ष पड़ी अस्ति को नास्ति कहि के कि सी वंध्या पुत्र की अस्ति के आस्तिक बन रहे हैं। हमारा सारा मत इस गृन्थ के पाठ से प्रकट हो जावेगा कि हम नास्तिक हैं वा आ-स्तिक हैं॥

इस गृन्थ में यद्यपि मैं ने सब कुछ लिख दिया है परंतु जिस को फिर भी कुछ संदेह रहे वह तो पंजाब देशीय जालंधर के ज़िले-फिल्लौर नगरमें आके सभ्यता पूर्वक संभाषण करे और जिसको इस गृन्थ के लेखों पर विश्वास होजावे वह अपना नाम ग्राम गृन्थ कर्त्ता को लिख भेजे कि जिस से परस्पर प्रेम उत्पन्न होके कई प्रकार के अ न्य और अधिक विचार भी प्रकट हो सकते हैं॥

इस गृन्थ में चाहे मुख्य शिक्षा तो यही है कि मनुष्य को अपनी जीवन यात्रा किस आचार व्यवहार में समाप्तकरनी चाहिये अर्थात् किस आचार व्यवहार पर चलने से मनुष्य को निरतिशय सुख और दुःख प्राप्त हो सकता है परंतु प्रसंग के वश से वे अन्य बातें भी सब इस में आजाती हैं कि जिनके न जाननेसे मनुष्य अनेक प्रकारके कष्ट सहारता और झूठा भय और लालच इसके तन मन धन को धूलिमें मिलाता है॥

॥ इति ॥

॥ ओ३म् परम गुरुवेनमः ॥

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्यारंभः ॥

मुक्तिप्रदं सुदृढ बन्धनतो भ्रमाणां
साक्षा न्निजात्मसुखदञ्च गुरुं कृपालुं॥
श्रद्धायुतस्य जनि मृत्युहरं सुवाक्यै ,
वन्दे मुदा परमया करुणा स्पदम्वै ॥१॥
ये केचि दत्र मतवादयुता मनुष्याः ,
शान्तिं न यान्ति बहु तर्क बितर्क बेगै॥
स्तान्वित्य तप्तमनसो बहुधा समीक्ष्य,
सत्यामृतं हि मयका च वितन्यते ऽद्य२
सत्यामृतप्रवाहे ऽस्मिन् ये निमज्जन्ति मानवाः।
सन्देहदावनिर्दग्धाः शीतलास्तेभवन्तिहि।३।
श्रद्धारामेण फुल्लौर , नगर वासिना मया ॥
रसरामाङ्कचन्द्रे ऽब्दे, वैक्रमे रचिता सुधा॥४॥
गुरुशिष्यस्य सम्वादे, स्तथा प्रश्नोत्तरे मया ॥
निर्भयत्वं समाश्रित्य, य त्सत्यं त त्समुद्धृतम् ५
स्वमतस्या ग्रहं हित्वा, ये पठिष्यन्ति मे मतम्
अमरा स्ते भविष्यंति, जीवन्मुक्ता न संशयः ६
युक्तायुक्तं वाक्यं बालेना ऽपि प्रभाषितं ग्राह्यम्
त्याज्यं युक्तिविहीनं श्रौतं स्यात्स्मार्तंवास्यात् ७

(दोहा)—नमो नमो तुम चरण को, श्री गुरु दीन-दयाल ॥
तुमरी कृपा कटाच से, कटें सकल भ्रम जाल ॥१॥

चार वेद, षट् शास्त्र, अठारह पुराण तथा जैन बौद्धक मत के शास्त्र और तौरेत, ज़बूर, इंजील, कुरान आदिक जगतके संपूर्ण धर्म पुस्तक संसारकी मर्य्यादा स्थिर रखनेके लिये जीवोंके सिर पर ईश्वर और पर-लोक का भय और लालच रखके शुभाचार में प्रवृत्त और अशुभाचार से निवृत्त करना चाहतेहैं परन्तु उनका यह उपाय उन लोगोंको ग्रहण होसकताहै कि जिनकी बुद्धि विना किसी युक्ति और प्रमाणके सुनी पढी बात को सत्य मान लिया करती और आप कुछ सोच विचार नहीं कर सकती। जो उत्तम बुद्धिके लोग केवल उसी बातको सत्य मानने-वालेहैं कि जो प्रत्यच में सत्यहो अथवा किसी युक्ति प्रमाणसे सत्य दिखाई देवे वे पूर्वोक्त ग्रन्थोंके कथनपर संशय उठा के अंतको अत्यन्त व्याकुल होजातेहैं। विना युक्ति प्रमाणके सुनीपढी बातको सत्य मान लेने-वालोंके लिये तो हम भी उसी उपायको श्रेष्ठ समझते और उपदेश करते रहतेहैं जो उन ग्रन्थोंने किया, परन्तु जो लोग सोच समझके चलने-वाले और सत्यके खोजीहैं उन्हे परा विद्या का उपदेश देना हम अत्यन्त उचित समझते हैं कि जिस पर किसी को कुछ संशय नहीं रहता॥

प्रश्न—परा विद्या क्या होती है॥

उत्तर—विद्या दो प्रकारकी होतीहै एक परा, दूसरी अपरा, परा वहहै कि जो परे का उपदेशकरे जिसपर कोई संदेह नहीं उठता अपरा वहहै कि जो वरे का उपदेश करे कि जिस पर अनेक सन्देह खडे होके मनको व्याकुल कर देतेहैं। इस परा अपरा विद्याका पता अथर्वण वेद की मुण्डक नाम उपनिषत् में लिखा है जैसा कि:—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदोवदन्ति परा चैवा पराच। तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिष मिति।

अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते ॥

अर्थ इसका यहहै कि विद्या दो भाँतिकी जाननी चाहिये जिस को ब्रह्मवेत्ता लोग परा और अपरा कहतेहैं ॥ उन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वण वेद और शिक्षाकल्प व्याकरण निरुक्त छंद ज्योतिष ये सब मिलके अपरा विद्या कहलाती है और परा विद्या वहहै कि जिससे अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है ॥

✓ अब सोचो कि वेदादि समस्त ग्रंथोंको जब अपरा विद्यामें गिना तो इनके कथनसे निःसंदेह ज्ञान कैसे हो सकता है ॥

प्र० † वेदादि ग्रन्थोंसे जब यह निश्चय होगया कि ईश्वर जगत का कर्त्ता हर्त्ता सत्यहै और वेद उसके ज्ञानका नामहै। जीवको पाप पुण्य के अनुसार नर्क, स्वर्ग भोगना पडेगा तो इस ज्ञान पर किसी को क्या सन्देह हो सकता है ॥

उ० * अपरा विद्या के अधिकारी को तो कुछ संदेह इस पर खडा नहीं होता कि जो आँख और कान मूंद के लकीर पर चला रहिताहै परन्तु परा विद्याका अधिकारी इस पर अनेक संदेह उठा सकताहै कि जिसको सोच समझके पाउँ रखनेका स्वभाव है जैसा कि लो पहिले हम तुमहीं को प्रश्न करतेहैं यदि सामर्थ्यहै उत्तर दो ॥

प्र० ‡ ईश्वर क्या और वेदादि ग्रन्थ उसका कथन कैसे हैं ॥ जीव क्या वस्तु है तथा पाप पुण्य क्या होतेहैं ॥ नर्क, स्वर्ग क्याहै और जीव उन में कैसे जाता है ॥

उ०—ईश्वर को मैं ने अनादि अनंत कायासे रहित सर्वव्यापी सर्व समर्थ, सर्वज्ञ, पूर्ण पवित्र, इच्छा से हीन सुना है ॥

प्र०—जो वस्तु काया से रहित और जन्म मरण से हीन है उस का होना तुमनें कैसे निश्चय कर लिया।

उ०—विना बनाए कुछ बनता नहीं सो इस जगत् का कोई बनानेहारा अवश्य होना चाहिये, उसी को हम ईश्वर मानते हैं तथा बड़ी भारी यही युक्ति ईश्वरका होना सिद्ध करनेवाली हमारे पासहै.

† प्र० से प्रश्न समझो ॥ * उ० से उत्तर जानना चाहिये। संक्षिप्त पाठ के लिये केवल प्र०, उ० मात्र ही लिखा है।

‡ यहां से गुरु का प्रश्न और शिष्य का उत्तर चला ॥

प्र०-जगत्के बनानेवालेको यदि तुम ईश्वरमानतेहो तो बताओ जगत्में ऐसा वस्तु कौन सा है जिसको ईश्वरने बनाया ॥ मनुष्य, पशु, पक्षी अपने माता पितासे बनते ॥ और वृक्ष अपने बीजसे बनते और घट, पट, कोष्ठ, कूप मनुष्य के बनाये बनते। और धरती, जल अग्नि, पवन, आकाश ये पांच तत्व सदा बनेबनाएही समझ में आते हैं जो कुछ ईश्वर का बनाया बना उसका नाम लो ॥ फिर जो तुम ने कहा बिना बनाये कोई वस्तु बनता नहीं यदि यह बात सचहैतो उस ईश्वर का बनानेवाला भी तुम को अवश्य मानना चाहिये ॥

उ०—आज तो सब जीव अपने माता पिता से और वृक्ष अपने बीजों से बनते दिखाई देते हैं परन्तु आदि में जो माता पिता और बीज बने थे वे ईश्वर ने बनायेथे। और ये धरती आदिक पांच तत्व भी पहले उसीने बनाये हैं ॥ और आप जो ईश्वर का बनाने हारा कोई और ठहराते हैं बनानेहारा उस वस्तु का होता है जो किसी भांति का आकार वा स्वरूप रखताहो ईश्वर को हम पीछे निराकार कहि चुके हैं॥

प्र०-आदि में माता पिता और पांच तत्व तथा बीजों का कर्त्ता यदि ईश्वर को मानतेहो तो उस पर तीन संदेह खड़े होंगे ॥ प्रथम यह कि आदिमें मातापिता और बीज ईश्वर ने किस इच्छासे बनाये दूसरा यह कि काहे में से बनाये ॥ तीसरा यह कि उस दिन से पूर्व कभी क्यों न बनाये ॥

यह बात तुमहीं ने मानी थी कि कोई वस्तु बिना बनाये नहीं बनता जिस पर हम को ईश्वर का बनानेवाला मानना पड़ा ॥ यदि अब यह मानते हो कि बनाये से केवल वही वस्तु बनताहै जिस का कोई आकारहो तो, पवन और आकाशका बनानेहारा ईश्वर कैसे ठहरेगा कि जिन का कोई आकार नहीं ॥ यदि कहो पवन और आकाश का कर्ता ईश्वर नहीं तो तुम्हारी वह प्रतिज्ञा कहां गई कि जगत का बनाने वाला ईश्वर है। क्या पवन और आकाश को तुम जगत्से बाहर मानते हो ॥

यदि कहो उस को इच्छा कोई नहीं तो भी पूर्व माता पिता को ईश्वर ने [illegible]चा है तो बिना इच्छा कोई काम बनता हम कभी

नहीं देखते ॥ यदि कहो इच्छा तो है परन्तु हम उस की इच्छा को जानते नहीं तो ईश्वर उस इच्छाको पूरी करने का अर्थी मानना प डेगा ॥ फिर हम यह पूछते हैं कि वह इच्छा उस में अपने निमित्त उठी वा किसी दूसरे के निमित्त ॥

यदि अपने निमित्त उठीतो वह पूर्ण और इच्छा हीन कैसेहुआ और पूर्ण नहीं तो सर्वव्यापी कैसे हुआ ॥ फिर यदि किसी दूसरे के निमित्त उस में इच्छा उठी तो उस समय जब जगत् ही नहीं था तो दूसरा और कौन था । यदि कहो उसने अपना प्रताप प्रकट करने को इच्छा किई तो प्रताप के न प्रकट करने में उसकी क्या हानि हो ती ॥ यदि कहो वह दयालुहै अपनी दया प्रकट करनेको उसने जग- त् रचा, क्योंकि जगत् न होता तो दया किस पर करता तो सुनों ॥ एक तो उस की दया उसे दुःखदायक होगई कि जिसने उसको चैन से न वैठने दिया ॥ दूसरे सिंह, सर्प, बिच्छू आदि की रचने में जगत् पर क्या दया हुई ॥

दूसरी बात हम यह पूछते हैं कि आदि काल की माता पिता तथा बीज और पंच तत्व बनाये काहे में से थे, क्योंकि उपादान के विना कुछ बन नहीं सकता ॥ यदि कहो पंचतत्व की परमाणु नित्यहैं उनको मोटा करके सब कुछ बना लिया, तो बताओ क्यों बनाया ॥ यदि कहो जीव पदार्थ अनादिहै और उस के कर्म भी अनादि हैं कि जिनका फल भोगानेके लिये ईश्वरने परमाणु समूहको मिलाके स्थूल किया और जगत् रच लिया सो यह जगत् कईबार उपजा और मिटा है तथा सदा उपजता मिटता रहेगा तो अब जीवोंके कर्म ईश्वरको दुःखदाई होगये, मानने पडेंगे ॥ यदि कहो ईश्वरने एकवार यह सं केत बाँध छोड़ाहै कि सृष्टिके पीछे प्रलय. और प्रलयके पीछे सृष्टिहो जाया करे, और जीव अपने कर्मका फल भोगते रहाकरें नित्य नित्य ईश्वर को संकल्प नहीं रचना पड़ता जिससे उसे वेचैन माना जावे, तो सुनों ॥ सृष्टि प्रलयकी धारा तो तुमने अनादि मानी इस संकेत बाँधनेका समय कौन सा ठहराओगे क्योंकि जिस समय संकेत बाँधा उससे पूर्व सृष्टिका अभाव मानना चाहिये ॥ यदि उससे पूर्वभी सृष्टि थी तो संकेतका बांधना कब और क्यों आवश्यक समझा गया ।

यदि कहो जगत् रचने के लिये ईश्वर को भिन्न उपादान की कामना नहीं, किन्तु "एकोहं बहुस्यां" मैं जो एक हूं बहुत प्रकार का होजाऊं। इस श्रुतिके अनुसार वह आपही जगत् रूपहोगया तो ईश्वरको तुमने निराकार मानाथा फिर जगत् में साकारता कहां से आगई ॥ क्योंकि जो गुण उपादान कारण में होतेहैं कार्य्य में उस से विलक्षण कभी नहीं होते ॥ जैसा कि देखो स्वर्णका बना हुआ भूषण कभी किसीने रुई के समान श्वेत और हलका नहीं देखा ॥

यदि कहो ईश्वर सर्व-शक्तिमान है उसे जगत् रचने के लिये साधन और सामग्रीकी कुछ इच्छा नहींहोती जो कुछ चाहे वह अपनी शक्तिसे ही बना सकता है तो पहिले हम पूंछते हैं इस में प्रमाण क्या, कि बिना उपादानके कार्य्य उत्पन्न हो सकताहै॥ दूसरा यह बताओ कि शक्तिमान् को साधन और सामग्री तो चाहे नहीं चाहिये परन्तु कार्य्य रचनेकी इच्छातो उसमें अवश्य माननी पडेगी कि जिस पर हम वे सारे ही संदेह फिर उठा सकतेहैं जो पूर्व उठाये थे॥

यदि कहो मनुष्यकी बुद्धि तुच्छहै उस महान् परमेश्वरके व्यवहारको कैसे समझ सके कि उसने जगत् कब बनाया, क्यों बनाया, काहेमें से बनाया, कैसे बनाया, तो इस तुच्छ बुद्धि के कहने से मान लिया कि ईश्वरने बनाया है ॥

यदि कहो जगत् हैही नहीं सब कुछ भ्रमसे भासताहै तो बताओ किसके भ्रमसे भासताहै क्या ईश्वर के भ्रमसे वा जीव के भ्रमसे भासताहै ॥ यदि ईश्वरके भ्रमसे तो ईश्वरकी सर्वज्ञता कहां गई ॥ यदि जीवके भ्रमसे मानों तो जीवसे भिन्न जगत् क्या वस्तुहै जो जीव के भ्रमसे भासताहै क्या जीवोंके समूह का नाम ही जगत् नहीं ॥ फिर इस रीति से भी जीवके भ्रमसे जगत्का भासना खंडन होता है कि जब जीव पहिलेही सत्यहै जिसको अपने में जगत्का भ्रम हुआ, तो सत्य वस्तुको भ्रमसे भासता कैसे मानते हो ॥

यदि कहो मेरी बुद्धि तुच्छहै जो आपके पूर्वोक्त प्रश्नोंकाउत्तर नहीं दे सकी परन्तु ईश्वर का होना मैं इस युक्ति से सत्य मानता हूं कि जगत्के वेदादि समस्त ग्रंथ जो ईश्वर ही की वाणी है, तो सुनों ईश्वर का होना कथन करते हैं ॥

✓ हमने ऊपर पहिले ही प्रश्न कियाथा कि वेदादि ग्रन्थ ईश्वर का कथन कैसेहैं सो अब हम यह बात पूंछतेहैं कि वेदादिग्रन्थ किस ईश्वरका कथनहैं, क्या उसीका जिसको तुम किसी युक्ति से सिद्ध नहीं कर सके ॥ जिसका होना हीं अबलों सिद्ध नहीं हुआ उस का कथन हम किसी ग्रन्थको कैसे मानलें ॥

✓ प्र०—अच्छा अब जीवको बताओ कि देह में जीव क्या वस्तु है जिसको तुम देह छोड़के आगे जाता और यहांके कर्म का फल भोगता समझतेहो ॥

उ०—जिसके होने से देह में ज्ञान शक्ति दिखाई देती है वह अज, अमर, नख से शिखा लों पूर्ण निराकार वस्तु जीव है ॥

प्र०—मूर्छा और उन्मादक द्रव्योंके संयोगसे जब देह में ज्ञान शक्ति नहीं रहती क्या उस समय जीवात्मा को देह से कहीं बाहर चला गया मानते हो। यदि कहो उन्मादक द्रव्यों के संयोग से उसे व्याकुलता हो जाती है जिससे ज्ञान शक्ति नहीं रहती तो जब उसको तुम निराकार मानतेहो तो उस के साथ किसी अन्य द्रव्य का संयोग होता, और वह संयोग आत्माके सहज धर्म ज्ञानशक्तिको नष्ट करने वाला कैसे मान लिया जावे ॥ यदिकहो जैसे निराकार पवनके साथ दुर्गंध द्रव्यका संयोग होके उसे दुर्गंधिवाला बना देतीहै वैसेही उन्मादक द्रव्यका संयोग निराकार आत्माके साथ होके उसे व्याकुल कर देताहै तो यह दृष्टांत विषमहै॥ क्योंकि दुर्गंध द्रव्य पवन को दुर्गंधित नहीं करता, किन्तु उसके सूक्ष्म परमाणु पवनके प्रेरे हुए जब मनुष्यकी नासिका में पहुंचतेहैं तो मूर्खजन पवनको दुर्गंधित समझ लेतेहैं। पवन सदा निर्लेप है उसे तब दूषित समझा जावे कि यदि उसका सहज धर्म स्पर्श किसीके संयोगसे नष्ट होजावे ॥

फिर जो तुम उसको अज, अमर मानते हो यह बात भी युक्ति को नहीं सहारती क्योंकि देहके बिना जो उसकी कहीं स्थितिनहीं प्रतीत होती इस कारण यदि देहके साथही उसका उत्पत्ति विनाश मानलें तो क्या हानिहै ॥ यदि कहो जैसे घडेमें के आकाशका घडे के साथ उत्पत्ति विनाश नहीं, वैसे देह के साथ आत्मा का भी नहीं तो जैसे घडेकी उत्पत्ति विनाशके पूर्व और पश्चात् आकाशका भिन्न

स्वरूप भी दिखाई देता है वैसे जीवात्मा का भी दिखाओ ॥

तुमने उसे नखसे शिख पर्यंत व्याप्त कहा यदि यह बात सत्य है तो नख और रोमके काटने से उसे दुःख क्यों नहीं होता ॥ यदि कहो वह देह मात्र में व्याप्त है नखादि में नहीं तो देह में से हाथ, पांव के काटने से ज्ञान शक्ति का कोई भाग हीन होना चाहिये ॥ यदि कहो जैसे ईंधन का कुछ भाग काटने से उस में के व्याप्त अग्नि का उष्ण और प्रकाश धर्म कुछ न्यून नहीं हो जाता वैसे देहमें से हाथ पांव के काटने से भी व्याप्त जीवात्मा के स्वरूप की हानि नहीं होती क्यों कि निराकार वस्तु व्याप्य पदार्थ के काटने से कटता कभी नहीं तो जैसे कटे हुए ईंधन के दोनों टूक में व्याप्त अग्नि की उष्णता और प्रकाश तुल्य प्रतीत होताहै वैसे कटे हुए हाथ और देह में आत्मा की ज्ञान शक्ति भी तुल्य प्रतीत होनी चाहिये क्यों कि वह दोनों टूक में पूरा व्याप्त है ॥ यदि कहो व्याप्त तो सारे हैं परन्तु ज्ञान शक्ति की प्रतीत वहां होती है जहां मन नाम इन्द्रिय विद्यमान हो तो तुम मन को अणुमात्र द्रव्य मानते हो जो देह के किसी एक स्थान में स्थित होगा फिर मुख में पडे मोदक और पांव में गडे कांटे का सुख दुःख कैसे प्रतीत होता है ॥

तुम यह भी बताओ कि जीवात्मा सब में एकही है वा भिन्न२ है । यदि कहो एकही है तो घोडे पर चढ़ा हुआ पुरुष जिस देश को चलना चाहता है घोड़ा विना प्रेरणा उसी देश को क्यों नहीं चल पड़ता क्योंकि दोनों का संकल्प एक है ॥ यदि कहो वहां मन की भिन्नता से संकल्प की भिन्नता है तो मन से भिन्न जीवात्मा का होना किसी दृढ़ युक्ति वा प्रमाण से पहिले सिद्ध करलो ॥ यदि सब देहों में भिन्न २ जीवात्मा मानते हो तो बताओ वह देहों के साथ उत्पन्न होताहै वा देहों से पूर्व भी कहीं विद्यमान था ॥ यदि कहो साथ उत्पन्न होताहै तो उपादान उसका पिता का वीर्य्य मानना पडेगा जो देह का उपादान है । फिर वीर्य्यको उसका उपादान माना तो देह के समान उसे नाशी भी मानना चाहिये ।

यदि कहो देह से पूर्व कहीं विद्यमान था तो बताओ कहां था ॥

प्र०—अब बताओ पाप पुण्य क्या पदार्थ है जिन के अनुसार जी-

वात्मा नर्क स्वर्ग भोगता है ॥

उ०—पर स्त्री गमन, परस्वहरण, मिथ्यालाप, बैर, कपट, अहंकारादि कुकर्म सब पापरूप, और सत्य, दया, दान यम, तप, व्रत, योग यज्ञ, नाम, स्नान, परोपकार आदिक सुकर्म सब पुण्यरूप हैं ॥

प्र०—पाप पुण्य का फल मनुष्य का आत्माही भोगता है वा पशु पक्षी भी कुछ पाप पुण्य करते, और उन का फल भोग सकतेहैं. यदि कहो मनुष्य के आत्माही पाप पुण्य कर सकते और वेही उस का फल भोग करेंगे तो पहिले यह बात तो सिद्ध कर लो कि देह से भिन्न आत्मा वस्तु क्या है और वह देह से न्यारा होके फल भोगकर सकता है ॥ कई लोग जीवात्मा को कर्म फल भोगाने के लिये एक लिंग देह वा अति वाहक देह अंगीकार करते हैं परन्तु सतारह वस्तु का लिंग देह अथवा कोई अति वाहक देह मान लेने में हम युक्ति प्रमाण कोई नहीं देखते ॥ कोई लोग यह भी मानतेहैं कि पूर्व देहमें किये कर्म का फल जीवात्मा दूसरे देह में ही भोग करता है क्योंकि देह के बिना आत्मा की स्थिति कठिन है तो पूर्व देह को छोड़के दूसरे देह में प्रवेश करने तक जितने क्षण वा वर्ष व्यतीत हुए उतना समय जीवात्मा को देह से बिना स्थित मानना पड़ेगा सो बताओ देहसे भिन्न वह क्या वस्तु है और उसकी सद्भाव में क्या प्रमाण है ॥ यदि यहां यह मान लिया जावे कि जलौकाकी नाईं पिछला चरण तब उठताहै जो अगला रख लेता है तो यह बात बनती नहीं क्योंकि जलौका जिस स्थानसे चरण उठाके अगले स्थानमें रखतीहै वह दोनों स्थान निकट होतेहैं जीवात्माके व्यवहार में यह कभी नहीं देखा कि जिस देहसे निकलके जीवात्मा उसे मृतक बनाया गया उसके निकट कोई और देह नया उत्पन्न होगया हो ॥

यदि कहो पशु पक्षी के आत्मा भी पाप पुण्य कर सकते हैं, और उनका पाप पुण्यभी यहीहै जो तुमने ऊपर कहा तो वे उसको कर ही नहीं सकते क्योंकि असंभव है ॥

प्र०—अब बताओ नर्क स्वर्ग कहां है ॥

उ०—आकाश वा पाताल में कोई स्थान है ॥

प्र०—आकाश पातालमें है तो किसी एक देशमें होनेके कारण

किसीको दूर और किसीको निकट पडेगा॥ जिसको निकट पड़ा उस को देह छोड़ते ही तुरंत उस में पहुंच के दुःख सुख भोगने पडे और दूरवाले को चिरकाल में फिर वह बीचमें यात्रा का समय सुख दुःख की किस दशा में कटता, और किस कर्म का फल है क्या उसी का जिस का फल नर्क स्वर्ग में भोगना था वा स्वतन्त्र है। इत्यादि.

आपने इस विकल्प जाल में मेरी वाणी को निरुत्तर करदिया परन्तु अच्छा लो अब मैं आप की प्रश्न करताहूं देखिये आप क्या उत्तर देते हैं॥

प्र०—* और तो सब महा पुरुष ईश्वरादि को सत्य कहिते आये परन्तु अब आप बतावें कि आप का क्या सिद्धांतहै॥

उ०—जब लों कोई बात प्रत्यक्ष प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध न हो जावे तबलों किसी ग्रन्थ और महा पुरुषकी बात सत्य न मानों क्यों कि ग्रंथ तो सबही अपरा विद्या तक का उपदेश करते हैं और महा-पुरुष जगत् में दो प्रकार के होते हैं एक वे कि जो अपरा विद्या तक ही पहुंचे हैं॥ दूसरे वे कि जिन को परा विद्या की प्राप्ति हुई है कि जिन का नाम पुरुषोत्तम परमहंस तथा यथार्थ महा पुरुष और सत्य धारी हैं॥ सो जिन को परा विद्या की प्राप्ति हुई कोई २ तो उन में छुप हो जाना ही श्रेष्ट समझता है और कोई २ जो आप सुखी हो के परोपकार की दृष्टि से कुछ कहना ही चाहता है वह यथाधिकार उपदेश करता है कि जिस से लोग भ्रष्ट और पतित न हो जायें॥ हां इतना तो ठीक है कि जहां लों हो सके जगत् के सिर से वृथा भय और लालच को अवश्य उठा देना चाहिये कि जिस के कारण लोग अपना तन मन धन नष्ट कर रहेहैं परन्तु ऐसा आत्मघाती कौन है कि जो ईश्वरादि को भी असत्य समझे जैसा कि देखो हम इन पांच सिद्धांतको अत्यन्त सत्य और जगत्के कल्याण कर्त्ता समझते हैं.

॥ सच्चे मनुष्य धर्म के पांच सिद्धांत हैं॥

१-सत्यका जानना, मानना, और अधिकार पूर्वक उपदेशकर

* यहांसे शिष्यका प्रश्न और गुरु का उत्तर पूर्व रीतिवत् चला और ग्रन्थ समाप्ति पर्यंत ऐसा ही रहेगा॥

ना मनुष्य का परम धर्म है ॥

२-परमेश्वर अनादि अनंतपूर्ण और सत्य तथासर्वगुण निधानहै

३-वेद परमेश्वर के ज्ञान का नाम है और वह सत्य का उपदेश करता है ॥

४-सूक्ष्म दृष्टि से बिचारें तो जीव भी ईश्वरकी एक अंशहै ॥

५-पाप से नर्क और पुण्य से स्वर्ग मिलताहै ॥ और पराविद्या के ज्ञान से मोक्ष होता है ॥

प्र०—अपरा विद्या में भी तो इन पांच ही सिद्धांतका उपदेश है फिर आपने अधिक क्या कहा ॥ यदि आपका यही सिद्धांतहै तो मैं वे सारे संदेह अब आपके कथनपर उठाताहूं जो आपने मेरे कथन पर उठायेथे ॥ बताइये आप का ईश्वर क्या, तथा वेद उस का ज्ञान कैसे है । जीव क्या वस्तु, और पाप पुण्य किस आचार का नाम है फिर यह भी बताइये कि ज्ञान क्या पदार्थ और उस से मोक्ष कैसे मिलता है ॥

उ०—प्रथम अपने आत्माकी चिकित्सा अर्थात् शोधन करो कि जिस से तुम को शुभाचार की प्रवृत्ति और अशुभाचार की निवृत्ति का दृढ़ स्वभाव हो जावे फिर ईश्वरादि का स्वरूप पूर्ण प्रमाणों के साथ सिद्ध किया जावेगा ॥ जो कोई आत्मा के शुद्ध कराये बिना अनधिकारी को परा विद्या के अनुसार ईश्वरादि का निर्णय सुनाता है वह आत्म घाती महा पापी और सूक्ष्म विचार से हीन है और उस को महापुरुषोंके मतका किंचित् भी ज्ञान नहीं ॥

प्र०—आत्मा की चिकित्सा कैसे होती है ॥

उ०—दूसरे तरंग से उसका आरंभ होवेगा ॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम बिरचित सत्यामृतप्रवाहपूर्वभागे ग्रन्थारंभः प्रथमस्तरंगः ॥१॥

ओ३म् परम गुरुवे नमः

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्यपूर्वभागः ॥

अथ द्वितीयतरङ्गस्यारंभः

प्र०–आपने कहा आत्माकी चिकित्साकरो सो अब यह बात कथन कीजिये कि शरीर में तो वात, पित्त, कफ की अधिकता न्यूनता से रोग और उन की साम्यावस्था से आरोग्य का प्रादुर्भाव होताहै यहां आत्मा में रोग और आरोग्य के प्रकट होने का क्या कारण है ॥

उ०–जैसे शरीर में वात, पित्त, कफ भरा हुआ है वैसे आत्मा में सत्व, रजस, तमस ये तीन गुण भरे हुए हैं सो जहां ये तीनों गुण समभाव पर वर्तते हैं वहां आत्मा अरोग और जहां इनकी न्यूनता अधिकता होतीहै वहां सरोग गिनना चाहिये ॥

प्र०–वात आदिक तीनों तत्व की साम्यावस्था और न्यूनता अधिकता का ज्ञान तो नाड़ी के देखने से होजाता है यहां आत्मा में तीनों गुण के समभाव और न्यूनता अधिकता का ज्ञान कैसे होता है ॥

उ०–तीनों गुण की भिन्न २ साम्यावस्था से एक २ धर्म उत्पन्न होके तीन धर्म आत्मा में रहते हैं जैसा कि:—सत्व के समभाव से "संवित्" और रजस के समभाब से "संतोष" और तमस के सम-भाव से "शौर्य्य" सो जहां संवित् अर्थात् ज्ञान का प्रकाश देखो वहां सत्व की शुद्धि ॥ और जहां संतोष का प्रकाश, वहां रजस की शुद्धि, और जहां शौर्य्य का प्रकाश देखो वहां तमस की शुद्धि समझनी चा-

हिये ॥ और जहां इनसे विरुद्ध देखो, वहां सत्वादि तीनों गुण की न्यूनता अधिकता और आत्मा को सरोग समझो ॥

प्र०-शारीरिक रोगों की निवृत्ति में तो वैद्य की प्रधानता होती, और इस विषय में अनेक ग्रंथ सुने जाते हैं यहां आत्मा के रोगों की निवृत्ति में वैद्य संज्ञा किसकी है और इस विषय में मुख्य ग्रन्थ कौन सा गिना जाता है ॥

उ०-आत्म रोगों की निवृत्ति के लिये वैद्य वह सद्गुरु है कि जो पूर्वोक्त संवित् आदिक तीन धर्मसे विभूषित और शिष्यके संदेह निवारण में कुशल हो ॥ और जो तुमने ग्रन्थ की मुख्यता पूछी सो जिस ग्रन्थ में आत्मा के शोधन का उपाय लिखा हो आत्म चिकित्सा के विषय में उसी ग्रन्थको प्रधानता हो सकती है ॥

प्र०-सत्व गुणका क्या स्वरूपहै कि जिसकी साम्यावस्था अर्थात् शुद्धि से संवित्का प्रकाश और न्यूनता अधिकतासे रोगोंकी उत्पत्तिहोती है

उ०-सत्व गुणका स्वरूप प्रकाश है कि जिस के द्वारा संपूर्ण व्यवहार समझे जाते हैं सो जब यह अपनी मलिन दशा और न्यूनता अधिकता से रहित अर्थात् समभाव पर शुद्ध होताहै तो इससे संवित् धर्म प्रकट हो जाता है ॥ संवित् का यह अर्थहै कि संपूर्ण पदार्थों के व्यवहार को भली प्रकार सर्वांश जानलेना कि जिस को ज्ञान भी कहते हैं ॥

☞ एक बात यहभी स्मृत रक्खो कि जहां संवित् होतीहै वहां ये सात गुण और उसके साथ निवास करतेहैं:—

१ बोध-नित्यप्रति कामोंको करते २ संपूर्ण व्यवहारोंके अंत फलको शीघ्र समझने का स्वभाव होजाना ॥ जैसा कि अंक विद्या के निपुण पुरुष अभ्यास के बश से अनेक अंकों का सिद्धांत तुरंत जान लेतेहैं ॥

२ विचार-कारणको देखके कार्य का अनुमान प्रथम ही कर लेना जैसा कि बुद्धिमान लोग पहिले ही इस बातको जान लेतेहैं कि मन्द कर्मका फल कभी भी शुभ नहीं होता ॥

प्र०-पर स्त्री गमन और चोरी आदिक मंद कर्म करने हार पुरुष को तो मनोरथ प्राप्तिके अनंतर हम शीघ्रही सुख देखतेहैं फिर आप कभी सुख नहीं होता क्यों कहिते हो ॥

उ०-पर स्त्री गमन रूप मन्द कर्म जो तुमने कहा उससे तो कभी

सुख और शुभ फल होताही नहीं फिर तुम यह शीघ्र सुख होता कैसे मानते हो क्योंकि जिस भोग में लज्जा और भय हो वह आनंद जनक कभी नहीं हो सकता ॥ अथवा वहां जो सुख है वह पर स्त्री गमन का नहीं किन्तु भोक्ता की वृत्ति स्थित हो जाने का है सो भोक्ता की वृत्ति चाहे अपनी पर चाहे पराई पर जहां स्थित हो जावे वहां ही सुख हो जाता है ॥ देखो स्वप्न दशा में केवल संकल्प की स्त्री के शरीर में ही भोक्ता की वृत्ति स्थित हो के सुख जनक हो जाती है ॥ इस लिये प्रकट हो गया कि अपनी पराई का नियम नहीं किन्तु स्त्री मात्र का नियम है ॥ और पर स्त्री गमन रूप कुकर्म का फल लोकापवाद आदिक होते हैं जो अत्यन्त दुःख का हेतु हैं ॥

इसी भांति चोरी से चाहे धन प्राप्ति का सुख तो होवे परन्तु उस को चोरी का नहीं कहि सकते क्योंकि यदि चौर्य्य कर्म से विना भी किसी उपाय से धन की प्राप्ति हो जावे तो सुख हो सकता है ॥ इस कारण वह सुख धन मात्र का है चोरी रूप मन्द कर्म का नहीं ॥ चोरी का फल वही भय कंप और राज शासनादि होंगे। अब सिद्ध हो गया कि सुख की प्राप्ति का कारण सिद्ध हुआ हुआ मनोरथ है कुछ चोरी आदिक मंद कर्म नहीं ॥ सो वस कारण द्वारा कार्य्य का अनुमान कर लेने को विचार कहिते हैं ॥

३ अवगमन-देखते और सुनते सार सर्व व्यवहारों के तात्पर्य्य को तुरंत जान लेना कि इस क्रिया के करने और बात के कहिने का तात्पर्य्य यह है ॥

४ बुद्धि-किसी विद्या और व्यवहार को सीखने के समय कुछ काठिन्य न प्रतीत हो जिस बात को चाहे सुगम ही गृहण कर ले ॥

५ तीव्रता-वाद विवाद और जिज्ञासा के समय ज्ञान सीमा को उल्लङ्घित न करना ॥ तात्पर्य्य यह कि पद की जिज्ञासा और वाद हो तो पद के अर्थ विवेचन में न लगना ॥ ज्ञान सीमा का उल्लङ्घन यह भी होता है कि जैसे किसी उत्तम अस्थान में मदिरा को धरी देखके झट यह निश्चय कर लेना कि मदिरा आदिक मंदवस्तु का आना तो यहां कठिन और असम्भव है यह अवश्य कोई अन्य पदार्थ है। चाहे ऐसे स्थल में मदिरा का गंध अन्य पदार्थ के निश्चय में प्रतिबन्ध भी है तौ भी ज्ञान

सीमा के उल्लङ्घन ने ज्ञेय वस्तु के यथार्थ भाव को न समझने दिया. सो जो कोई ज्ञान सीमा को उल्लङ्घन न करके यथार्थ विचार करे, उस में तीव्रता होती है ॥

६ धारणा-पठन, श्रवण और दर्शनादि क्रिया से जो २ व्यवहार अनुभूत हो चुका हो उस का बुद्धि में सदा स्थित रहिना। बहुत लोगों का स्वभाव है कि बात को शीघ्र समझते और शीघ्र ही भूल जाते हैं. कई ऐसे हैं कि चिरंकाल में समझते और चिरंकाल में ही भूलते हैं. एक ऐसे हैं कि बहुत काल में सीखते और शीघ्र भूल जाते, और एक वे हैं कि शीघ्र समझते और कभी नहीं भूलते ॥ सो इस का नाम धारणा है ॥

७ स्मृति-देखे सुने और पढे हुए पद्य की जिस की बुद्धि में धारणा हो रही है जब अपेक्षा हो तुरंत विना यत्न स्फुरति हो आवे ॥

प्र०-आत्मा क्या वस्तु है कि जिसकी आप चिकित्सा करानी चाहते हो

उ०-आत्मा वह वस्तु है जिस के प्रताप से देह में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दिखाई देती है ॥ पहिचानने के लिये उसका लक्षण यह है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छे गुण उस में स्वभावक रहिते हैं। उसी का नाम जीव है। उस का अधिक वर्णन आगे उत्तर भाग में होवेगा ॥

ज्ञान शक्ति इस को कहिते हैं कि ज्ञेय पदार्थों को विना किसी दूसरे की सहायता के स्वयमेव जान लेना। प्रकाश रूप होनेसे इसी का नाम सत्वगुण है ॥ और क्रिया शक्ति इस को कहिते है कि बिना किसी दूसरे की सहायतासे आपही हिलना अथवा किसी अन्य वस्तु को हिलाना। यह क्रिया शक्ति फिर दो प्रकार की होती है ॥

एक यह कि सुख साधनों की ओर झुकना इस को इच्छा मूलक होने से रजोगुण कहिते हैं। दूसरी दुःख साधनों से पीछे हटना इस को द्वेष मूलक होने से तमोगुण कहिते हैं॥

प्र०-यदि मनुष्य देह रजोगुण और तमोगुण का रूप ही है तो यह सदा ऐसाही रहेगा फिर शोधन और चिकित्सासे क्या फल होवेगा.

उ०-चाहे कथन मात्र तो किसी शरीर में एक गुण की प्रधानता और किसी में दो और किसी में तीनों गुण की प्रधानता है परन्तु

वस्तुत: सम्पूर्ण शरीर त्रिगुणात्मक ही मानने चाहिये अर्थात् केवल एक गुण किसी में नहीं रहिता है किन्तु सब शरीरों में तीनों गुण निवास करते हैं॥ और शोधन और चिकित्सा का यह फल है कि पुरुष इन तीनों गुण को समभाव पर रक्खे किसी अंश में न्यून अधिक न होने देवे ॥

प्र०-यह तो सत्त्वादि तीनों गुण की चिकित्सा हुई आप इस को आत्मा की चिकित्सा क्यों कहिते हो ॥

उ०-गुण गुणी का नित्य सम्बन्ध है इस कारण यदि गुण के स्थान में गुणी का नाम लिया जावे तो कुछ दोष नहीं ॥ सो सत्त्वादि गुणों का आधार जो आत्मा है इस हेतु से गुण चिकित्सा का नाम आत्म चिकित्सा है और इस चिकित्सा का फल मोक्ष है ॥

प्र०-वस्तु का गुण जाने विना उस की प्राप्ति में रुचि नहीं होती, इस कारण अब मोक्ष के गुण कथन कीजिये ॥

उ०-मोक्ष शब्द का अर्थ छूटना है सो संपूर्ण दु:खों से छूट के परमानन्द पद में मग्न होने का नाम मोक्ष है॥ और यही उसका लक्षण है॥

प्र०-क्या वह परमानन्द इस देह के होते ही प्राप्त होवेगा वा देह त्याग के अनन्तर ॥

उ०-जो लोग अपने जीवन में आत्म चिकित्सा द्वारा संपूर्ण रोगों को दूर करके संवित्, सन्तोष, शौर्य्य, न्याय से संयुक्त होते हैं वे उस परमानंद पद मोक्ष को देह के होते ही प्राप्त कर लेंगे ॥

प्र०-जब लों देह में आत्मा है तब लों तो तीनों गुण में न्यूनता अधिकता और मलिनता अवश्य होती रहेगी फिर आप यह उपदेश क्यों करते हैं कि मनुष्य तीनों गुण को समभाव पर रक्खे ॥

उ०-जो विकार स्वभाव सिद्ध और सहज होता है उस का मिटना असम्भव होता है परन्तु जो विकार पीछे से किसी अन्य वस्तु के संयोग से प्राप्त हो उस को उपाय द्वारा दूर करना सम्भव है ॥ प्रकट है कि देह में जो २ भौतिक व्यतिक्रम से ज्वर शूल आदिक विकार और धन पदार्थ की न्यूनता अधिकता से सुख दु:ख होते हैं उपाय द्वारा सब दमन हो सकते हैं ॥

प्र०-यदि धन पदार्थ की न्यूनता अधिकता भी उपाय के आधीन हैं तो निर्धन पुरुष धनी और दीन पुरुष राजा क्यों नहीं हो सकता .

उ०-यद्यपि धन पदार्थादि सुख साधनों की अधिकता न्यूनता भी उपाय के आधीन तो ठीक है परन्तु हमारा प्रयोजन इस समय उसके कथन में नहीं। किन्तु हमने यह बात जताई है कि धन पदार्थ की अधिकता न्यूनता से प्राप्त हुए सुख दुःख उपाय के आधीन हैं। क्योंकि यदि धन की अधिकता न भी हो तो मनुष्य विचार और संतोष रूप उपाय से सुखी रहि सकता है और धन की अधिकता में भी विचार और संतोष के अभाव में दुःखी रहिता है। अब विचारना चाहिये कि अमृत, विष, राज्य और निर्द्धनता आदिक पदार्थों का संयोग वियोग तो सांसारिक प्रवाहमें नदी की फेन, शङ्ख, शुक्ति, नौका, आदिक वस्तु के संयोग वियोगकी नाईं सदा होताही रहिताहै परन्तु उनके संयोग वियोग जन्य सुख दुःख सदा उपाय के आधीन हैं॥

प्र०-अब यह बताइये कि पाप और पुण्य किस व्यवहार का नाम है.

उ०-आत्मा की संपूर्ण क्रिया को हम त्रिगुणात्मिक कहि चुके हैं और उन के अशुद्ध करने को तीन २ कारण पीछे बतला चुके हैं कि जिन का नाम 'अधिकता, न्यूनता और मलिनता' है। सो इन तीनों कारण में से किसी एक की ओर झुक जाने का नाम पाप और बुद्धि द्वारा प्रतिकार करके आत्मा के सदा समभाव पर रहिने का नाम पुण्यहै और इसी को आत्मा की चिकित्सा कहितेहैं। जैसा कि देखो अब मैं आत्माके सत्वगुणके रोग और उनका प्रतिकार सुनाताहूं:—

आत्मा के सत्त्वगुण में तीन रोग उत्पन्न होके शत्रु भाव रखते हैं। एक अज्ञान, दूसरा चांचल्य, तीसरा आलस्य॥

प्रथम अज्ञान का कि जिस की उत्पत्ति मलिन सत्त्व, अर्थात् रजोगुण तमोगुणके साथ मलिन हुए सत्त्वगुणसे है यह अर्थ है कि किसी पदार्थ के ज्ञाता न होना। सो यह अज्ञान दो प्रकार का है एक सामान्य अज्ञान, दूसरा विशेष अज्ञान॥

सामान्य अज्ञान यह है कि अपने अज्ञान को जानता हो कि मैं अज्ञानी हूं। प्रतिकार इस रोग का यह है कि सदा इस विचारमें लगा रहे कि पशु वृंद और मनुष्य में इतनाही भेद है कि वह अपने अज्ञान को नहीं जानता और मनुष्य जानता और उस की निवृत्ति का यत्न कर सकता है। सो बड़ा आश्चर्य है कि मैं मनुष्य होकर ज्ञान हीन

हूं। अब उचित है कि ज्ञान की प्राप्ति का यत्न करूं। फिर विद्या के पढ़ने और सत्संगति रूप औषधि से उस रोग की निवृत्ति हो सकती है। संयम इन दोनों औषधि के सेवन का यह है कि पढ़ने में इतना ही प्रयोजन न रक्खे कि मुझे बहुतसे ग्रंथोंका देखना और अक्षरार्थ मात्र का जाननाही आवश्यक है किन्तु पठित पक्ष की धारणा का भी स्वीकार करे। फिर सत्संगतिरूप औषधिके सेवनकी यह विधि है कि केवल बहु श्रुत होने और उत्तमों के वृथा पास बैठने को ही आवश्यक न समझे किन्तु उन की शिक्षा और आचार व्यवहारको भी ग्रहण करे। अध्ययन रूप औषधि में तो कुतर्क, दुराग्रह, वितण्डावाद, अश्रद्धा आदिक कई एक कुपथ्य त्यागके योग्य होते हैं। और सत्संगति रूप औषधि में लज्जा, भय, मान, कुसंग आदिक कुपथ्य वर्जित हैं॥

दूसरा जो विशेष अज्ञान कहा वह यह है कि चाहे महा मूर्ख और अज्ञानी भी है तौ भी अपने आपको सर्वज्ञ और महा चतुर मान के किसी को अपनेसे अधिक न जानना। ऐसा पुरुषजो किसीकी शिक्षादि ग्रहण नहीं करता इस कारण वह असाध्य रोगी कहा जाता है। चाहे इस का प्रतिकार तो असम्भवहै परन्तु तौ भी बहुतसे बुद्धिमानों ने इसको अंक विद्या का अभ्यास कराना योग्य कहा है। क्योंकि इस अभ्यास से उस को अपने में भूल और अज्ञान मानने का स्वभाव उत्पन्न हो जावेगा। फिर यदि अपने को भूला हुआ मानने लगेगा तो किसी को अपने से अधिक ज्ञाता मान के शिक्षा ग्रहण में भी श्रद्धा हो जावेगी॥

इस विशेष अज्ञान से उन्नति, स्वश्लाघा, निरंकुशता, दंभ, परनिंदा बक्रता, क्रूरता आदिक रोगों की उत्पत्ति होती है॥

उन्नति-अपने वस्त्र, भूषण, धन, सुख रूप कुलादि पदार्थों पर गर्वित हो के सब से खिंचे रहिना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि इन समस्त पदार्थों की प्राप्ति में यह विचार करे कि ये संपूर्ण पदार्थ जो क्षण भंगुर हैं फिर क्या प्रयोजन कि मैं इन का गर्व करूं॥

स्वश्लाघा-अपने मुख से अपनी बड़ाई करना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि सदा इस बिचार में प्रवृत्त रहे कि श्रोता लोग मेरी स्वकृत उपमा को सुन के मुझे तुच्छ जानेंगे। और बाचाल समझ के

मेरे सच्चे गुणों को भी झूठे समझ लेंगे। श्रेष्ठ पुरुष अपनी बड़ाई का अक्षर भूल के भी अपने मुख पर नहीं लाता। क्योंकि वह यह जानता है कि जगत् में ऐसे बहुत लोग हैं कि मनुष्य के हृदयस्थ व्यवहारको अनुमान द्वारा जान लेते हैं। सो मैं यदि किसी प्रकार से भी अपनी महिमा करूंगा तो बुद्धिमान लोग मुझे तुच्छ जान लेंगे॥

निरंकुशता—अपने ज्ञान के प्रताप से विपत्काल में भी किसी की शिक्षादि को ग्रहण न करना। ऐसे पुरुष को यदि कोई उत्तम ज्ञान भी सिखावे तो मन फेर लेता है क्योंकि वह जानता है कि मेरे सिर पर ज्ञानदाता का अंकुश खड़ा हो जावेगा। यद्यपि जानता तो है कि स्वेच्छाचार में मुझे बहुत कष्ट होते हैं तथापि किसी अन्य की शिक्षा मानने को अपनी लघुता समझता है। औषध इस रोग का यहहै कि वह शुभ ग्रन्थों वा पूर्व उत्तमों के इतिहासादि को पढने वा आरम्भ करे। क्योंकि वह प्रत्यक्ष में तो किसी की शिक्षा ग्रहण करने से अपनी छोटाई समझता है इतिहासादि के पठन श्रवण से उसे गुप्तमें शिक्षा प्राप्त होती रहेगी॥

दंभ—अपनी किंचित् सी विभूतिको छल से अधिक सूचन करना। जैसा कि कई एक पुरुष दम्भ के ही बल से संसार की दृष्टि में ज्ञानी, दानी, मानी, धनी, गुणी, पंडित, बन रहे हैं और वास्तव में कुछ भी नहीं होते। उपाय इस रोग का यहहै सदा इस बातको सामने रक्खे कि जब कोई मेरे समान का चतुर वा यथार्थ बुद्धिमान मिल के मेरे दम्भ का पड़दा उठा देवेगा तो उस दशामें मुझे अत्यन्त लज्जा उठानी पड़ेगी कि जिस का दुःख मृत्यु के तुल्य है। यद्यपि अनेक चतुर लोग अपने दंभ और छल को सारा आयु प्रकट नहीं होने देते तथापि इस नियम के अनुसार कि मिथ्या व्यवहार सदा सत्य नहीं रहिता अन्त को छल आदिक व्यवहार प्रकट हुए बिना नहीं रहिते। और प्रकट होने पर शोक का कारण होते हैं॥

परनिन्दा—पराये यशरूप आदिक अग्निमें दग्ध हो के उसके समान यशस्वी होने को तो समर्थ न होना उलटा उसके भूषणों को दूषण लगा के अपने तुल्य उसे बनाते रहिना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि निन्दक पुरुष अधिकांश अपने आप को निंद्य समझे कि जो

दूसरे के महत्व को सहार नहीं सकता। अथवा यह विचारे कि श्लाघ्य पुरुष की श्लाघा को मैं निन्दा द्वारा दूर तो करही नहीं सकता फिर निन्दा करके निन्दक क्यों कहिलाऊं। अथवा यह विचारे कि जिस की मैं निन्दा करताहूं वह सुन के मेरा शत्रु बन जावेगा और कई प्रकार से मेरी हानि करेगा ॥

वक्रता-किसी के सन्मुख प्रेम भाव से कभी स्थिर न होना अर्थात् सर्व संसार को तुच्छ जान के उदासीनता और कुटिलता से मिलना अपना चित्त चाहे नाना मनोरथों से ग्रस्तहो तथापि निराकांक्षी की नाईं सर्व संसार से खिंचे रहिना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि सर्व संसार को अपने अंग उपांग की नाईं परस्पर सहायक जान के सब से मेल रखे क्योंकि जीतेजी जो पुरुष को सर्व प्रकार के लोगों के साथ काम पड़ सकता है न जाने किस काल में किस के अर्थी हो ना पड़े। अथवा यह विचारे कि वक्र पुरुष के साथ जो सारा संसार वक्रही रहिता है फिर मेरे साथ कोई ऋजु कैसे रहेगा ॥

क्रूरता-आठों याम अपने अज्ञान के प्रताप से ऐसे तपे और जले रहिना कि सब कोई उसके मुखसे भय करे। प्रतिकार इस रोग का यह है कि वह पुरुष सदा इस बात को विचारे कि सर्व संसार आपस में मिलता, बैठता, आनन्द करता और परस्पर के मिलाप से अपने आवश्यक व्यवहारों में सहायता पाता है यदि मैं भी अपने दु:स्वभाव को तजके सबसे हित करूं तो कैसा लाभ उठाऊं। अथवा यह सोचे कि मैं ने किसी का अपराध नहीं किया केवल मेरे स्वभावनेही मुझे सब का शत्रुबना छोड़ाहै। फिर मेरा यह दु:स्वभाव अन्य लोगोंको तो कधी ही दु:खी करता होवेगा पहिले मैं आप ही इस के हाथ से सदा शोकित और दु:खित रहिता हूं। अथवा यह विचारे कि जैसे अन्य पुरुषों की क्रूरता मेरे मन को नहीं भाती वैसे मेरी क्रूरता किस को भाती होवेगी ॥

दूसरा जो चांचल्य नाम रोग कहा था उत्पत्ति उसकी सत्वगुणकी अधिकता से है अर्थात् जब सतुगुण अधिक होता है तब चांचल्य प्रकट होता है। चांचल्य इस का नाम है कि जो विषय मनुष्य की बुद्धि से बाहर हो उस के विचारमें प्रवृत्त होना। जैसा कि अग्नि में

उष्णता और जल में शीतलता क्यों और कैसे है। अथवा उन विषयों की विचार में लगे रहना कि जिन के जान लेनेसे भी कुछ प्रयोजन सिद्धि नहीं होता जैसा कि बकरी के उदर में मेंगन कैसे बन जाती हैं। उपाय इस रोग का यह है कि सदा इस बात को विचारता रहे कि अनेक ऐसे पदार्थ हैं कि जो कभी किसी की समझ में नहीं आ सकते ॥

इस चांचल्य से विपर्य्यय ज्ञान, दुराग्रह, अभिमति, इन तीन रोग की उत्पत्ति होती है ॥

विपर्य्ययज्ञान-बुद्धि के चांचल्य से अत्यन्त विचार करते२ ज्ञेय वस्तु के यथार्थ भाव को छोड़ के कुछ अन्यथा ही निश्चय कर लेना। जैसा कि संसार की उत्पत्ति के विषय में लोगों ने अनेक भांतिके अनुमान कर छोड़े हैं परन्तु यथार्थ बात को न पा के कोई किसी से आरम्भ मानता और कोई किसी को जगत् का कर्त्ता जानता है। कोई कर्म से उत्पत्ति कहता और कोई माया और अविद्या से मानताहै। कोई पंचभूत से कोई उनके स्वभाव से तथा कोई तीनों गुण से और कोई प्रकृति वा पुरुष से इस का आरम्भ कहता है। फिर कोई ब्रह्मा विष्णु तथा शिव शक्ति से संसार की उत्पत्ति जानता है और कोई आदम और हव्वा से इस का प्रारंभ मानता है। तात्पर्य यह कि यह सब बुद्धि का चांचल्य है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि यथार्थ अनुभव के उपयोगी प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, आदिक प्रमाणों के बिना किसी बात को सत्य न जाने ॥

प्र०-संसार की उत्पत्ति का यथार्थ भाव क्या और कैसे है॥

उ०-उस का वर्णन उत्तर भाग में होवेगा जहां तुमको परा विद्या सुनाई जावेगी। इस समय जो आत्मा की चिकित्सा होती है अतः उस का सुनाना अत्यन्त अनर्थ है ॥

दुराग्रह-बुद्धि के चांचल्यसे जो विषय निश्चित किया हो वह चाहे यथार्थ हो चाहे अयथार्थ परन्तु उसके विरुद्ध किसी बात को अंगीकार न करना। यदि कोई अधिक जाननेवाला पुरुष उसके अनुभूत विषय में युक्ति पूर्वक मिथ्यात्व भी दिखावे तो उसको ही दुराग्रहीऔर विवादी मान लेना। यह दुराग्रह दो प्रकारका होताहै एक स्वतः दूसरा परतः॥

स्वतःदुराग्रह-यह है कि जो अपने ही अज्ञान से हुआहो। जैसाकि मूर्ख लोग जो कुछ मान बैठते हैं कभी त्याग नहीं सकते ॥

प्रतःदुराग्रह-यह है कि जो किसी के वृद्ध ने वा आचार्य्य ने वा किसी मूर्ख रचित ग्रन्थने असत्य निश्चय करा छोड़ाहो। जैसाकि संसार में अनेक ऐसे मत और पंथहैं कि बालक भी उनकी भ्रष्टता और अस त्यता समझ सकता है परन्तु तन्निष्ट पुरुष को उन पर ऐसा दुराग्रह हो जाताहै कि यदि कोई उनके गृहीत पक्षमें कुछ छिद्र दिखावे तो मरने मारनेको उपस्थित हो जातेहैं। उपाय इस दुराग्रहका यहहै कि सर्वदा यथार्थ विचार को मुख्य रक्खे। और युक्ति हीन बात किसी की न मान लिया करे॥

अभिमति-अपनी बुद्धि, रूप, धन, मान के तुल्य अन्य को न समझना। इस अभिमतिसे ईर्षा, ज्वलन, इन दो रोगकी उत्पत्ति होतीहै.

ईर्षा-पराये यश, मान, धन, विद्या, ऐश्वर्य्य को देख के वा सुनके सहार न सकना। वरन जहां लों होसके उन के विनाश में यत्न करना. प्रतिकार इस का यहहै कि सदा इस बात को सोचता रहै कि विरोध की उत्पत्ति के बिना इस ईर्षा से मुझे और क्या लाभ है। लाभ तो इस बात में है कि मैं भी उस के समान बनने की चेष्टा करूं॥

ज्वलन-जब किसी को अपने से अधिक सम्पन्न देखना तो सहार न सकना और अपने चित्त में जलते रहिना। अथवा यदि कोई भूल के भी एक वचन से पुकारे वा नमस्कार न करे तो अपनी अभिमति के प्रताप से चित्तमें दग्ध होने लगना। और अपनेको सबका पूज्य समझ के संसारी जीवों का किंचित् टेढ़ापन न सहार सकना तथा जैसे बने अपना महत्व जगत् में प्रकट करना चाहना॥ प्रतिकार इसका यह है कि इस ज्वलन को अत्यन्त दुःख और उत्पात का हेतु जानके त्याग देवे। अथवा यह सोचे कि जब मैं ज्वलन को तज के सब के साथ हित करनेवाला हो जाऊंगा तो स्वभावक ही सब लोग मुझे पूज्य और श्लाघ्य समझने लग जायेंगे॥

तीसरा जो आलस्य नाम रोग कहा था उत्पति उस की सत्त्वगुण की न्यूनता से है अर्थात् जहां सत्वगुण की न्यूनता हो वहां आलस्य निवास करता है। आलस्य का यह स्वरूप है कि विचारणीय और

अवश्य जानने योग्य व्यवहारोंके विचार से भी दूर रहिना। जैसा कि वर्षा के आने से पूर्व अपने त्राण के निमित्त यत्न न करना। और कृषि कर्म वा वाणिज्य आदिक व्यवहार में उस की रक्षा करने हार विचार से उपराम रहिना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि यदिमैं अपने मन और बुद्धिको समस्त कार्यों के पूर्व विचार में प्रवृत्त न करूं तो उन के होने का क्या फल है। मनुष्यको योग्य है कि विचारने योग्य पक्ष के विचार में आलस्य न करे क्योंकि विना बिचारे कार्य का अंत फल कदाचित् समीचीन नहीं होता। और यदि कोई ज्ञात व्यवस्तु के विचार में आलस्य करे तो पश्चात्ताप रहिता है। इस आलस्य से विस्मृति, और निरुद्यमता, इन दो रोग की उत्पत्ति होती है॥

विस्मृति-देखे सुने वा पढे हुए पक्षोंको शीघ्रही भूल जाना। कारण इस का यह है कि अलस पुरुष देखे सुने व्यवहारों को पुनरावृत्ति न करने से ग्रहण किये हुए पक्षोंको भूल जाता है। अथवा वस्तु ज्ञान के समय आलस्य के प्रताप से संपूर्ण वस्तुओं में उदासीनता से मन देता है। प्रकट है कि जब लों सर्व अंश से ज्ञेय वस्तु में बुद्धि की वृत्ति न दिई जावे तब लों उस के अंग उपांग और नाम रूप तथा लक्षणादि अवयव बुद्धि पर आरूढ़ नहीं होते किंच शीघ्रही विस्मृति होजाते हैं। उपाय इस रोग का यह है कि वस्तुज्ञान के समय मन को एकाग्र करके ज्ञातव्य वस्तु के अंग उपांग को समीचीनता से गृहण करना और गृहण किये हुए पक्ष की पुनरावृत्ति में आलस्य न करना॥

निरुद्यमता-अत्यन्त सुख की इच्छा में मन को ऐसा अविकाशी रखना कि अंत को काम के नाम से ही शिथिल हो जावे। मनका स्वभाव है यदि यह कुछ दिन सुख पाता है तो उद्यम और प्रवृत्ति में नाना दोष आरोपण करके महा दीर्घ सूत्री हो जाताहै। फिर जो ऐसे कामचोरको स्वप्नमें भी कुछ कार्य करना पड़े तो जाग्रतमें थके हुए पथिक की नाईं कई दिन लों जँभाइयां लेता रहिता है। इस निरुद्यमता से जो २ व्यवहार नष्ट होतेहैं वे तो प्रत्यक्ष हीहैं परन्तु जलोदर, अर्द्धांग स्थौल्य, नैर्बल्य, आर्श, मन्दाग्नि, वातग्रन्थी, गुल्म, इत्यादि शारीरिक

रोग भी अनेक उत्पन्न हो जाते हैं। निरुद्यमी पुरुष चाहे देखनेको जीता भासता है परन्तु वस्तुतः मृतक से भी अधिक है ॥

प्र०—दीर्घ सूची शब्द का अर्थ क्या है ॥

उ०—दीर्घ सूची वह होता है कि जो आज के कार्य को कल पर छोड़े और घड़ी के काम में प्रहर लगावे। जो पुरुष आजके कामको कल पर छोड़े उस के काम आयु पर्यंत समाप्त नहीं होते। और उस का मन कार्योंकी चिंतामें प्रतिश्वास ऐसा आकर्षित और ग्रस्त रहिता है कि क्षण भी सुख से नहीं सोता। और न कभी अपने को अविकाशी देखता है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि जिस कार्य के करने से मन किंचित् भी पीछे हटना चाहे बारम्बार हठ से उसे उसी में जोड़े। अथवा यदि किसी कार्य से भय करे तो उस से भी अधिक कठिन कार्य करावे। जैसा कि यदि मन शीतल जल में हाथ धोनेसे भय करे तो वहां वस्त्रों समेत डुबकी लगा के पवनके सन्मुख खड़ा होवे। और यदि किसी पुरुषको आवश्यक कृत्य कोई न हो तो निरुद्यमता निवृत्ति के अर्थ नित्यंप्रति प्रातः काल और सन्ध्या के समय फिरने घूमने को आवश्यक समझे। यद्यपि मल्ल क्रिया, और मुद्गर भ्रमण आदिक व्यवहार भी निरुद्यमता की निवृत्ति में कारण हैं परन्तु ऐसे व्यवहारों को रजोगुण, तमोगुणके वर्द्धक होने से उत्तम पुरुषों ने ग्राह्य नहीं कहा है॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम बिरचित सत्यामृत प्रवाह पूर्व भाग आत्म चिकित्सायां सत्व गुण बर्णनं द्वितीयस्तरङ्गः ॥

———

॥ ओ३म् परम गुरवे नमः ॥

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्य पूर्वभागः ॥

अथ तृतीय तरङ्गस्यारम्भः

प्र०-अब आत्मा के रजस नाम द्वितीय गुण का व्यवहार कथन कीजिये कि जिस की समतासे सन्तोष नाम धर्म उत्पन्न होताहै और मलिनता वा न्यूनता अधिकता से रोगादि का प्रादुर्भाव होता है ॥

उ०-आत्मा में जो ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के नाम से दो शक्तियां हैं उनमें से ज्ञान शक्ति का स्वरूप तो प्रकाशहै कि जिसका नाम सत्त्वगुणहै और पूर्व कहि आये। और दूसरी जो क्रिया शक्ति है उस के दो स्वरूपहैं। एक अनुकूल पदार्थोंकी ओर झुकना कि जिस का नाम रजोगुण रक्खा गया। दूसरी प्रतिकूल पदार्थोंसे पीछे हटना कि जिस का नाम तमोगुण कहा गया। सो तमोगुण का व्यवहार तो चतुर्थ तरंग में कथन होगा पर अब रजोगुण का व्यवहार हम कथन करते हैं। रजोगुण की स्वच्छता अर्थात् सम भाव से सन्तोष उत्पन्न होता है कि जिस का अर्थ तृप्त होना और यति बननाहै। यह यति दो प्रकार का होता है। एक वह कि जो रोग, शोक, भय, व्यय, अशक्ति, आदिक के सम्बन्ध से हो। सो यह सच्चायति नहीं। दूसरा वह कि जो पूर्वोक्त सम्बन्ध के अभाव से केवल विचार द्वारा भोगों का त्याग करे सो यह सच्चायति होता है।

जहां सन्तोष रहिता है वहां दश धर्मों की स्थिति रहिती है सो सुनोः—

१ लज्जा-लोकापवाद के भय से कुकर्म में प्रवृत्त न होना ॥

२ बुभूषा-सर्व प्रकार से अपनी अच्छाई पूर्ण करने की इच्छा रखना। तात्पर्य यह कि मैं संसार की दृष्टि में किसी रीति से भी निन्द्य और अपूर्ण न गिना जाऊं ॥

प्र०-ऐसा होना तो अत्यन्त असम्भव है कि पुरुष सर्व संसार की दृष्टि में श्रेष्ठ ही गिना जावे। क्योंकि सारे संसार की बुद्धि, आचार, मत, इच्छा, प्रवृत्ति, आनन्दादि जो भिन्न२ हैं इस कारण लोग अपने से विरुद्ध आचारी को देख के यद्यपि वह श्लाघ्य भी हो तथापि निन्द्य ही समझते हैं। हां चाहे किसी २ अंश में तो बहुत लोग श्लाघ्य बन सकते हैं परन्तु सर्वथा श्लाघ्य होना मुझे दुर्घट प्रतीत होता है ॥

उ०-हां सत्य है यह बात बहुत दुर्घट है कि पुरुष सब को अच्छा ही लगे वरन दुष्ट लोग भूषण को भी दूषण रूप कहिते रहिते हैं, परंच हमारे कथन का यह तात्पर्य है कि बुभूषु पुरुष श्रेष्ट आचार और आर्य व्यवहार के उपार्जन में लगारहे निन्दक लोग शुभ मानें वा न मानें। एक बात और भी ज्ञातव्यहै कि चाहे निंदक और ईर्षालु लोग प्रत्यक्ष में तो अपनी दुःशीलता के कारण किसीके भूषण को दूषण लगा के अपना मन ठंडा कर लें, परन्तु वस्तुतः श्लघ्यों के गुण उन की बुद्धि पर भी प्रकाशित होते हैं। जैसा कि देखो निन्दक पुरुष चाहे किसी प्रतापी और तेजस्वी और क्षमालु वा व्रतशील पुरुष को अहङ्कारी, निर्घृण, नपुंसक, और हठी भी कहिता है परन्तु अंतर से उस के गुणों को जानता होता है यदि न जानता तो निंदा किस वस्तु की करता।

३ शम-उन्मार्ग प्रवृत्ति वा कामातुरता के समय मन के रोकने में समर्थ होना। परन्तु यह बात कठिन बहुत है क्योंकि उस समय में मन बुद्धि आदिक को काम के आधीन होने से कोई शिक्षा देने हार और रोकनेहार नहीं रहिता ॥

४ विवेचना-लोक एषणाके साथ मन का सदा संग्राम रहना अर्थात् यह विवेक होते रहिना कि शुभ एषणा और अशुभ एषणा कौन सी है। यह एषणा दो प्रकार की होतीहै एक शुद्धा दूसरी अशुद्धा. शुद्धा वह होती है कि जो अवश्यक पदार्थों के एकट्टा करने में क्रोध, छल, हिंसा, अधर्म, आदिक न करावे। अशुद्धा वह होती है कि जिस के

द्वारा धन कमाने के समय पूर्वोक्त क्रोधादि रचने पड़ें। सो इन दोनों से संग्राम का नाम बिवेचना है॥

५ संतुष्टि-खान, पान, बस्त्र, आभरण, यान, स्थानादि प्राप्तपदार्थों पर न्यून अधिक की कल्पना को छोड़ के सदा संतुष्ट रहिना॥

६ गौरव-तुच्छ २ कार्यों की सिद्धि के निमित्त अपने उचित जाति कुल, मान, प्रतिष्ठा, को भंग करके शीघ्र ही किसी दूसरे के सन्मुख दीन और याचक न ही जाना॥

७ आर्ज्जव-सर्वदा काल मन को जगत् के भले में ऋजु रखना। ऐसे पुरुष से स्वप्न में भी मंद कर्म नहींहो सकते क्योंकि मंद कर्मों का करना जगत् पर अपकार है॥

८ प्रबन्ध-समस्त आचार व्यवहार को ऐसी क्रम से रखना कि कभी उलटे पुलटे और अशुभ तथा अयुक्त न हों। तात्पर्य यह है कि जो बावहार और जो वस्तु जहां और जिस प्रकारसे शोभन हो उसी भांति से रखना। क्योंकि स्थान भ्रष्ट और क्रम बिरुद्ध कार्य एक तो कभी शोभन नहीं होते और दूसरा अयुक्त वा क्रम बिरुद्ध आचार बावहार को देख के पुरुष की अंतरीय ऋजुता और कुटिलता प्रकट होजाती है। जैसा कि देखो जो पुरुष अंतर से ऋजु और स्वच्छ होता है उस के बाह्य आचार बावहार भी सीधे और स्वच्छ होतेहैं। और जो अंतर से कुटिल हो उस के बाह्य आचार टेढे और शिथिल होते हैं। बाह्य प्रवृत्ति को सदा अंतर की अनुसारिणी जानना चाहिये। जैसा कि देखो यौबन काल में मन को टेढा, तिरछा होने से बाह्य शृङ्गार भी अर्थात् वस्त्र, भूषण, कच, आदिक अति टेढे होते हैं। और वृद्धावस्था में मन को सरल और शिथिल होने के कारण बाह्य आचार भी ढीले और सरल हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि कपटी और दंभी पुरुष को बिना अन्य सर्व संसार की बाह्य प्रवृत्ति अंतर की अनुसारिणी होती है। सो जहां प्रबन्ध होता है वहां सब कुछ शुभ और संमत होताहै॥

९ औदार्य्य-प्राप्त पदार्थों के ब्यय और भोग में संकोच न करना। बहुत लोग हैं कि जो पदार्थ प्राप्ति के मुख्य उद्देश भोगादि को न ग्रहण करके सदा उपार्जन और रक्षा में ही नियुक्त रहिते हैं। वे यह नहीं जानते कि देह पात के पीछे संचित पदार्थ सब पराये हो जायें

गे। और मुझे उपार्जन और रक्षारूप आयास के विना और कुछ प्राप्त नहीं होवेगा। वह औदार्य्य दो भांति का होता है। एक अश्रेष्ट दूसरा श्रेष्ट:—

अश्रेष्ट-पदार्थ को अनुचित विषयानंद की प्राप्ति में व्यय करना। जैसा कि डूम, भांड़, नट, वेश्या, स्वांगी, बहुरूपी, वा प्रशंसक को देना। अथवा निंदक को निंदा के भय से देना इत्यादि। यद्यपि ऐसे स्थलोंमें व्यय करना मनोरंजन रूप होनेसे वृथा तो नहीं गिना जाता तथापि अत्यन्त रजोगुणका वर्द्धक होनेसे उत्तमोंकोग्राह्य नहींहोता॥

श्रेष्ट-जिस से आठ स्थान में द्रव्य को व्यय होवे॥

१ दान-दानके अधिकारी तथा दीन पुरुषोंपर द्रवीभूत हो के यथा शक्ति अन्न, वस्त्र, धन, आदिक से सहायता करना। यद्यपि दान में देश, काल, पात्र, आदिक का विचार भी कभी २ आवश्यक होता है परन्तु यथार्थ दाता ऐसे पक्ष में विचार और विलम्ब को योग्य नहीं समझता। मन का स्वभाव है कि एक क्षणमें अनेक संकल्प उदयकर लेता है सो योग्य है कि जब दान की बुद्धि उदयहो तुरन्त दान करे। यह दान दो प्रकार का होता है एक उत्तम। दूसरा अनुत्तम:—

उत्तम दान-दीन को देख के दयालुता से प्रदान करना॥

अनुत्तम दान-मान वा आख्यातिके निमित्त वा किसी दूसरेदाता को जीतनेके लिये दान किया जावे। अथवा किसी पूर्वपरिचित पुरुष को वा उपकारी को दिया जावे॥

दान केवल धन मात्र से ही नहीं होता वरन विद्या दान, मान-दान, निर्भयता दान, आदिक और भी अनेक दान करने श्रेष्ट हैं:—

विद्या दान-यदि कोई जगत् हितैषी विद्या अपनेको प्राप्त हो तो उस के प्रदान से संकोच न करना॥

मान दान-आप निर्माण हो के भी दूसरों के मान को आवश्यक समझना॥

निर्भयता दान-जो पुरुष तुम से वा किसी अन्य से अथवा परलोक दण्ड से डरा हुआ हो उसे येन, केन, प्रकारसे निर्भय कर देना। यदि तुम से किसी अपने कृत अपराध के कारण भय भीत हो तो अपराध क्षमासे निर्भय करना। औरयदि किसी अन्यसे है तो उचित

सहायता से, और यदि परलोक से डरा हुआ हो तो सत् उपदेश आदिक से निर्भय करना योग्य है। अथवा डरा हुआ वही होता है कि जो अपराधी हो सो चाहिये कि बुद्धिमान सर्व जगत् को अपराध से रोकता रहे। यही पूर्ण निर्भयता का दान कहिलाता है॥

२ शुश्रूषा-अपने सम्बन्धी और समीपी और अधिकारियों के भरण पोषणमें द्रव्य का व्यय करना। सम्बन्धी जैसाकि माता,पिता,स्त्री,पुत्र, भ्राता, भगिनी आदिक प्रसिद्ध हैं। और समीपी मित्र पडोसी आदिक का नाम है। अधिकारी उन का नाम है कि जो पूज्य वर्ग में से हों, जैसे सद्गुरु, साधु, अभ्यागत, आचार्य्य आदिक प्रसिद्ध हैं॥

३ सुकृति-पदार्थोंको धर्मके अर्थ व्यय करना। जैसाकि धर्म वृद्धिके लिये पाठशाला वा उपदेशकों को स्थापित करना तथा धर्मकी उन्नति में उत्साह करना। अथवा धर्मार्थ कूप, तड़ाग,वापी,पथिगृह, वाटिका आदिक का बनाना। अथवा जगत् की सहायता के निमित्त सदाव्रत वा वैद्यों को स्थापन करना। और शुभ उत्साह में उद्यम करना॥

४ उत्सव-स्थान बनाने और विवाहादि मंगल कार्योंमें जो गृहस्थ को आवश्यक हैं द्रव्य व्यय करने में अत्यन्त संकोच न करना॥

५ आतिथ्य-अपने गृह में आये हुए पुरुष को कादाचित्क समझके उस के अधिकार पूर्वक सेवन पूजन में द्रव्य व्यय करना॥

६ प्रत्युपकार-यदि किसी ने अपने साथ कुछ उपकार किया हुआ हो तो उसकी कृतज्ञतामें जीवन पर्यंत अपने धन पदार्थ द्वारा पलटा देने को उपस्थित रहिना। प्रत्युपकारी पुरुष जब लों पलटा न दे ले तब लों ऋणी की नाईं अपने उपकारीके सन्मुख लज्जित रहिताहै॥

७ आल्हाद-किसीके अमोल गुण विद्या वा आश्चर्य कर्म और यथार्थ सेवादि को देख के यदि मन को आह्लाद होवे तो उस समय कुछ दान देना। जो पुरुष रीझके समय कुछ दान न करे उसका रीझना उपहास्य के योग्य है॥

८ त्याग-जिन पदार्थों की प्राप्ति में अधिक क्लेश और विवाद और अनवकाश और लोकापवाद हो उन के त्याग देने में शक्त होना। वहुत लोग हैं जो गृहीत पदार्थों में ऐसे अनुरागी हो जाते हैं कि, चाहे उन से मृत्यु पर्यंत सुख नहीं देखते तथापि त्याग नहीं सकते। सो औदार्य उसीका नामहै कि जो इन अष्ट स्थानमें वर्त्तमान होवे॥

१० संतोष के दश धर्मों में दशवां धर्म स्नान है। स्नान शुद्ध और पवित्र होने का नाम है। यह स्नान दो प्रकार का होता है, एक बाह्यस्नान। दूसरा अंतरस्नान। सो बाह्यस्नान तो चाहे कैसाही सांगो पांग और पूर्ण रीतिसे कियाहो उसको अंतर स्नान की अपेक्षा रहिती है परन्तु यदि अंतर स्नान सांगोपांग कर लिया हो तो बाह्य स्नान की कुछ अत्यन्त आवश्यकता नहीं रहिती ॥

बाह्य-स्नान इसका नामहै कि अपने देह गेहको जल और मृत्तिका आदि से धौत और शुद्ध रखना क्योंकि यदि देह गेह मलिन रहिते हैं तो अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। तथा देह गेह की निर्मलता किसी २ अंश में बुद्धि की निर्मलता में भी कारण है ॥

अंतर स्नान-यह होता है कि जितने शरीर हैं सब काया, वाणी, मन, इन तीन अंग से समन्वित हैं सो इन तीनों अंगको निर्मल और निर्दोष करने का नाम अंतर स्नान है ॥

प्र०-काया का मल और वाणी तथा मन का मल क्या होताहै ॥

उ०-कायामें तीन दोष मल रूपहैं अर्थात् चोरी, व्यभिचार, हिंसा ॥

वाणी-में तीन दोष ये हैं। निंदा, गालि, मिथ्यालाप ॥

मन-में चार दोष हैं। क्रोध, ईर्षा, मान, छल ॥

जब लों पुरुष इन दश दोष से रहित न हो तब लों वाह्यस्नानादि कर्म उस के सब विडंबन रूप हैं। आश्चर्यहै कि लोग उन तुच्छ बातों के विचार और निर्द्धार में तो तन, मन से लगे रहिते हैं कि जिन की यथार्थ प्राप्ति के अनन्तर भी मोक्षांश में कुछ विशेष लाभ नहीं। और उन आवश्यक कृत्योंको कभी भी नहींसोचते कि जिनका अधिक करके मुक्ति में उपयोग है। देखो जगत्में इन तुच्छ बातोंका कितना विचार है जैसा कि दंत धावन सात अंगुल से न्यून अधिक ग्रहण करने योग्य नहीं। कांस पात्र में खाना वर्जितहै। स्नान पूर्व की ओर मुख करके करना योग्य है। पात्र में पात्र रख के खाना अयोग्य है. कीकरीकी छाया अशुद्ध और मसूर का अन्न अभक्ष्यहै इत्यादि गौण वाक्यों के स्थापकों ने यह न सोचा कि यदि हम मोक्षके मुख्यसाधन दया, धर्म, धैर्य सन्तोष आदिक के ग्रहण करने में और चोरी निन्दा क्रोध, छल आदिक के त्याग में अधिक प्रेरणा करें तो कितना लाभ

होवेगा। ऐसे लोग जगत् में से बहुत निकलेंगे कि जो दिशा जा के हाथ पाऊं में गिन २ माटी न लगाने और गिन २ चुल्लू न गिरानेको और छींक पर चल पड़ने को पाप बतलाते हैं परन्तु वैसे बहुत थोड़े और दुर्लभ हैं जो दश दोषवाले पुरुषको पापी जान के उसकी छाया से बचें। अथवा इन की निवृत्ति का यत्न करें। बहुत से पंथ और मत भी ऐसे ही हैं जो साधु बनने के मुख्य प्रयोजन अंतःकरण की शुद्धि को तो स्वप्न में भी नहीं सीखते परन्तु बाह्य चिन्हों के सुधारने और सीखने में सारा आयु समाप्त कर लेते हैं। जैसा कि वे लोग कहिते हैं कि हम सन्यासियों को श्वेत वस्त्र धारन का दोष है। और हम अमुक मठ के संन्यासी हैं। और अमुक हमारी मढी वा अमुक धूनी तथा अमुक गोत्र और अमुक हमारा द्वाराहै। हम को जटा ऐसी और कमण्डलु ऐसा तथा माला ऐसी रखने की आज्ञा है। और इन से विरुद्ध वर्तने में पाप है। इसी प्रकार योगी बिरागी आदिक सब भेषी लोग जटा, विभूति, माला, टीका, वस्त्र, धूनी आदिककी रीति और टंतीन, झोली आदिक के मन्त्र सीखने में उरझे रहिते हैं। शोक की बात है कि वे यह नहीं जानते कि हमारे आचार्यों ने तो हमको अप ने स्वार्थ और अपनी मण्डली बढाने के निमित्त और ही झगड़ों में डाल दिया फिर गृहस्थ त्याग से हम को क्या लाभ हुआ। सच तो यह है कि जबलों पूर्वोक्त दश दोषकी निवृत्ति और आत्माकी चिकि त्सा नहीं होती तब लों कोई पुरुष बाह्य चिन्हों से मोक्ष का अधि कारी और श्लाघ्य नहीं हो सकता। जिस को दश दोष की निवृत्ति से मन की शुद्धि प्राप्त हुई उस को सर्वत्र तीर्थ है। शुद्ध मन पुरुष यदि वेश्या के घर में भी मृत्यु पावे तो मुक्त है और अशुद्ध मन को कहीं भी मोक्ष नहीं॥

प्र०—यदि मोक्ष के मिलने में केवल मन की शुद्धि ही कारणहै तो अन्य उपाय और साधन अर्थात् भिन्न२ मत और चिन्ह और वेष तथा नाना विधि के प्रकार क्यों स्थापित किये हैं और उन को सुन के मुमुक्षु पुरुष को कौन सा मार्ग गृहण करना चाहिये॥

उ०—यह कई भांति के मत कुछ आकाश से नहीं उतरे किन्तु म- नुष्यों ने रचे हैं। और जाना जाताहै कि वे मनुष्य सब भिन्न२ इच्छा

बुद्धि और स्वभाव रखते थे। यदि उन सब का आशय एक होता तो उन के उपदेश में भेद न होता। वे तो सब एक दूसरे के विरोधी होके केवल अपने ही मत को सत्य ठहराते हैं। कारण इस का यह है कि जिस किसी पुरुष के पीछे दश मनुष्य किसी हेतु से चलने लग जाते हैं वह धीरे २ आचार्य थप के अपनी मण्डली को नवीन मत और आचार वा चिह्न आदिक उपदेश करने लग जाता है। जैसा देखो व्यास ने जो वेदांत में अभेद मत को चलाया तो गौत्तम ने न्याय में उस से विरुद्ध भेद मत को सुनाया। फिर साङ्ख्य और मीमांसा के कर्ता कुछ और ही सुनाते हैं पातञ्जल और वैशेषिक के वक्ता उन से भी भिन्न ही जाते हैं। कोई मत किसी दूसरे का समीपी नहीं, देखो मनु ने लोगों के शिखा सूत्र रखाये। शङ्कराचार्य्य ने वे दोनों दूर कर के अपने ही चिन्ह दृढ़ाये। रामानुज कुछ और ही कहिते हैं, जैन और बुध के लोग इन सब से अलग रहिते हैं। फिर यवनों का कुछ और ही भेद है तात्पर्य यह कि सब का भिन्न २ वेद है। इत्यादि समस्त आचार्यों ने जिस को पाया अपने ही पीछे चलाया। हे प्रिय! बाह्य चिह्न जो मनुष्यों के रचे हुए हैं इसी कारण एक के चिन्ह दूसरे के साथ नहीं मिलते ॥

देखो कई लोग अविचार के प्रतापसे ऐसी भ्रष्ट मंडलियोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं कि जिन में मदिरा, मांस, मिथ्या, मैथुन, मुद्रा ये पंच मकार मनकी शुद्धिमें कारण और एकांत स्थलमें नग्न स्त्री का शक्ति रूप जान के पूजन करना अंगीकार है। अहो उन का महत्त्व कि वे यह नहीं विचारते कि अंत:करण तो स्वभावत:ही नाना विषयों और विकारों से भरा हुआ है फिर जब एकांतमें नग्न स्त्री और मद्य मांस आदि की प्राप्ति हो तो मन की शुद्धि का क्या ठिकाना है ॥

मनुष्य को चाहिये कि मंडली में मिलने से पूर्व मंडली स्थापक आचार्य की परीक्षा करे। जैसा कि यदि आचार्य आत्म चिकित्सा से विभूषित और ज्ञान संपन्न हो तो उसकी शरण लेके बाह्य चिन्ह के ग्रहण करने का भी दोष नहीं। क्योंकि ज्ञान वान् के बताये हुए बाह्य चिन्ह भी मोक्ष के उपयोगी होते हैं। यद्यपि बाह्य चिन्ह और मर्यादा समस्त आचार्यों की भिन्न २ है और एक का मत दूसरे

मत के पुरुषको अंगीकार नहीं तथापि जो सच्चा मतहै उसमें किसी को बैर नहीं। बरन मोक्ष साधनोंमें सबको संमतहै। वह यहहै कि:—

पापी को अवश्य दण्ड होवेगा।
पुण्यात्मा लोग सुख पायेंगे।

सो बस योग्य है कि मुमुक्षु इस मत को अवश्य ग्रहण करे॥

प्र०–मन की शुद्धि के लिये धर्मशास्त्रों में जो नाना क्रियां और मन्त्रादि लिखे हैं उन के विना आप आत्म चिकित्सा द्वारा मन की शुद्धि क्यों बतलाते हो॥

उ०–जैसे उदर शूल की निवृत्ति के लिये चाहे अनेक औषध लिखे हैं परन्तु रेचन विधि को शूल का मूल निवारक होने से सब पर प्रधानता है वैसे ही आत्म चिकित्सा को अशुद्धि का मूल निवारक होने से शुद्धिमें प्रधान हेतुताहै॥ जो सच पूछोतो धर्मशास्त्र सबके हृदय में लिखा हुआ है कि जिस के द्वारा पुरुष योग्य अयोग्य व्यवहारों को अपने आप जान सकता है। जैसा कि सब कोई जानता है कि यदि मैं पाप कर्म करूं तो परम अधर्मी और शुभ कर्म करूं तो परम धर्मी होजाऊंगा। और सब कोई अपने हृदय से यह भी जान सकताहै कि यह कर्म पाप रूप और यह धर्म रूप है॥ जैसो कि उत्तर भाग में यह बात बिस्तार सहित लिखी है॥

प्र०–यद्यपि यह जीव धर्म अधर्म को तो अपने हृदय से ही जान लेता है तथापि धर्म में प्रवृत्त और अधर्म से निवृत्त नहीं हो सकता इस में कौन कारण है॥

उ०–प्रवृत्ति के न होने में कारण यहहै कि जिस व्यवहारमें प्रवृत्ति होना हो उस के फल का यथार्थ ज्ञान न होना। और निवृत्ति के न होनेमें भी यही कारणहै कि त्याज्यबस्तुके दोषको यथार्थ न जानना। जैसा कि यद्यपि सर्व संसार साधारण रूप से इस बात को जानता है कि बिद्या के अध्ययन में बहुत लाभहै परन्तु अध्ययन में प्रवृत्ति उसी की होती है कि जिस को लाभ का बिशेष और यथार्थ ज्ञान होवे। और चोरी के दोष को साधारण रूप से चाहे सारा जगत् जानता है परन्तु निवृत्ति वही होता है कि जिस को राजाकी ताड़ना और प्रजा

की निंदा का यथार्थ ज्ञान होवे। बहुत से चोर समझतेहैं कि यद्यपि यह कर्म मन्द तो है परन्तु न जाने हम को कोई देखेगा वा नहीं। इत्यादि कारण प्रवृत्ति निवृत्ति में अनेक होते हैं॥

प्र०-जैसे पीछे सत्त्वगुणकी मलिन दशा और अधिकता न्यूनता से रोग और उन के प्रतिकार सुनायेथे यदि योग्य हो तो अब इस रजो गुण के भी सुनाइये॥

उ०-इस रजोगुणके संगभी तीन रोग शत्रुता रखतेहैं। एक मनो-राज्य, दूसरा काम, तीसरा कार्पण्य कि जिस को कृपणता कहितेहैं॥

मनोराज्य कि जिस की उत्पत्ति मलिन रजोगुणसे है इसका नाम है कि आठो पहिर मन में वृथा संकल्पों का उठते रहिना। जैसा कि यदि हमारे पास धन हो तो यहां सुंदर उपवन लगाके बीचमें विहार स्थान बनवाऊं। और चारों ओर सुंदर कूल बहिती हों और हंस, कारंड, तीतर, मोर की कल धुनि निकलती हो इत्यादि॥ उपाय इस रोग का यह है कि मनोराज्य को फल शून्य और अंत को शोक और उदासी का भरा हुआ समझ के निःसंकल्प रहे। इस मनोराज्य से कुवासना नाम रोगकी उत्पत्ति होतीहै। कुवासना इसको कहिते हैं कि अपने उद्यम और पुरुषार्थ से तो धन आदिक एकट्ठे करनेका यत्न न करना परन्तु अन्य धनवानों और सुखियों को देख के बैठे ही इच्छा रूप अग्नि में दग्ध होते रहिना। जैसा कि पैदल पुरुष अश्वा-रूढ को देख के अश्वारूढ हस्ती वाहको देखके और वह हस्ती शिवि-कारूढ को देख के आकांक्षा करता है। प्रतिकार इस रोग का यहहै कि ऐसा पुरुष अपने से न्यून सुखी को देखा करे। जैसा कि हस्ती वाह, शिविकारूढ से दृष्टि उठाके यह कहे कि मैं अश्वारूढसे अच्छा हूं और अश्वारूढ को चाहिये कि पैदल से अपने को सुखी माने। और पैदल भार-वाह को देख के तथा भार वाह लँगडे को देख के अपने सुख को अधिक जाने॥

अब जो दूसरा काम नाम रोग कहा था उत्पत्ति उस की रजो-गुण की अधिकता से और अर्थ उस का यह है कि भोगों से कभी भी तृप्त न होना। सो यह काम दो प्रकार का होताहै एक अचक, दूसरा परचक॥

अचक काम यह है कि यहां संसार में इन्द्रियों के भोग और खान पान तथा भूषण वस्त्र आदिक से कभी तृप्त न होना। उपाय इस रोग का यह है कि इस बात को सोचे कि अचक काम से मुझे दरिद्रता और नाना व्याधि, और दुर्भाग्यता, लोक अपवाद, तथा चिंता प्राप्त होवेगी। इस अचक काम से आसक्ति नाम रोग उत्पन्न होता है कि जिस का अर्थ भोगों के प्रेममें अत्यन्त सम्बद्ध हो जानाहै। यह आसक्ति दो प्रकार की है॥

एक यह कि बहुत लोग धन आदिकों में ऐसे संबद्ध हैं कि एक कपर्दिका भी व्यय नहीं कर सकते। उपाय इस का यहहै कि प्राणी सोचे कि मरने के पीछे सब कुछ धराही रहि जावेगा। इत्यादि.

दूसरी यह कि बहुत लोग किसी स्त्री अथवा बालक की सुंदरता में मन को सम्बद्ध करके अनेक उपताप सहारते हैं। यह एक ऐसा दुर्व्यसन है कि प्रथम तो कुछ काल पुरुष को अपने प्रिय के दर्शन आदि से कुछ सुख होता है फिर बिना दुःखके और कुछ लाभ नहीं होता। क्योंकि क्षण २ यही भ्रम रहिता है कि यह मेरा मित्र किसी अन्य के मोह में खिंचा न रहिताहो। अथवा मेरे प्रेमसे हटा के कोई अन्य पुरुष इस को अपनी झोली में न डाल ले। कभी २ उस के तन मन और बोल चाल में ऐसी बृथा भ्रांतीयां उठने लग जाती हैं कि किसी दूसरे को स्वप्नमें भी नहीं उठतीं। कधी २ सम्बद्ध पुरुष अपने मित्र से संतप्त होके यह नियम भी कर लेताहै कि अब मैं मृत्यु पर्यंत इस को दर्शन नहीं करूंगा परन्तु फिर शीघ्र ही अपने नियम को तोड़के मित्र के सन्मुख दीन होने लगता है। यदि सम्बद्ध पुरुष के औगुन लिखने लगें तो और कुछ लिखनेको स्थान न मिले परन्तुउन में से सात औगुन कि जो अत्यन्त भारी हैं प्रकट किये जाते हैं:—

१ सम्बद्ध पुरुष को प्रिय के चिंतन से बिना अन्य किसी कार्य का अवकाश नहीं रहिता॥

२ वह सर्वदा काल चिंता भय शोक में पीड़ित रहिता है॥

३ उस का आयु आम घाट के जल के नाईं देखतेही बृथा नष्टहो जाता है। अपने प्रिय की योग, वियोग में यह सुध नहीं रहिती कि

दिन कब उदय हुआ और रात्रि कब हो गई और मैं ने आज क्या काम बनायो ॥

४ वह सारे संसार को इस हेतु से अपना शत्रु समझने लगजाता है कि सब कोई मेरे प्रिय को ताकता है ॥

५ वह व्यर्थ भ्रांतियां उठाके श्वासर चिन्ताग्निमें दग्ध होता और उन की निवृत्ति का कुछ उपाय नहीं कर सकता ॥

६ सम्बद्ध पुरुष अपने प्रिय से विना किसी तृतीय पुरुष की समीपता नहीं चाहता किन्तु सब को विषवत् जानता है ॥

७ सम्बद्ध पुरुष अष्ट प्रहर क्षीव और उन्मत्तों की नाईं चुप चाप और उदासीन और विमन रहिता है जब कोई बुलावे मानो कूप से निकल के उत्तर देता है । योग्य है कि प्राणी इस दुःख से सदा बचता रहे ॥

यद्यपि इस रोग की चिकित्सा तो बहुत कठिन है परन्तु इस रोगी को अपने मित्र तथा उस के मिलाप जन्य सुख में सदा दोष ढूंढते रहिना चाहिये । अथवा हठ करके तुरन्त इस रोगीको उस देश में ले जावे कि जहां प्रिय का दर्शन और सन्देश न पहुंचे। यद्यपि अदर्शन से कुछ काल तो उस के मन में बहुत सा उपताप रहेगा परन्तु अंत को अवश्य धैर्य और शांति हो जावेगी ॥

दूसरा जो परचक काम पीछे कहा था वह यह है कि अवस्य किये हुए पर लोक की झूठी कामना और पवित्रता के निमित्त सर्वदा काल अपने को व्रती और हठी विवाहारहित एकाकी और सर्व प्रकार के आवश्यक आनन्द से अत्यन्त वर्जित रखना ॥

प्र०—बिरागी और तपस्वी लोग तो भोगों के अत्यन्त त्याग को मोक्ष का कारण कहिते हैं । और आपने आवश्यक भोगों का न त्यागना कथन किया इस में मुझे बड़ा सन्देह हो गया है कि मनुष्य को किस बात पर विश्वास करना चाहिये ॥

उ०—भोगों की अत्यन्त कामना तो हम भी श्रेष्ट नहीं कहिते कि, जिस का नाम आसक्ति है परंतु आवश्यक आनन्द का त्याग हम अच्छा नहीं समझते । जैसा कि विवाहादि की अत्यन्त त्याग में हम अनेक दोष देखतेहैं । प्रथम तो यह बात अत्यन्त असम्भव है कि कोई

मनुष्य मूत्रपुरीष के विसर्ग की नाईं वीर्य्य के विसर्गको आवश्यक न समझे। द्वितीय यदि कोई काल हठ से रोके भी तो येन केन प्रकार से यह तन मन को मथन करके अपने आपही बाहर हो जाता है। अथवा जबलों देहमें स्थितरहै तबलों दुःसंकल्प और कुभावना, दुश्चिन्तन और असद्वृत्ति आदिक नाना बिकारों और रोगोंको उदय कर्ता रहिता है। हम यह अनुमान करतेहैं कि कोई खानी, पानी जीव वीर्य्य के रोकने में समर्थ नहीं। जो लोग आयु पर्यंत यतित्वके अभिमानी हो रहिते हैं यदि वे नेत्र मूंद के हमारे इस लेख को सच्चे मन से बिचारेंगे अथवा अपने मानसिक कुकर्मों को गिनेंगे तो अवश्य लज्जित हो जायेंगे। सो फिर यदि देह में ऐसे कोई एक भोग अत्यन्त आवश्यक हैं तो उन के अत्यन्त त्याग में कौन सा अधिक पुण्य है। उपाय इस रोग का यह है कि यदि परत्र सुख की कामना होवे तो पराविद्या का उपदेश सुने और भोगोंकी अधिक प्रवृत्ति का त्याग करे। और जिस पदार्थ के बिना शरीर यात्रा दुर्घट हो संयम पूर्वक उस के ग्रहण करलेनेमें दोष न समझे। जैसा कि शीत,उष्णके दलिन को उचित वस्त्र तथा क्षुधा, पिपासा के समय अन्न, जल को ग्रहण कर लेना आवश्यक हैं। बहुत ऐसे पुरुषहैं कि जिन्होंने हठके प्रताप से शरीर को सुकाया। और खान, पान आच्छादन के संयम से मनुष्य देह को धूलि में मिलाया। और तुच्छ २ बातों से मन को रोकते २ किसी काम का न रहिने दिया। हां यह तो योग्य है कि बहुत से सरस और स्निग्ध वस्तुओं के खाने पीने से जो मन पुष्ट हो के अत्यन्त विषयालंबी और उन्मार्ग गामी बनने लगताहै इस हेतु से खान पान में भी कुछ संयम करना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं कि उस में अत्यन्त संकोच हो जावे। मन का स्वभाव है कि जब इस को बहुत से भोग और आनन्द मिलते हैं तो फिर उन से हटके अन्य व्यवहार का अवकाश नहीं पाता। बहुत लोग हैं जो प्रथम तो इस नियम से भोग में प्रवृत्त होते हैं कि किंचित् रस देख के शीघ्रही पीछे हट आवेंगे परंतु फिर उन का मन उधर ऐसा आसक्त हो जाता है कि पीछे की कुछ सुध भी नहीं रहिती। देखागया है कि भोग और कुसंग में तो शीघ्र फल प्राप्त हो जाने के कारण मन की वृत्ति शीघ्र ही उरझ जाती है

और संयम सन्तोषादि वा सत्संग की ओर शनैः शनैः आती है। इसी कारण उत्तमोंने कुसंग का बहुत त्याग लिखाहै। प्रकटहै कि जितना शीघ्र प्राणी को कुसंग का फल होता है उतना सत्सङ्ग का नहींहोता. कुसंग से मन्द संकल्प मन में भर जाते हैं और फिर मन संकल्पों में भर के देह को प्रविष्ट कर देता है फिर प्रविष्ट देह का पीछे हटना अत्यन्त दुर्घट और कठिन हो जाता है। मुमुक्षु को चाहिये कि इन दोनों भांति के काम को मन में न आने देवे क्योंकि काम के प्रताप से कभी २ प्राणी के मन में कुवृत्ति और उत्कर्ष नाम दो रोगकी उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् अचक कामसे कुवृत्ति और परचकसे उत्कर्ष उत्पन्न होता है ॥

कुवृत्ति–लज्जा हीन कर्मों से धनादि का संचय करना जैसा कि, भिक्षा आदिक व्यवहार प्रसिद्ध हैं। यद्यपि बहुत से विरक्त जनों ने सुगम रूप होने से भिक्षावृत्ति को श्रेष्ट तो लिखा है तथापि इस में कई एक दोष प्रतीत होतेहैं। प्रथम दोष यह कि सम्पूर्ण अंग, उपांग से सम्पन्न होते जो कोई भीख मांगे वह संसार की दृष्टिमें तुच्छ और पतित गिना जाता है। द्वितीय भिक्षु पुरुष के मिलापसे सब का मन डरता रहिता है कि कुछ मांग न बैठे। तृतीय जिस को भिक्षा का रस पड़ जावे उस से मृत्यु पर्यंत कोई अन्य आजीविका नहीं होसकती। किंच अपने हस्त पाद आदिक को मृतक की नाईं व्यर्थ बना के सदा अन्य पुरुषों के हाथों की ओर देख २ जँभाइयां लेता रहिताहै. चतुर्थ भिक्षाहारी पुरुषकी सन्तान भी भिक्षावृत्ति को ही अच्छाजान ने लग जाती है। तात्पर्य यह है कि उस अकिंचिन साधु के बिना कि जो केवल देह स्थिति को चाहता और उस के लिये केवल अन्न वस्त्र मात्र की कामना रख के अन्य उद्यम नहीं करता जहां लों हो सके भीख मांगने का सब को दोष है। परन्तु उस अकिंचिन को भी उचित है कि अन्न वस्त्र उसी का ले जिस को कुछ भली शिक्षाकरे ॥

इसी भांति जो लोग उपहास, ठट्टा, स्वांग, भांड़पन, आदिक के आश्रय आजीवन चलाते हैं वे सर्वदा निन्द्य और नीच गिने जाते हैं क्योंकि उत्तमों ने नौ प्रकार से पेट पालनको बहुत निंद्य और कुवृत्ति रूप माना है ॥

१ भीख मागने से, २ नट विद्या से, ३ न्हतिकारी से, ४ भांड़-पन से, ५ कुटिनीपन से (जो पर स्त्रियोंको पर पुरुषोंके साथ मिला ती हैं), ६ वेश्यापन से, ७ छल से (यह छल कई प्रकार का होता है परन्तु सर्व प्रकार का निन्द्यही है), ८ द्यूत विद्या से (अर्थात् जुआ खेलने से), ९ चोरी से॥

चोरी दो भाँति की होती है एक तन से दूसरी मन से। तन से चोरी यह है कि पर पदार्थों को गुप्त में हर लेना। मन से चोरी यह है कि मिथ्यालाप द्वारा धनी के मनको भय वा लालच दे के उसको हाथों उस का पदार्थ समक्ष ही हर लेना॥

प्र०-जहां कोई देखताहो वहांतो राजभय और प्रजाभय वा निंदादि के भय से चोरी आदिक न करे परन्तु जहां यह निश्चय हो कि यहां देखता सुनता कोई नहीं वहां चोरी आदिक से धन हर लेने में क्या दोष है॥

उ०-धन का हरना किसी कार्य्य के निमित्त होता है। सो ज्ञानवान् पुरुष के तो ऐसा कोई कार्य्यही नहीं रहिता कि जिस के पूरा करने को चोरी वा झूठ, छल अथवा कपट, हिंसा करनी पड़े क्यों कि वह ऐसे काम करता है जो निरुपद्रव पूरे हो सकें। और जो अज्ञानी जीव बहुत कामना और कार्यों के घेरे हुए होतेहैं कि जिन को चोरी आदिक करनी पड़े उनके सिरपर परमेश्वर का भय खड़ा है कि जो उन्हें गुप्त में चोरी नहीं करने देता॥

ज्ञानवान् पुरुष को यह भी निश्चय है कि गुप्त स्थानमें चोरी करना अथवा मिथ्यालाप और छल द्वारा समक्ष ही किसी के पदार्थ को हर लेना उस पुरुष को तो दुःखी करो वा न करो परन्तु अनेक प्रकार के दुःख और अनर्थ को वह इस छल कर्ता के सिर पर ही खड़े कर देता है जैसा कि सुनो:—

चोरी वा छलादि से प्राप्त किया हुआ द्रव्य प्रथम सदा काल मन में भय और कम्प को रखता है कि मेरा अपकर्म कभी प्रकट न हो जावे॥

उसभांतिके निर्बल द्रव्य लाभसे अनेक खोटे संकल्प और भोग मन में भर जाते हैं कि जिन से सारा आयु दुःख सहित व्यतीत हो॥

जब एक बार चोरी वा छल द्वारा मुख मीठा हो गया सदा उसी कोम को अच्छा समझेगा और फिर कभी पकड़ा भी अवश्य जावेगा इत्यादि ॥

अब दूसरा जो उत्कर्ष नाम रोग कहा था अर्थ उस का यहहै कि चाहे यथार्थ शुचि प्राप्त भी हो जावे परन्तु उस को बढाने के लिये देह को मल मल के दुःखी होते रहिना। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि अत्यन्त अधिकता किसी कार्य्य की भी उचित नहीं जहांलों होसके सर्व व्यवहारोंको समभावपर रखना चाहिये। इस उत्कर्ष नाम रोग से संशय, भ्रम, सङ्कोच इन तीन रोग की उत्पत्ति होती है ॥

संशय-प्राप्त हुई शुचिमें यह सन्देह हो जाना कि न जाने मुझे यथार्थ शुचिप्राप्त हुई है वा नहीं। फिर इस सन्देहसे शुचिके यथार्थ साधनों को छोड़ के पुरुष अन्य साधनों में मन को लगाता है। जैसा कि प्रथम तो भोग और काम के संयम और निवृत्ति से शुचि समझता है फिर इस में संशय उठा के भोग और काम की प्रवृत्ति को शुचिका हेतु समझ लेता और पतित हो जाताहै। अथवा किसी महात्मा ने मन की शुद्धि के निमित्त यथार्थ स्नानका उपदेश किया तो उस में यह सन्देह हो जाना कि क्या जाने इस स्नान से मैं शुद्ध होऊंगा वा नहीं। अथवा यह जो मुझ को उपदेश करताहै आप भी पवित्र और महात्मा है वा नहीं। सो योग्य है कि इस गुरु को और इस के उपदेश को छोड के किसी अन्यकी शरण पकड़ूं। फिर वह अन्य पुरुष चाहे इस को किसी कूएं में डाल देवे। फिर कुछ दिन वहां रहि के आगे ढूंढता है। ऐसा पुरुष कभी भी अपने को पवित्र मान के सुखी नहीं होता किन्तु सर्वदा शोकितही रहिताहै। उपाय इस रोग का यह है कि आत्म चिकित्सा युक्त गुरु द्वारा यदि एक वार शुचिके साधन प्राप्त हो जायें तो कदाचित् उन में संशय न उठावे क्योंकि उस के बताये हुए साधन कभी भी तर्क के योग्य नहीं होते। संशय युक्त मन को कभी सुख नहीं होता क्योंकि सुख का साधन मन की स्थिरता है सो संशयात्मा को जो नाना संकल्प विकल्पोंसे युक्त होनेके कारण कभी स्थिरता नहींहोती इसी कारण

सदा दुःखी रहिता है। सो जहां लों हो सके प्राणी संशयकी निवृत्ति में बहुत शीघ्र यत्न करे। यदि संशय को कुछ काल स्थिति मिले तो उस के आश्रय अनेक संशय और उत्पन्न हो जाते हैं और फिर उन की निवृत्ति अत्यन्त दुर्घट हो जाती है और अंत को संशय युक्त पुरुष का बिनाश हो जाता है ॥

भ्रम-चाहे कैसा ही शुद्ध और पवित्र है परन्तु बात २ में यह भ्रम खड़ा हो जाना कि मेरा शुचि धर्म टूट तो नहीं गया। फिर इसभ्रम के प्रताप से उलट पुलट के साधन करने लग जाता है और तुच्छ २ बात में अपने को अपवित्र मान लेता है। जैसा कि बहुत लोग भोग की स्मृति और अशुद्धस्थान के दर्शन से भी मन को नाना ताड़नादेते और नेत्रों को निकालते वा मूंद लेते हैं तो भी अशुचि का भ्रम नहीं जाता उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी शुचि पद के अर्थ को भली भांति जान ले कि यथार्थ शुचि किस को कहिते हैं। बहुत लोग हैं जो इस भ्रम के प्रताप से सौ२ बार नहाते और सहस्रों बार हाथ पाउँ को माटी लगाते और श्वास २ में अशुद्ध बन जाते हैं । इसी से अंत को विक्षिप्त हो जाते हैं ॥

संकोच-अपनी शुचि को अधिक करने के लिये अन्य मनुष्यों के स्पर्श और छाया से बचने लग जाना। इस बचने के दो कारण होते हैं। एक यह कि जन समुदाय में नाना पदार्थों के देखने सुनने से मन लंपट होकर अपने शुचि पथसे पतित होजावेगा। सो यहकारण तो किसी अंश में शुचि की दृढता का उपयोगी होनेसे कभी२ ग्राह्य भी होता है परन्तु दूसरे कारण को अभिमान मूलक होने से कोई ग्राह्य नहीं कहिता। वह यह है कि मुझ से बिना जो सर्व संसार के आचार व्यवहार अशुद्ध हैं इस कारण मुझ को किसी की समीपता करनी अच्छी नहीं क्योंकि उनके स्पर्शसे मैं भी नीच होजाऊंगा। उपाय इस रोगका यह है कि प्राणी यह बिचार करे कि किसी का नीचपन किंचित् स्पर्शादिसे मुझको पतित नहीं करसकता। किंचकि विशेष संग होनेसे और उसके आचार ग्रहणकरनेसे मैं अवश्य पतित हो जाऊंगा इस संकोचसे बिद्रोह, नैर्घृण्य, पक्षपात ये तीन रोग उत्पन्न होतेहैं॥

बिद्रोह-परमत के पुरुषों को देख के ऐसे तप्त रहिना कि इन का दर्शन न हो। फिर ऐसा पुरुष जहां लों होसके पर पुरुषोंके प्राणघात

तक भी नहीं डरता है किंच सर्वदा काल इसी विचार में रहिता है कि अमुक मण्डलीके पुरुष बडे नीचहैं।क्या उपाय होवे कि वे पृथिवी से निर्मूल होजायें। उपाय इस रोगका यहहै कि प्राणी यह विचार करे कि मैं जो इन के स्वभावों को देख के प्राणघात पर्य्यंत कटि बांधता हूं इसमें मेरी शुचि का क्या ठिकाना है। उलटा वृथा वैर के कारण मैं इन से भी महानीच और अशुद्ध ठहिरता हूं॥

उत्तम-वह है कि जो शुचि रहित पुरुषोंको देख के उन के सुधार ने में यत्न करता है न कि उन के नाश में ॥

नैर्घृण्य-अपने संकोच के अभिमान से इस निमित्त कि समीपता से मैं आपही पतित न हो जाऊं शुचि रहित पुरुषों को अत्यन्त आपदाकाल में भी सहायता न देनी। जैसा कि कई लोग ऐसे निर्दय होते हैं कि जिस को वे अपनेसे भिन्न मत का समझें वह चाहे कैसा ही क्षुधातुर वा तृषार्त्त हो अपने अशुद्ध बन जाने के भय से उसे अन्न जल नहीं देते। अहो उन की शुचि कि किंचित् समीपता के भयसे एक मनुष्य देह को वृथा ही नष्ट कर देते हैं उत्तम पुरुषसे यह व्यवहार कभी नहीं हो सकता। जगत् में पुरुष तीन प्रकार के होतेहैं। उत्तम, मध्यम, और नीच॥

उत्तम-जो अपना सुख बिगोड़ के भी अन्य पुरुषों को सुखी कर देवे॥

मध्यम-अपना सुख भी न बिगाड़े और अन्य पुरुषों का सुख भी सिद्ध कर देवे॥

नीच-जो अपने सुख के निमित्त औरों का सुख बिगाड़ देवे। इस के दो भेद हैं एक नीच। दूसरा महा नीच॥

नीच तो वह है जो ऊपर कहा। महा नीच वह है जो अपना कुछ सुधरे वा न सुधरे परन्तु औरों का सुख अवश्य बिगाड़ देवे। ऐसे पुरुष को बिच्छू की नाईं महा नीचसमझ के सदा दूर रहनाचाहिये क्योंकि बिना प्रयोजन दूसरे को दुःखी करता है॥

पक्षपात-धर्म सम्बन्धी व्यवहारों में अपने को सब से उत्तम मान के अन्य मत के पुरुषों की निन्दा करना। वा अन्य मतों के विनाश में यत्न करते रहिना। उपाय इस रोग का यह है कि वह पुरुष सदा

समता की बात चीत सुनता और पढ़ता रहे। समता इस का नाम है कि समस्त जीवों के दुःख सुख को अपने समान समझे अर्थात् जैसे मैं अपने मत के निन्दक और विघातक को नहीं सहारता वैसे दूसरे को भी अवश्य उपताप आदि होते होंगे। जिसके मनमें समता बसती है उस से चोरी, हिंसा, निन्दा आदिक व्यवहार कभी नहीं हो सकते क्योंकि वह अन्य जीवोंके उपतापको अपने तुल्यही जानता है। समतावान् पुरुष का धर्म है कि धर्मतत्व के जिज्ञासु की प्रवृत्ति निवारण के लिये तो चाहे निन्द्य मतों की अशुद्धि प्रकट करे परन्तु उस मत के लोगों का मन दुःखी करने के निमित्त कभी वाणी को नहीं खोलता क्योंकि मन दुःखी करनेको वह अत्यन्त बुरा समझताहै।

सच पूछो तो परम मनुष्य धर्म इसी का नाम है कि जहां लों हो सके प्राणी अपने और पराये मनको शुभ क्रिया द्वारा सदा प्रसन्न रखे सो इस बात का प्राप्त होना आत्म चिकित्सा के उपाय बिना अति दुर्घट है। यद्यपि आत्म चिकित्सा रूप मोक्ष का मार्ग तो समस्त जीवों के लिये एक ही है परन्तु जीवों ने जो अपनी २ समझ के अनुसार अनेक पंथ और धर्म रच लिये हैं कारण उन का यह पक्षपात ही है। इस के सम्बन्ध से मनुष्य कभी सुख से नहीं बैठता। क्योंकि सदा अन्य पुरुषों के साथ वृथावाद, विरोध, चिंता, भय,शोक आदिक क्लेशोंमें ग्रस्त रहिताहै। फिर इस पक्षपात का यह स्वभाव है कि यदि विद्यावान्के हृदयमें हो तो बहुत अनर्थ करताहै और विद्या हीन के हो तो इतना अधिक अनर्थ नहीं करता। कारण यह है कि विद्या हीन पुरुष को बहुत सा ऊहापोह नहीं होता और विद्यावान् पुरुष एक क्षण में अनेक संकल्प रच सकता है॥

प्र०-क्या उस को विद्या कुछ फल नहीं करती॥

उ०-विद्या केवल अक्षर ज्ञान वा अक्षरों के अर्थ ज्ञान मात्र का नाम नहीं किंच प्रथम तरंग में जो कुछ वर्णन हो चुका है उस का नाम विद्या है। कभी २ तो उलटा यह देखने में आता है कि फल सम्पूर्ण पदार्थों का पात्र के आधीन होता है। अर्थात् स्वभाव के दुर्जनों में यदि कोई गुण भी आ जावे तो दोष रूप हो जाताहै जैसा कि सर्प के मुख में पड़ा हुआ दुग्ध विष रूप बन जाता है। और

स्वभाव के सज्जनों में आ के दोष भी गुण रूप बन जाता है जैसा कि, समुद्र का खारी पानी भी मेघमें जा के मीठा हो जाता है। सो इसी भांति जब किसी विद्यावान् में कोई दोष देखो तो वह उस के स्वभाव का दोष समझो न कि विद्या का॥

प्र०–यदि विद्या भी खोटे स्वभावको दूर नहीं कर सकती तो क्या खोटा स्वभाव कभी जाता ही नहीं॥

उ०–सर्वथा तो यह नहीं कहा जाता कि विद्या से खोटा स्वभाव दूर नहीं होता परन्तु कभी २ किसी हेतु से यह व्यतिक्रम दिखाई दे जाताहै। यदि विद्यासे दुःस्वभाव दूर न होता हो तो आत्म चिकित्सा आदिक सदुपदेश को वृथापत्ति आये। यह बात सर्व सम्मत है कि साधन करने से सब कुछ हो सकता है॥

तीसरा जो कार्पण्य नाम रोग कहा था उत्पत्ति उस की रजोगुण की न्यूनता से है। अर्थ इस कार्पण्य का यह है कि स्वभावकही भोगादि से रुके रहिना अर्थात् यथायोग्य प्रवृत्त न होना जहां लो हो सके संकोच और सङ्क्षेपमें दृष्टि रखनी। यह कार्पण्य दो प्रकार का है एक स्वार्थ दूसरा परार्थ॥

स्वार्थ-अपने भोजन छादनादि आवश्यकआनन्दभोगमें सर्वदा ऊणता रखनी। जैसा कि बहुत लोग चाहे सर्व प्रकार से सम्पन्न भी हैं परंतु अपने सुख के निमित्त यत्न नहीं करते। भोजन ऐसा करते हैं जो रूक्ष और उपान्न वा बासी अथवा परित्यक्त और गतरस होवे। छादन ऐसा रखते हैं जो अत्यन्त खरस्पर्श, वा जर्जर और शतग्रंथ अथवा शीत, उष्ण के रोकनेमें अशक्त होवे। अथवा पदवी और अधिकार से न्यून हो। आनन्द और भोग ऐसा अयोग्य रखते हैं कि शीत उष्ण और वर्षादि की विपत्ति में भी कोई स्थान न बनाना। रोग की दशामें धनका व्यय विचारके औषधि आदिमें संकोच करना। उपाय इस रोगका यहहै कि प्राणी इस बात को विचारे कि यदि आवश्यक कार्यांमें भी संपत्ति काम न आई तो और किस काम आवेगी। मैं जो सांसारिक भोगोंसे हीन रहताहूं मनुष्य बनने का मुझे क्या लाभ॥

परार्थ-यदि किसी अन्य के सुख साधन में उत्साह करना तो पूरा न करना। जैसा कि अन्न देना तो तृप्ति से न्यून देना। फिर अधि-

कारी जनों के पालन सेवन में जणता रखना जैसा कि बहुत लोग अपने माता पिता की सेवा से भी संकोच करते हैं। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी यह विचार मन में रक्खे कि दान और सेवादि तबही श्लाघ्य गिने जाते हैं जब दाता और भोक्ता की तृप्ति पूर्वकहों। यदि क्रम और अधिकार तथा तृप्तिके विरुद्ध हों तो महा निन्द्य हो जाते हैं। देखो यदि चक्रवर्त्ती राजा किसी को एक मुष्टि अन्न की दे के अपनी प्रतिष्ठा चाहे तौ अत्यन्त असम्भव है। यह परार्थ कार्पण्य केवल धन मात्र से ही नहीं होता किन्तु वुद्धिमान लोग इसको तीन भांति से मानते हैं। एक काया से, दूसरा वाणी से, तीसरा मनसे॥

कायक कार्पण्य-अपने शरीर द्वारा किसी की सेवा और सहायता का न करना। उपाय इस का यह है कि प्राणी इस बात को सोचे कि यदि मनुष्य देह से कुछ परोपकार न होवे तो महा पशु है क्यों कि पशु भी अनेक व्यवहारों में मनुष्य के काम आते हैं। अथवा यह सोचे कि यदि मैं किसी की सेवा और सहायता में यत्न करूंगा तो लोग मेरी सेवा और सहायता को भी आवश्यक समझेंगे। क्योंकि जगत् में संपूर्ण व्यवहार परस्पर मिलाप द्वारा अच्छे सिद्ध होते हैं। फिर वह सहायता और सेवा भी तीन प्रकार की होतीहै। एकउत्तम दूसरी मध्यम, तीसरी निकृष्ट॥

उत्तम सेवा-जो विना किसी प्रयोजन के केवल मनुष्य देह को सफल करने के निमित्त किई जावे। जैसा कि उत्तम जन साधु और गुरु वा अभ्यागत वा किसी दुःखी आदि की करते हैं॥

मध्यम सेवा-जो किसी ऐसे पुरुष की किई जावे, कि जिसने कभी तुम्हारी किई हुई हो। जैसा कि जगत् में परस्पर व्यवहार सिद्ध हो रहे हैं॥

निकृष्ट सेवा-जो मोल और धनादि के अर्थ से किई जावे। जैसा कि जगत् में पर चाकरी आदिक का करना प्रसिद्ध है। सो उत्तम सेवादि के विना और सब गौण हैं॥

मानसिक-कार्पण्यमनको जगत्हितैषी वातोंके विचारमें और किसी के साथ शुभ परामर्श करने में और कृतज्ञता वो शुभ फल प्रदानादि में प्रवृत्त न करना। प्रतिकार इस रोगका यहहै कि प्राणी अपने ज्ञान वृद्धि

को पशुवर्गसे अधिक समझके इस बातको सामने रक्खे कि मनुष्य वही है कि जिस का मन परोपकारी है। नहीं तो सींग रहित पशु है। उत्तम जन कहते हैं कि जिस के मन में विचार, पर उपकार, प्रेम, दया, विद्या, सरलता ये छे गुण नहीं वह महा दरिद्र और पशु है। अथवा यह सोचे कि मैं जो प्रात:काल से सन्ध्या लों अपने अनेक सङ्कल्प विकल्प रचता रहता हूं यदि कोई घड़ी पराये अर्थ लग जावेगी तो क्या चति की बात है। उलटा लोक में यश का कारण हो जावेगी। अथवा यह विचार करे कि मन का स्वभाव है कि यदि निर्बंध रहे तो नाना अनर्थ को उत्पन्न करता है। सो यदि परोपकार आदिक क्रिया में प्रवृत्त रहेगा तो अन्य विकारों के विचार को अवकाश नहीं पावेगा॥

वाचिक कार्पण्य-किसीका वाणी द्वारा शिष्टाचार न करना, अथवा शिचा प्रदान और विद्या दान में वाणी को न खोलना। अथवा यदि कोई पुरुष कुछ प्रश्न करे तो यथार्थ और पूर्ण उत्तर न देना इत्यादि। उपाय इस का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि पूर्वोक्त शिष्टाचार आदिक व्यवहारों की शक्ति केवल मनुष्य की जिह्वा को ही है सो यदि मैं उन व्यवहारों का संकोच करूं तो जिह्वा निष्फल है। अथवा जिन के प्रश्नादि के उत्तरमें मैं प्रवृत्त नहीं होता उनका मन कैसा दु:खी होता होवेगा। उत्तमों का तो यह स्वभाव है कि मन में चाहे किसी प्रकार की विषमता हो परन्तु जिह्वा द्वारा सब से प्रेम भाव रखते हैं। अथवा यह विचारे कि धन्य हैं वे लोग जो पर सुख साधन के अर्थ कूप, तड़ाग, वापी, पथिगृह, धर्मशाला आदिक बनवाते हैं। और धिक् है मुझको कि जो सम्भाषण मात्रसे भी किसी को प्रसन्न नहीं करता। प्रकट है कि जो जिह्वा सम्भाषण से किसी का हृदय शांत नहीं करती वह मींडक की जिह्वा के समान वृथा वकवादिनी है॥

इस सन्तोष धर्म प्रकट करने के निमित्त मनोराज्य आदिक उक्त रोग चय से सर्वदा वचता रहे। अर्थात् जब किसी हेतु से रजोगुणमें मलिनता और तारतम्य देखे तो तुरन्त ही चिकित्सा करे नहीं तो

समभाव टूटने से आत्मा पतित हो जावेगा। और फिर किसी उपाय का बनाना असंभव है॥

प्र०-रजोगुण को समभाव पर रखने के लिये पूर्वोक्त चिकित्सा के बिना क्या कोई और उपाय भी है॥

उ०-श्रेष्ठ उपाय तो यही है परन्तु संसार में कई एक उपाय और भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। जैसा कि कई लोग रजोगुण की शुद्धिके लिये धन, स्त्री, पुत्रादि का त्याग करते। और अनेक इनके दर्शन से कोसों भागते हैं तथापि उन्हे रजोगुण की शुद्धि प्राप्त नहीं होती। बहुत से लोग कुसंग की भीति से जगत् सम्पूर्णजनों से उदास हो के कहीं वन पर्वतादि विविक्त स्थानों में निवास रखते हैं परन्तु हम इस का नाम भी शुद्धि नहीं रखते। अथवा कई एक लोग जो त्यागी और विरागियों के बेष बनाके सांसारिक सरल पुरुषों को ठगते हैं उनको भी शुद्धि की प्राप्ति नहीं। उलटा वे लोग अत्यन्त काम और कार्पण्य से ग्रस्त और सांसारिक आनन्द से शून्य कहिने चाहिये। रजोगुण की स्वच्छता के निमित्त काम और कार्पण्य का त्याग करना चाहिये कुछ धनादि पदार्थ और जगत् का त्याग आवश्यक नहीं। अथवा अंतः-करण का सुधारना आवश्यक है कुछ बाह्य आचार और चिन्हों का सुधारना आवश्यक नहीं। क्योंकि जैसे ऊपर से उज्ज्वल और स्वच्छ किया हुआ और भीतर से मल का भरा हुआ पात्र शोभा नहीं पाता वैसे ही बाहर से शुद्ध और भीतर से अशुद्ध पुरुष भी शोभनीय और श्लाघ्य नहीं गिना जाता। प्रकटहै कि मनुष्य यदि अंतरसे शुद्ध और पवित्र तथा सरल है तो बाहर से निर्द्धन, कुरूप, होने पर भी पूज्य और श्लाघ्य है परन्तु यदि ऊपरसे स्वच्छ और कुलीन वा धनी, गुणी, मानी, प्रतिष्ठित हो और अंतर से कुटिल, कठोर और दुःशील और अशुद्ध होवे तो महा नीच और निन्द्य है। तात्पर्य यह कि मुमुक्षु पुरुष को सर्व प्रकार अंतरका शोधनही आवश्यकहै और कुछ कर्तव्य नहीं, और जब अंतर की शुद्धि हो जातीहै तब जितनी कि चाहिये उतनी बाहर की शुद्धि अपने आप हो जातीहै। परन्तु यह अंतर और बाह्य का शोधन सद्गुरु की कृपा से होता है॥

प्र०-सद्गुरु का क्या लक्षण है॥

उ०-सद्गुरु वह है जो सत्पद का उपदेश करे। उस की विद्या, बुद्धि, बल सब पराये अर्थ लगते हैं। वह आप कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहारके भी लोगोंको सीधे मार्ग में चलाना चाहता है। उस के कायो, मन, वाणी से सदा परोपकार रूप क्रिया निकलती रहितीहै और वह दूसरेको सुखीकरना अपना सुख जानता है। वह दया, धर्म, धैर्य्य, संतोष, न्याय आदिक से बिभूषित और आत्म चिकित्सा में कुशल और सब का हित साधक होता है। बस इत्यादि सब लक्षण जिस में देखे उस को सद्गुरु समझो और उस के उपदेश को अपने सुख का साधन जान के परम श्रद्धा के साथ ग्रहण करो। तथा उस के उपकार के पलटे में तन, मन, धन से उस की सेवा और भक्ति करते रहो कि जिस से तुम पर कृतघ्नता का कलंक न लगे॥

तन से सेवा यह है कि जब गुरु का दर्शन हो तो अभ्युत्थान करो और अपने आप को निर्माण बनाने के लिये सब सङ्कोच तज के उस के चरण में शिर रक्खो और प्रणाम करो। मुख से आदर युक्त वाक्य कहो। और हाथोंसे चरणधोवो और पाउँसे गुरु द्वारको याचाकरो॥

मनसे सेवा यहहै कि सद्गुरुके उपकार की कृतज्ञता मानों और कभी उन के प्रेम से मन को पीछे न होने दो। यदि उन की सेवा और सङ्गति में कुछ मन को कष्ट हो तो सहार लो। और यदि उन के पीछे चलने में लोग शत्रुता वा निंदा करें तो अपनी सुभाग्यता मान के सहार लो। और कभी अश्रद्धक न होवो॥

धन से सेवा यह है कि जिस के उपदेश से तुम्हारा वह सारा द्रव्य बच गया जो तुम अज्ञान दशा में भूत प्रेत तथा देवी देवता और ग्रहादि की पूजा में झूठे भय और लालच के प्रताप से नष्ट करते और विकारों में खोते थे यदि उस की सेवा में यत्किंचित् द्रव्य व्यय हो जावे तो कैसी उत्तम बात है। अर्थात् उस के दर्शन को जाओ तो यथा शक्ति कुछ द्रव्य हाथमें लेकर जाओ। और जहां लों हो सके उस सद्गुरु के भरण पोषण और यान स्थानादिमें अपने द्रव्य द्वारा सहायता करो॥

सच्चे सद्गुरु के उपदेश से प्राणी को नया जन्म प्राप्त होता है क्योंकि उस दिन से पूर्व जो २ कुकर्म किये थे वे तो सच्चे पश्चात्ताप के प्रताप से भस्मीभूत हो गये और आगे को उन के उपदेश द्वारा जब पाप का यथार्थ स्वरूप और उस का फल भली प्रकार समझ में आ जाता है फिर कभी उधर प्रवृत्त नहीं होता॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत प्रवाह पूर्व भाग आत्म चिकित्सायां रजो गुण वर्णनं तृतीयस्तरङ्गः॥

॥ ओ३म् परम गुरुवे नमः ॥

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्य पूर्वभागः ॥

प्र०-अब तमोगुण नामक आत्मा के तृतीय गुण को कथन कीजिये। प्रथम यह बताइये कि तमोगुण तो एक मन्द पदार्थ है इसका आत्मा में रहिना क्या फल करता है ॥

उ०-तीनों गुण में से ऐसा गुण कोई नहीं जो स्वरूप से मन्द हो किन्तु तीनों ही से आत्मा की सहायता होती है। ऐसा पुरुष भी जगत्में कोई नहीं कि जो इन तीनों गुणमें से किसी एकको आत्मा में से दूर कर सके। हां यह सत्य है कि इन तीन के अधिक और न्यून भाव को प्राणी सदुपदेश और प्रयत्न के बल से दूर कर सकता है जो आत्मा को रोग रूप हैं ॥

तमोगुण से आत्मा की सहायता इस रीति से होती है कि उसके प्रताप से आत्मा दुःख जनक पदार्थोंके तिरस्कारमें प्रवृत्त होताहै। जैसा कि यदि सर्प में तमोगुण न होता तो बहुत लोग उस को रज्जु रूप जान के लकड़ीयां बांधने लगते परन्तु उस का तमोगुण ही उसे दुःखदायक जनों के हाथ से बचाता है। सो जब लों यह तमोगुण समभाव पर स्वच्छ रहिता है तब लों तो इस से शौर्य्य नाम धर्म का प्रादुर्भाव है और जब न्यून वा अधिक होता है तब रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं ॥

अब इस शौर्य्य नाम धर्म का कि जिस की उत्पत्ति स्वच्छ तमोगुण से है यह अर्थ है कि निन्द्य रजोगुण और तमोगुण के वेग को कि

जिन से काम और क्रोध उत्पन्न होते हैं जीत के स्वच्छ तत्व गुण के आधीन करने को समर्थ होना। सो जहां यह शौर्य्य रहिता है वहां एकादश गुण और रहिते हैं। जबलों वे एकादश गुण प्राप्त न हों तब लों कोई सच्चा शूर-बीर नहीं कहा जाता॥

१ तितिक्षा-चाहे कैसा ही खेद और बिपत्ति सन्मुख आवे परन्तु मन में भय और कंप तथा व्याकुलता आदिक उत्पन्न न हों। और उस समय मन कुछ ऐसा काम न कर बैठे कि जो बुद्धिसे बाहर हो। जैसा कि कई एक मूर्ख भय और आपदा कालमें व्याकुल हो के ऐसे निन्द्य काम कर बैठते हैं कि जिन से मरण पर्यंत कलङ्क और पश्चात्ताप रहिता है। बहुत से अज्ञानियों ने भय और बिपत्ति काल में देश और कुल को त्याग और कई अल्पज्ञों ने अपने हाथ से अपने प्राण को खोया है॥

२ दृढ़ता-निन्द्य और वर्ज्जित बस्तु की ओर मन प्रवृत्त न होने पावे। और न धन से आनन्द और निर्द्धनता से कुछ शोक माने। यदि किसी अलभ्य वा अमोलक बस्तुकी हानि हो जावे तो दुःख न माने। और सारे जगत् का राज्य प्राप्त हो जावें तो अत्यन्त गर्वित न हो जावे। मन का स्वभाव है कि जब किसी निन्द्य और बर्ज्जित काम में प्रवृत्त होने लगता है तो उस में नाना गुण आरोपण कर लेता है जैसा कि मद्य पान में आल्हाद और चौर्य्य, द्यूत तथा व्यभिचारादि में चातुर्य्य और शौर्य्य आरोपण करके प्रवृत्तहो जाता है। सो ऐसे समय में मन की दुष्टता मान के कुकर्मसे रोकता रहे। कभी २ ऐसा भी देखा गया है कि निन्द्य व्यवहारों में मन की प्रवृत्ति तो होती जाती है परन्तु अपने को प्रतीत नहीं होती। अथवा काम के बश से निंद्य व्यवहारका दोष भी गुण रूपही भासने लग जाताहै। सो योग्य है कि ऐसी दशा में प्राणी अपने शत्रुओं की बातें कि जो वे इस के विषय में करते रहिते हैं सुना करे॥

३ जिग्राहयिषा-शुभ चिन्तन और शुभ ग्रहणमें मृत्युसे भी न डरे। और ग्राह्य वस्तु की प्राप्ति अप्राप्ति के विचारसे बिनाही प्रवृत्त रहै॥

शुभ चिन्तन-इस का नामहै कि जगत्में सुख सम्पादन और सहायतादि के उपायों को सोचते रहिना॥

शुभ गृहण इस को कहिते हैं कि विद्याध्ययन और धर्म सम्पादन आदिक कर्मको आवशयक समझना। वहुत ऐसे लोगहैं कि जो किंचित् भय और क्लेश और लोकापवादसे ही इन दोनों वातको त्याग छोड़ते हैं परन्तु उन में जिग्राहयिषा धर्म नहीं जानना चाहिये ॥

४ धृति-शत्रु के सामर्थ्य और वलको देखके ऐसा क्लीव न हो जावे कि इन्द्रियों को उसकी निवृत्तिकी शक्ति ही न रहे। जैसा कि भीरु पुरुष सिंह और सर्प के सन्मुख पीत मुख हो के उस के हटाने और भागने में शक्त नहीं रहिता और वृथाही अपना नाश कर लेता है॥

५ दम-तन और मन को व्यर्थ और अयोग्य क्रिया से रोके। उत्तम वह है कि जो मन को योग्य और सार्थ व्यवहार में प्रवृत्त रखे। देखो जितने अंग उपांग मनुष्यकेहैं उन में कोई भी व्यर्थ नहीं प्रतीत होता।सो जो कोई इनको आवश्यक क्रिया से रोकके वृथा व्यवहार में प्रवृत्त करे वह मूर्ख है। मनुष्य के अंग उपांग की अयोग्य क्रिया में प्रवृत्ति देख के सव कोई तुच्छ और ओछा समझने लग जाता है ॥

६ महत्व-अपने को वड़ा और योग्य समझना। यह महत्त्व दो प्रकार का होता है। एक निंद्य दूसरा श्लाघ्य:—

निंद्य महत्व-यह है कि अपने धन गुणादि में उन्नति हो के सर्व संसारको तुच्छ और अपनेको पूज्य समझना। ऐसा पुरुष सदैव उत्तमों के संग और संसारके परस्पर मिलाप जन्य सुखसे शून्य रहिता है क्योंकि यद्यपि नाना व्यवहार प्रत्यक्ष ही नष्ट होते हैं परन्तु मानी पुरुष किसी अन्यसे सहायता पानेको अपनी क्षति मानताहै। इसमान के अंत में जो अनेक दुःख और उपताप होते हैं उन का तो क्या कहिना परन्तु वह जो सर्व जगत् को तुच्छ जान के किसी को आदर नहीं देता इसी कारण समस्त जीव उस से शत्रु भाव रखते है ॥

श्लाघ्य महत्त्व-यह होता है कि अपने में महत् मान के प्रतिष्टाभंग के भय से अनुचित क्रिया कलाप में चित्त को प्रवृत्त न करना। यद्यपि चौर्य्य, व्यभिचार, पर निन्दा, अति क्रोध, विवाद, याञ्चा, इत्यादि व्यवहार मुख्यत: प्रतिष्टा भंग में कारण हैं परन्तु प्रतिष्टा एक ऐसा सूक्ष्म तंतु है कि व्यत्यय व्यवहार चाहे स्वल्प सा भी हो जावे तुरंत टूट जाता है। योग्य है कि प्राणी अपनी प्रतिष्टा को प्राणसेभी

अधिक प्रिय समझें। इसके प्रतापसे समस्त मन्दाचार सुगम ही निवृत्त हो जाते हैं। बहुत से बुद्धिमान इस हेतु से अपने पुत्रादि को बाल्यावस्था से ही शुभाचार और प्रतिष्ठावानों के संग में छोड़ते हैं कि इनको प्रतिष्ठा प्राप्तिका व्यसन होजावे क्योंकि जब मनुष्य अपने को प्रतिष्ठित मानने लग जाता है तो अपने आपही समस्त दुराचार से दूर रहिता है॥

७ गौरव-तुच्छों और दीनोंपर बड़ाई को न चाहना और किंचित् अपराध आदिकको देखके उनपर शीघ्र कुपित न होजाना बरन लोगों के कुवाक्यादिकी ओर कान न लगाके मत्त गजकी नाईं अपने आनंद में आनंद रहिना। जो पुरुष दीनों पर बड़ाई चाहता और किंचित् अपराध से कुपित हो जाता है वह संसार की दृष्टिमें तुच्छ और महा निन्द्य गिना जाता है। जो किसी दूसरे से महत्व चाहता है यद्यपि कोई अर्थी पुरुष तो उसे बड़ा कहे परंतु सर्व लोग उसे छोटा समझने लग जातेहैं। और जो पुरुष स्वभावतः बड़ा है उस को शत्रु भी बड़ा ही कहितेहैं। और जिस को केवल मित्रों और सम्बन्धियों वा भिक्षुक और लुब्धक वा दीनोंने बड़ाकर छोड़ाहै वह बड़ानहीं उलटा परम लघुहै॥

८ वाक्य पालन-यदि किसी को कुछ देना, वा सहायता करना, वा मिलना, वा कुछ करना, वाणी से कहा होवे तो यथा शक्ति उस की पूर्णता में यत्न करना। जिस को अपने वाक्य भंग की लज्जा नहीं वह मनुष्य गोबर का कीट है। जगत् में पांच भांति के वक्ता हैं:—

एक वह कि जो जितना कहे उतना ही कर दिखावे। दूसरा वह कि जो करे थोड़ा और कहे बहुत। तीसरा वह कि जो कहे थोड़ा और करे बहुत। चौथा वह जो कहिता ही है और करनेका नाम भी नहीं। पंचम वह है कि जो कहिता कुछ नहीं और सब कुछ कर दिखाता है॥

बुद्धिमान को चाहिये कि अकरणीय व्यवहार को कभी मुख से न कहे। कभी २ ऐसा होता है कि पुरुष कथन के समय तो करने को सुगम जान के वाचाबद्ध हो जाता है परन्तु फिर आलस्य के वश से वाचा पालन में अशक्त हो जाता और निन्दा उठाता है। सो योग्यहै कि विचार पूर्वक कथन किया करें नहीं महा लज्जा और उपताप

इस का फल होगा। ऐसे पुरुषसे समस्त लोगों का वैर हो जाता और वह सदा दुःखी रहिताहै ॥

९ उद्यम-करणीय कार्य्य की सिद्धिके पूर्व किसी अन्य क्रिया का आरंभ न करना किन्तु जो कार्य हाथ में है उसे पूरा करके किसी दूसरे कार्य को हाथ लगाना। जो पुरुष किसी हेतु से करणीय कार्य को पीछे रख के किसी नवीन कार्य के करने में लग जाताहै उसके संपूर्ण कार्य असिद्ध ही रहि जातेहैं। उद्यम हीन पुरुष धीरे २ क्रिया कलाप से अत्यन्त संकोच करने लग जाता है। और इस संकोच को परम सुख मान के अन्य पुरुषों को भी क्रिया के त्याग का उपदेश करने लग जाता है। जैसा कि हे लोगो क्रिया के करनेमें बहुत क्लेश हैं। सो चाहिये कि प्राणी जहां लों हो सके क्रिया से बचता रहे ॥

१० आर्द्रव-अन्य जीव वर्ग को चकित और दुःखित वा शोकित देख के द्रवीभूत हो जाना। और यथा शक्ति उस की निवृत्ति में यत्न करना। परन्तु यह आर्द्रव कई प्रकार का होता है:—

एक वह कि जो अपने सम्बन्धियोंको दुःखितदेखके द्रवीभूतहोना। सो यह आर्द्रव नहीं मोह है क्योंकि उनको दुःखी देख के अपना मन दुःखी होता है इस कारण अपने सुख के निमित्त यत्न करता है न कि उन के निमित्त ॥

द्वितीय वह कि जो अपने मित्रों और मिलापियों के दुःख से द्रवीभूत होवे। सो यह भी आर्द्रव नहीं व्यापार है । क्यों कि वहां यह आशा होती है कि यदि मैं इन के दुःख से दुःखी होऊंगा तो कभी ये भी मेरी सहायता में अधिक प्रवृत्त होवेंगे। जो सच पूछो तो यह आर्द्रव भी अपने ही सुख के निमित्त है। ऐसे पुरुषोंको यदि अपने मित्र वा समीपियों के दुःख निवृत्ति के लिये किसी अन्य जीव के प्राणाघात की भी औषधि रूप समझ के आवश्यकता होवे तो कुछ विलंब नहीं करते। क्योंकि उन को अपने सुख से ही काम है दूसरे के दुःख सुख को अपने समान नहीं समझते ॥

मेरी समझ में यह आता है कि यदि सब के मन में यह बात भर जावे कि दूसरे का दुःख मेरे समान वा मेरा ही है तो चोरी, व्यभिचार, हिंसा, छल आदिक कुकर्म का नाम भी संसार में न रहे ॥

तृतीय वह कि जो स्वत्वपरत्व नीचऊंचका बिचार त्यागके समस्त जीवों पर समान द्रवीभूत होवे। सो यथार्थ आर्द्रव इसी का नामहै। ऐसे पुरुष का यह स्वभाव होता है कि यदि उस का शत्रु भी बिपत्ति में ग्रस्त हो तो उस के दुःख निवृत्ति में यत्न करता है। पूरण दयालु पुरुष का यह लक्षण है कि दूसरे की रक्षाके निमित्त यद्यपि वहपरम शत्रु भी है ऐसा उद्यम करना कि चाहे अपना धन, मान, यश, सब कुछ दूर हो जावे परन्तु दया को न छोड़ना॥

दयालु का धर्म है कि प्रथम अपराधी का अपराध क्षमा कर देवे, और फिर द्वितीय अपराध में नीति पूर्वक शिक्षा करे। और तृतीय अपराध में ऐसा उचित दण्ड देवे कि जिस से उसका वह दुःस्वभाव छूट जावे। देखो जब किसी को व्रण सुगम उपायों से दमन न होवे तो वहां वैद्य लोग चीरा देने योग्य समझते हैं परंच ऐसी रीति से कि जिस भांति सर्वदा काल उस को व्रण से भी अधिक पीड़ा उपस्थित न हो जावे। अपराधी की रक्षा करना और क्षमा करना भी एक प्रकारकी शासनाहै। क्योंकि कई एक अपराधी रक्षा और क्षमा को पा के महा लज्जित होते और भारी दण्ड से भी अधिक दुःख मानते हैं। और फिर कभी अपराध का नाम नहीं लेते। सो बस उत्तम दया इसी का नाम है कि स्वत्व परत्वादि बिचारसे बिना सर्व जगत् को अपना अंग जान के रक्षा करना। बिशेषतः बिपत्तिकाल में भी दया, धर्म से बिमुख न होना॥

बहुत लोग ऐसे हैं कि सुख और सम्पत्काल में तो धर्म के समाश्रित रहते हैं और यदि कोई क्लेश और बिपदा आ जावे तो यह कहि के अधर्म में प्रविष्ट हो जाते हैं कि यदि हमारा शरीर रहेगा तो दया धर्म फिर उपार्ज्जित हो सकेगा। दया और धर्म के हठमें शरीर को बिपत्ति और क्लेश में रखना उचित नहीं। फिर ऐसी२ निंदित युक्तियां निकालते हैं। जैसाकि बिपत्ति कालमें पर स्वहरण, मिथ्यालाप, जीव घात, छल, द्वारा निर्वाह करने का भी दोष नहीं॥

बड़े शोक की बात है कि उन को यह नहीं सूझता कि यदि हम अधर्मद्वारा अपनी बिपत्का निवारण करलेंगे तो क्या फिर यह हमारा देह सदा काल बना रहेगा। अथवा जब कि एक दिन यह देह

अवश्य ही मिटने हार और नाशीहै तो विपत् में मिटा तो क्या और सम्पत् में छूटा तो क्या। यह देह तो ऐसा कृतघ्न है कि चाहे कोई अत्यन्त अमोलक और दुर्लभ पदार्थसे इसका पालनकरे परंतु विनाश काल में एक क्षण भी विलम्ब नहीं करता किन्तु सदा की मैत्री त्याग के चला जाता है फिर ऐसे कुटिल के निमित्त अपने धर्म मार्ग से पतित हो जाना क्या योग्य है। शूर-वीर वही है कि जो आपदा में भी अधर्म पथ में प्रविष्ट नहीं होता॥

११ क्षांति-समय और व्यवहारों को अपनी इच्छा से विरुद्ध होते देख के क्रोधाग्नि के धूम को अपने नेत्रों में न भरनेदेना। बहुतऐसे पुरुष हैं कि विरुद्ध आचार के पूर्व तो अपनी शांति का घमण्ड करते हैं परंच जब समय आता है तो तत्कालही जीते जाते हैं। सच पूछो तो परम शौर्य्य इसी का नाम है कि प्रतिकूल समय में मनका धैर्य्य नष्ट न होने पावे। समय का स्वभाव है कि यह एक रस कभी नहीं रहिता। सो चाहिये कि अनुकूल समयके चले जाने को देख के यह निश्चय करे कि जैसे वह स्थिर नहीं रहा वैसे यह समय भी स्थिर नहीं रहेगा॥

जैसे शूर-वीर पुरुष युद्ध के बीच खड़ा चारों ओरसे शस्त्र पात को सन्मुख सहारता है वैसे ही प्रतिकूल समय के आदि और मध्य में महा दृढ़ हो के दीनता और क्रोध से बचना चाहिये। यद्यपि यह अत्यन्त कठिन व्यवहारहै कि पुरुष स-धूम अग्निके समीप बैठके नेत्रों में जल न आनेदेवे परन्तु अभ्यासी पुरुष महानस आदि स-धूम स्थान को छोड़ के भागने की इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार प्रतिकूल समय के क्लेश को सहार के भी दृढ़ और ध्रुव रहिना चाहिये॥

प्र०-इस शौर्य्य नाम तृतीय धर्मको तो मैं ने भलीप्रकार सुनलिया परन्तु अब यह कथन कीजिये कि तमोगुण के साथ रोग कितने और उन की निवृत्ति का कौन उपाय है॥

उ०-जैसे पूर्व गुणों के तीन २ रोग कहेथे उसी प्रकार इस तमो-गुण के भी क्रोध, उद्योग, क्लैव्य ये तीन रोग और कई इनके निवृ-त्ति उपाय हैं:—

१ क्रोध-उत्पत्ति इसकी मलिन अर्थात् गुणांतरके संग कलुषीभूत

तमोगुण से है। अर्थ इस तमोगुण का यह है कि मन में एक प्रकार का तपन अर्थात् जलना उत्पन्न हो जाना। यह क्रोध दो प्रकार का होता है, एक सम, दूसरा विशेष:—

सम क्रोध-इस का नाम है कि अपने निन्दकों और विघातकोंकी बुराई चित्त में रख के पलटा देने की घातमें लगे रहिना। ऐसे पुरुष से सब किसीको भीत रहिना चाहिये क्योंकि उस का अंतरीय कपट कभी प्रतीत नहीं हो सकता। यद्यपि प्रत्यक्ष में वह महा सरल और नम्र और मनोहर मित्र सा प्रतीत होता है परन्तु अन्त:करणमें इससे विरुद्ध है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी अपने मन में यह विचारे कि मैं जो पलटा देने को उपस्थित रहिता हूं न जाने उस समय के पूर्व ही मेरा देहांत हो जावे। अथवा मेरा कपट शत्रु पर प्रकट हो जावे और वह मुझ से भी पहिले मेरा काम बना देवे इस हेतु से योग्य है कि मन के कपट का त्याग करूं॥

दूसरा विशेष क्रोध-इस का नाम है कि आठो पहिर वृथा ही चित्त मे जलते रहिना। और अयोग्य स्थानों में अपनी क्रोधाग्नि को प्रकाशित करना। जैसा कि मूर्ख लोग क्रोध के समय भीत्ति, पाषाण, वरतन, वस्त्रादि पर दांत पीस २ क्रोध करते हैं। यद्यपि वे यह तो जानते हैं कि इन जड़ वस्तुओं पर क्रोध और ताड़ना का कुछ फल नहीं परन्तु उस समय चित्त उनके तोड़ने फोड़ने और शासना करने में ही प्रसन्न होता है और रोकते २ भी उन अनुचित क्रियाओं को करने लग जाता है॥

इन दो वातों से क्रोध की अग्नि अधिक प्रचंड होती और वहुत काल में वुझती है सो चाहिये कि कोई पुरुष क्रोध के समय दोनों वातके इंधन को कि जो नीचे लिखी हैं उस में न डाले:—

पहिली यह कि क्रोध के समय उस के शमन के लिये शिक्षा का करना। इस में यह हानिहै कि उस समय क्रोधीको शिक्षादि उपाय गाली के समान दु:खदायक प्रतीत होते हैं। और हठ से क्रोध को अधिक प्रकट करने लग जाता है॥

दूसरी यह कि जिस पर वह क्रुद्ध है उस की सहायता और रक्षा का करना। इस में यह दोष है कि क्रोधी पुरुष उसकी ताड़ना रूप

अपने मनोरथको रुका देखके अत्यन्त क्रोधी हो जाताहै। औरजितना कोई रक्षा करे उतना ही अधिक ताड़ना का हठ बांधता है। और कभी २ उलटा रक्षक की ताड़ना को ही उपस्थित हो जाता है। यद्यपि पैत्तिक स्वभाववाले और मूर्ख पुरुष को क्रोध अधिक होता है तथापि सर्व संसारको क्रोध समान नहीं होता। किसीको शीघ्र आता और शीघ्र ही जाता है। किसी को बहुत काल में आता और बहुत काल में ही जाता है। किसी को चिरंकाल में आता और शीघ्र ही जाता है। किसी को शीघ्र आता और चिरंकालमें जाताहै॥

क्रोध से बहुत सी अपनी ही हानि होती है और दूसरेकी थोड़ी. देखो प्रथम किसी ने क्रोध मे किसी को गाली दिई तो लोग उस के स्वभाव पर हँसते हैं। फिर उन का हँसना देख के क्रोधाग्नि अधिक प्रचंड हो जाती और अपने को मारने वा गाली देने लग जाताहै। फिर यदि उस का कुवाक्य सुन के उस दूसरे में भी क्रोध उत्पन्न हो जावे तो अत्यन्त विवाद, क्लेश, वैर, वैमनस्य आदिक का उभय तो लाभ होता है। कभी २ क्रोधी पुरुष अपने हाथ से अपना प्राणघात भी कर लेता है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी उन एकादश बातों से बचता रहे कि जो क्रोध की उत्पत्ति में कारण और आत्मा को रोग रूप हैं। अथवा उस दशा को कि जिस में क्रोध हुआ है उलट देवे। अर्थात् खड़ा हो तो बैठ जावे। और बैठाहो तो सो जावे। अथवा उस स्थानको त्यागदेवे। वा शीतल जलपीवे और क्षुधातुर हो तो कुछ खावे। चलता हो तो किसी छाया में विश्राम करे इत्यादि॥

यद्यपि उस समय क्रोध निवृत्ति के साधनों को तो कई लोग जाना करते हैं परन्तु उस दशा में यही बात मन को भाती है कि, जैसे कैसे क्रोध को ही बढ़ाता रहूं। परन्तु योग्य यही है कि प्राणी उस की निवृत्ति में शीघ्र यत्न करे॥

प्र०-अब वे एकादश बातें भी प्रकट कीजिये कि जो क्रोधकी उत्पत्ति में कारण और रोग रूप हैं॥

उ०-हां मैं आप ही उन को प्रकट करना चाहता था क्योंकि उन के प्रकट करने में मुमुक्षु वर्ग को बहुत लाभ होवेगा। सो सुनो।

यद्यपि मुख्य तो क्रोध की उत्पत्ति में सर्वथा यह कारण होता है कि प्राणी अपने मनोरथ से शून्य रहि के क्रोधाग्नि में तप्त होने लग जाता है परन्तु ग्यारह बातें जो गौण कारणरूप हैं वे ये हैं जो नीचे लिखी जाती हैं:—

१ विवाद–विजय प्राप्ति के निमित्त कुछ संभाषण करना। चाहै कोई कितना ही मन को रोके परन्तु अति संभाषण से मन तप्त हो के अवश्य क्रुद्ध हो जाताहै। उत्तमों का धर्महै कि संभाषण तब लों करतेहैं कि जब लों कोई उनके सामने किसी बात पर हठ न बांधे। क्योंकि हठी पुरुष के साथ अति संभाषण करना पड़ता और उस अति संभाषण का फल क्रोध है। महात्मा का यह नियम होता है कि यदि किसी को कुछ वाक्य कहिना तो एक बार अथवा दो बार तीसरी बार यदि वह न माने तो चुप हो जाना। यद्यपि उस समय चित्त अपने पक्षको परास्त होता देखके येन केन जीतनेका उद्यम तो किया करता है परन्तु अंत को बहुत दुःख पाता है। सत्य पूछो तो जीतना दो प्रकार का होताहै। एक यह कि अपने बल से दूसरे को गिराने की इच्छा रखना। इस मे बहुत क्लेश हैं अर्थात् बैर, वैमनस्य, छल, कपट, झूठ, हठ, मान, दंभ क्रोधादिक मन्द व्यवहार इस का फल होते हैं। और कभी २ आप भी प्रास्त हो के महा लज्जा और भय से अपने प्राणघात को उपस्थित होना पड़ता है। दूसरा यह कि अपने हठ को छोड़ के उसी की बातको अंगीकार कर लेना ऐसा पुरुष सहजमें ही सर्व संसारको जीत सकता और क्रोधाग्नि के दाहसे त्राण पाताहै। उपाय इस रोगका यह है कि प्राणी येन केन उस समय अपनी वाणीको मौन करे। और जो कुछ अपना सत्य मन में भरा हुआहो सो कालांतरमें धीरे२ उसको सुनावे। फिर वह अपने आपही लज्जितहोके अधोदृष्टहो जाताहै। योग्यहै कि जहां विवाद, क्रोध और वैरहोवे वहां दोनोंको मूर्ख जानना चाहिये। क्योंकि जहां कोई एकभी बुद्धिमानहो वहां इन विकारोंकी उत्पत्ति असम्भवहै॥

२ घमण्ड–अपने धन, कुल, रूप, विद्या, जाति, पर घमण्ड करना घमंडी पुरुष अपने को सब से अच्छा और बड़ा समझता है इस कारण जब कोई उस की पदवीसे न्यून बात कहे वा आज्ञा न माने

वा विरुद्ध उत्तर देवे तो अवश्य क्रोधाग्नि में दग्ध होने लगता है। इसी कारण प्रतिकार इस का यह लिखा है कि प्राणी को सीधा और सरल स्वभाव रखना चाहिये। क्योंकि सरल पुरुषों के मन में बात बातकीखेंच नहीं होती। देखो कोई पुरुष जितना ऊंचा चढ़ता है गिरने के पीछे उतना ही अधिक दुःख होता है. और जो नीचे पृथिवी पर सोया पड़ा हो प्रथम तो उसका गिरना असम्भवहै फिर चोट का लगना कैसे निश्चय हो। प्रकटहै कि यदि घमंडी पुरुषकी पगड़ी किसी हेतुसे उतर जावेतो शिर कटनेके समान दुःखी होता है. और जो सरल की गिर पड़े तो झाड़ के फिर हँसता हुआ बांध लेता है॥

३ ठट्ठा–मन बहिलाने के अर्थ किसी को ऐसा वाक्य कहिना कि जिस से सब लोग हँस पड़ें। इस में अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जाता है। बहुत लोगों का स्वभावहै कि अपने मित्रों पड़ोसियोंके मिलने के समय उपहास में गालीयां दे दे के बिलास करते हैं। सुजन पुरुष चाहे कैसा ही क्रोध में हो परन्तु कुवाक्य नहीं कहिता. और दुर्ज्जन पुरुष चाहे कैसा ही आनन्द में हो उस के मुख से हँसी में भी वे वाक्य निकलते हैं जो उत्तम पुरुष महा क्रोध के समय भी किसी को नहीं कहिते। उपाय इस रोग का यह है कि मनुष्यठट्ठा और हँसी को सम्पूर्ण उपद्रवों का बीज समझ के त्याग देवे. अथवा यह सोचे कि जहां बहुत उपहास और ठट्ठा होताहै वह स्थान प्रतिष्ठितों की दृष्टि में कभी श्लाघ्य नहीं होता. अथवा यह सोचे कि हँसना चित्त की चंचलता से होता है और चित्त की चंचलता रजोगुण की अधिकता से होती है. रजोगुण की अधिकता को अनेक औगुणों की जनक और तमोगुण की समीप वर्त्तिनी होने से कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये॥

४ दुर्ज्जनता–किसी की हानि में प्रवृत्त होना वा छल, अन्याय, बिश्वासघात करना. ऐसा पुरुष आप तो प्रतिश्वास क्रोधाग्नि में तप्त रहिता है और जो उस की दुर्ज्जनता से पीड़ित हैं वे सदैव उस पर क्रुद्ध ही रहिते हैं. उपाय इस का यह है कि इसको रोगी यह बिचार करे कि मेरा मन जो अपनी दुर्ज्जनता के कारण सदा

चिंतातुर और परि तप्त रहिता है योग्य है कि मैं सुजनता अंगीकार करूं कि जिस से सर्वदा काल शांति रहिती है॥

सुजनताके ये लक्षणहैं जो हम तुमको अब सुनाते हैं सो चाहिये कि तुम उन को ग्रहण करो। और जहां ये लक्षण देखो वहां सुजनता का निवास समझो जैसा कि:—

तृष्णाको छेदन कर, कि यह सर्व व्याधियों का मूल है।
क्षमा को ग्रहण कर, यह सर्व सुखों का कारण है।
मदको त्याग दे, कि इससे सहस्रों उपद्रव खड़े होतेहैं।
असत्य मत बोल, कि यह समस्त पापों का बीज है।
श्रेष्ट आचार रख, यह सर्व सुखों का मूल है।
विद्वानों की सेवा कर, इस में अनेक फल हैं।
दुराख्याति से भय कर इस भयसे संपूर्ण अनाचार निवृत्त होजातेहैं।
दीनोंपर दया कर मनुष्यत्व प्राप्तिका परम प्रयोन यहीहै।

५ गर्व–अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर लाड़ करना। जब इस में थोड़ा सा भी तारतम्य होता है तो क्रोधाग्नि दग्ध करने लग जाती है। उपाय इसका यहहै कि प्राणी इस बातको सोचे कि गर्वी पुरुष किसी को प्रिय नहीं किन्तु व्यर्थ ही शत्रु प्रतीत होता है॥

६ निर्दयता–किसी को सताना, इसमें अवश्य परस्पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। प्रतिकार इस का यह है कि सब के सुख दुःख को अपना वा अपने समान जाने॥

७ संघर्ष–एक ही बात को बहुत घसाना अर्थात् कई बार उच्चारण करना। जैसा कि किसी पुरुष को कहा तुम मन्दाचार का त्याग करो। जब उसने कुछ उत्तर न दियातो उसी बातको फिर कहिना. जब उस ने फिर भी कुछ उत्तर न दिया तो फिर क्रूरता और बलसे कहिना। जब फिर भी उसे मौन ही देखा तो अब वक्ता को अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जावेगा। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि किसी बात का छुड़ाना वा अंगीकार कराना राजा का काम है. मुझे तो केवल एक दो बार कहि देना ही योग्य था। संघर्ष इस बात को भी कहिते हैं कि किसी अन्य पुरुष से उन वस्तुओं और बातों का मांगना और पूछना, कि जिन का प्रकट करना

उसको भाता नहीं। प्रतिकार इस का यहहै कि प्राणी इस बात को सोचे कि जब मैं भी अपनी अनेक गुप्त बातों को मृत्यु पर्यंत प्रकट करना नहीं चाहता तो अन्य पुरुषों से पूछने में क्यों हठ करताहूं. क्योंकि बहुत ऐसी बातें हैं कि जिनको पुरुष कभी प्रकटकरना नहीं चाहता। हां एक बात है कि यदि किसी को कोई ऐसी औषधि वा विद्या प्राप्त हो कि जिस से अनेक जीवों को सुख की प्राप्ति हो जो पुरुष अपने आप उसे प्रकट नहीं कर देता वह महा मन्द गिना जाता है ॥

८ प्रमत्तता-जो व्यवहार श्रेष्ट पुरुषों ने अकरणीय और त्याज्य ठहिराये हों उन में इस अभिमति से प्रवृत्त हो जाना कि हमारा कोई क्या बिगाड़ सकता है। ऐसा पुरुष यद्यपि बहुतों का विरुद्धाचारी होने से सब को बुरा लगता है परन्तु वह अपने दुःस्वभाव के प्रताप से उलटा अन्य मनुष्यों को ही विरुद्धवर्त्ती समझता और सब से चिड़ा रहिता है। अथवा थोड़ी २ बात पर ही महा क्रुद्ध हो के सब से बैर कर लेता है। एक और कैसी आश्चर्य्य की बात है कि उस को अपने अपराध और क्रौर्य्य पर तो दृष्टि नहीं होती उलटा महा सरल और शुद्धाचारी पुरुषों को भी अपने शत्रु ही समझ लेता और बात बात में उन के संग क्रोध प्रकट करताहै. फिर इस प्रमत्तता के साथ और भी बहुत से अनर्थ हैं . जैसा कि प्रमत्त पुरुष सदा इस बिचार में रहिता है कि मैं जो सर्व संसार से विरुद्धाचारी होने से निंद्य गिना जाताहूं इस कारण कोई ऐसा उपाय करूं कि जिस से मेरा आचार सबको सम्मत और श्रेष्ट प्रतीत होवे। फिर वह कोई उत्तम उपाय तो कर नहीं सकता परन्तु इन दो उपायों को अच्छा समझ बैठताहै जो अनर्थ रूप हैं। मिथ्याचार और हिंसा को:—

मिथ्याचार-छल और कपट से बहुत लोगों के साथ प्रेम भाव रखना कि जिस से उसकी प्रमत्तताको कोई दोष न लगावे। वा उस के किये हुये कार्य को बिगाड़ न देवे ॥

हिंसा-जिस को अपने समान प्रमत्त वा अनम्र वा मुख तोड़नेहार समझा उस के प्राण हरण में यत्न करना। उसको जो किसी का भय नहीं इस कारण बिषदान, अग्निदाह, शस्त्रपात, राज दण्ड, आदिक

कई क्लेश देने को उपस्थित हो जाता है। यद्यपि वह किसी २ शत्रु को तो पूर्वोक्त उपायों से जीत भी लेता है परन्तु अजात शत्रु हो के कभी आप भी नहीं बैठता। क्योंकि उस को सब विषमवर्ती जान के सारा संसार शत्रु बन जाता है॥

प्रतिकार इस प्रमत्तता का यह है कि प्राणी इस बातको विचारे कि यदि मन्द व्यवहार और त्याज्य कर्म में अग्रगण्य बनना उचित होता तो पूर्वाचार्यों ने उद्यम क्यों न किया। अथवा यदि मेरे क्रौर्य्य और दुराचार के भय से किसी सरल और सौम्य पुरुष ने मेरी प्रमत्तता को सहार भी लिया तो जो पुरुष मुझ से अधिक बलवान और समर्थ हैं वे कैसे सहार सकेंगे। बरन समय पा के अवश्य ही मेरा मुख तोड़ेंगे। इस कारण योग्य है कि सदा श्रेष्ट पुरुषों का अनुयायी और अनुवर्ती रहूं। अथवा यह सोचे कि जो पुरुष बहुत लोगों से उलटा चलता और विषम आचार रखता है वह सब का शत्रु होता और मनोमुख गिना जाता है॥

प्र०--मनोमुख किस को कहिते हैं॥

उ०--जगत् में दो भांति के पुरुष हैं, एक गुरु मुख। दूसरा मनोमुख:—

गुरु मुख-जो अपने मन को सत्पुरुषों की रीति से चलावे अर्थात् उन की आज्ञा और रीति चाहे प्रत्यक्ष में कुछ दिन दुःखदायक भी प्रतीत हो परन्तु उस के अंतम फल को सुखदायक समझके येन केन मन को उस का अनुसारी रखे। यदि उन की रीति में मन कुछ कष्ट मान के स्वेच्छाचारी बनना चाहे तो बलात्कार से उधर ही नियुक्त करे। बहुत लोग हैं कि जिन्हों ने गुरुमुखता धर्म के पूर्ण करने को अपना चित मानों मृतक बनाया अर्थात् यह नियम धाराहै कि चाहे प्राण भी दूर हो जावे परन्तु गुरु की आज्ञा के बिरुद्ध जहां लों हो सके मैं कभी नहीं चलूंगा॥

इस में इतनी बात और भी जाननेके योग्यहै कि वह गुरु केवल कान में फूंक लगानेवाला ही न हो किन्तु शिष्य के संशयों को भी छेदन कर सकता हो॥

मनोमुख-जो गुरु और महात्मा सत्पुरुषों की बात पर कान न

घर के केवल मन के कहिने पर चले। जैसा कि बहुत लोगों का स्वभाव है कि जब मन्द कर्मों मे प्रवृत्त होने लगते हैं तो चाहे बुद्धि उन की मन्दता को प्रकट भी कर देती है तौ भी मन के पीछे लग के उस मन्द कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। मन्द भोगों में प्रवृत्त पुरुष को कुछ काल तो चाहे सुख होता है परन्तु अंतको वे अमृतरूप भोग विष रूप हो जाते हैं। मनोमुख पुरुष अपने मनके आधीन हुआ हुआ चाहे भोगादिमें कई प्रकार के क्लेश भी देखता है तथापि मन को वश न कर सकने से बारंबार विषयासक्त रहिता है। मनोमुख पुरुष को कुछ लज्जा, भय आदिक भी नहीं होते। कभी त्यागी कभी ग्रही कभी चोर, कभी साधु, कभी यति, कभी व्यभिचारी इत्यादि अनेक स्वांगों को एक क्षण में धारण कर लेता है। और ऐसी २ निषिद्ध युक्तियां बना के जिधर मन चाहे उधर ही नचाता है। जैसाकि:—

मनुष्य देह पा के जो हम मन भाते भोग न भोग लें तो फिर कब प्राप्त होंगे॥

यदि मन ही भोगों से तरसता रहा तो जन्म का क्या फल है॥

हम मर जायेंगे, जगत् छूट जावेगा सब कुछ यहां ही रह जावेगा हमारा वही है जो खा उड़ा जायें नहीं तो क्या हम छाती पर ले जायेंगे॥ इत्यादि

फिर मनोमुख पुरुष मनको किंचित् पीड़ा देख के सहस्रों लाभ और सुखों को त्याग देता है। और औषधके प्रयासरूप किंचित् कष्ट की भीति से रोगजन्य अत्यन्त पीड़ा को सहारता रहिता है। अथवा पाक क्रियामें आयास मान के क्षुधारूप अग्नि में जलता रहिता है। तात्पर्य यह कि वह मन का घोड़ा और मन उस पर आरूढ़ हो के जहां चाहे ले जाता है। यह नहीं हो सकता कि कभी आंख उघाड़ के देखे कि मन पापी मुझे कहाँ लिये जाता है। और अंत को मेरी क्या दशा होवेगी। मनोमुख पुरुष अपने इस अमोलक जीवन में विषयासक्ति, पर निन्दा, वादानुवाद, चोरी, व्यभिचार, मान, मद, ईर्षा, वैर, द्रोह, क्रोध, कपट, आदिक पापों के विना और कुछ उपार्जित नहीं कर सकता। और जब कभी किसी महात्मा की संगति से सन्मार्ग में भी चल पड़े थोड़े दिन ही स्थिर रहिता है

कि जब लों कोई कठिन क्रिया सामने न आ जावे कि जिसके करने से मन को कुछ बोझ सा प्रतीत होने लगे। जैसा कि यदि कोई साधु कहे कि तुम अशुद्धता को तज के नित्य का स्नान और असत्य भाषण को छोड़ के सत्य बोलना ग्रहण करो तो उस साधुके दर्शन का त्याग कर देना परन्तु उस शुभाचार का बोझ नहीं उठाना। योग्य है कि मुमुक्षु पुरुष मनोमुख मनुष्य का एक क्षण भी संग न करे॥

९ परिवर्त्तन-चित्त का सदैवी और यथार्थ स्वभावसे उलटके रोगी होजाना। सो यह रोग दो प्रकारका होताहै एक गुप्त, दूसराप्रकट:-

गुप्त परिवर्त्तन-सत्वादि तीनों गुण अपने समभाव को त्याग के न्यून वा अधिक हो गये हों। अथवा किसी चिंता, शोक, भय, विचार में मन लगा हुआ होवे। क्योंकि उस समय मन का यह स्वभाव हो जाता है कि चाहे कोई उसके सामने प्रेम भाव और आनन्द की बात भी करे तो भी क्रोध की ज्वाला प्रचंड हो के दग्ध करने लगती है। उपाय इस का यह है कि यदि सत्वादि न्यून अधिक हुए हों तो वारंवार आत्म चिकित्सा के ग्रंथों का अध्ययन करे। और यदि किसी सोच संकोच वा चिंतादि से मन तप्त है तो ऐसे एकांतस्थल में चला जावे कि जहां किसी का शब्द भी न सुनाई देवे क्यों कि यदि जन समुदाय में रहेगा तो उस का किसी के साथ विरोध हो जावेगा। अथवा जब किसी के शब्दादि बुरे लगें तो अपना ही दोष समझे कि मैं जो इस समय चिंतादिसे ग्रस्त हूं इस कारण मुझे सर्व संसार बुरा लगता है। सो योग्य है कि मैं इस समय जैसे बने अपनी जिह्वा को रोक छोड़ूं। अथवा चिंतादिसे ग्रस्त प्राणीको चाहिये कि यद्यपि उस को निद्रा तो नहीं पड़ा करती परन्तु जैसे कैसे मुख ढांपके सोजावे। इस में दो फल हैं। एक यह कि यदि निद्रा आ जावेगी तो अवश्य ही मन स्वस्थ हो जावेगा। और यदि निद्रा न आई तो एकांतमें पड़ जाने से लोगों के बोल चाल नहीं सुनने पावेगा कि जो उस के मन को तपाते और क्षुब्ध करते हैं॥

प्रकटरोग यहहै कि शरीरमें कोई ज्वरशूल आदिक खेद और व्रण क्षत आदिक कष्ट होवे। इससे भी पुरुषका धैर्य टूटके ऐसा परितप्त हो जाताहै कि बात बातमें उस से क्रोध प्रकट होताहै परंतु इसक्रोध

को प्राणीके वशसे बाहर होनेके कारण बुद्धिमान दोषरूप नहीं मानते क्योंकि जैसे शरीर के शिथिली भाव में गोपनीय अंग उपांग की लज्जा अवश्य शिथिलहोजातीहै वैसे रोगदशामें यदि बुद्धिके शैथिल्यसे धैर्य्यादि बुद्धि व्यवहार भी शिथिल हो जायें तो चित्र नहीं। उपाय इस रोग का यहहै कि प्राणी उस दशामें क्रोध निवृत्तिके निमित्त मौनका व्रत करे कि मैं जल औषधि मांगने के बिना और किसी बात में जिह्वा नहीं खोलूंगा ॥

१० प्रभुत्व–अपने स्त्री पुत्र भृत्यादि पर महत्त्व का होना । जहां प्रभुता होती है वहां मनुष्य अपने भृत्यादि के व्यवहार से क्रुद्ध हो जाता है । यह क्रोध दो प्रकार का होता है। एक स-कारण दूसरा अ-कारण। यद्यपि स-कारण क्रोध को कई लोग निन्द्य नहीं मानते परन्तु मुमुक्षु पुरुषको उससे भी अवश्य बचना चाहिये क्योंकि धीरे२ अधिक हो के अकारण हो जाता है ॥

स-कारण क्रोध–यह है कि अपने आधीन पुरुषों के अपराध देख के क्रोध करना। उपाय इसका यहहै कि प्राणी इस बात को विचारे कि जितना इन को बुद्धि, बल, विचार है उतना ही कार्य्य वर्ग में प्रवृत्त होतेहैं। यदि इनको मेरे समान बुद्धिबल होता तो मेरे आधीन क्यों होते । और यदि वे शक्त हो कर अपराध करें तो भी उन पर क्रोध करना उचित नहीं किंतु आनंद पूर्वक पृथक्‌कर देनायोग्यहै ॥

अ-कारणक्रोध–इसका नामहै कि अपनी क्रूरता और कुटिलता के प्रतापसे भृत्यादिपर वृथाही अपराध आरोपण करलेना और क्रोध प्रकट करना जब किसीकी ओरसे मन परितप्त और क्रुद्ध होताहै तो उसके अच्छेकाम भी बुरे भासने लग जातेहैं। फिर जब क्रुद्धपुरुष उसेभलेबुरे दोनों काममें बारंबार झिड़कने दबकने लग जाताहै तब अंतको वह भी निर्भय हो के उस की पगड़ी उतारने को उपस्थित हो जाताहै ॥

११ दर्प–अपने हाथ से किये बिना किसी अन्य के किये हुए अच्छे काम को भी अच्छा न कहिना। प्रयोजन यहहै कि दूसरा पुरुष चाहे कैसा ही बुद्धि और ज्ञान से काम को सुधार के लावे तथापि उसमें दोष लगादेना। ऐसे पुरुष का मन न कभी आप शांति पाता और न कभी समीपवर्त्ती लोगोंको सुखसे बैठने देताहै। वह चाहे कैसाहीधनी

और सम्पन्नहो अनेकऔरचाकर और सेवक पासहों पर उसको अपने आवश्यक काम सदा आपही करने पड़तेहैं। वह प्रतिश्वास लोगोंके काम देख२ क्रोध करता और जल २ मरता है। और अपने किये हुये काम चाहे कैसेही बुरेहों परन्तु जब कोई उन की बुराई जिताने लगे तो उन के गले का हार बन जाता हैं। तात्पर्य्य यह कि यह दर्प्प भी क्रोध की उत्पत्ति में मुख्य कारण हैं। उपाय इस का यह है कि अपने सेवक वर्ग का अपने हस्त पदादि अंगों के समान प्रिय समझ के मन को दयालु और धीमा बनावे। तात्पर्य्य यह कि इन उक्त ग्यारह बातों से क्रोध की उत्पत्ति होती है जिस ने इस से बचना हो वह इन ग्यारह बातों को समीप न आने देवे॥

अब दूसरा जो "उद्योग" नाम रोग कहा था उस का व्यवहार सुनो। उत्पत्ति उस की तमोगुण की अधिकता से होती है। और अर्थ उस का यह है कि अपने शौर्य्य के अभिमान से किसी काम को भारी न समझना वरन अपने प्राणको इस हेतुसे हथेली पर लिये फिरना कि हम संसार में किसी से नहीं डरते। उपाय इस का यह है कि सदा इस बातको दृष्टिपथ रखे कि शूर-वीर वहीहै जो दुःख सुख, हानि, लाभ में व्याकुल न होवे और काम क्रोधादि शत्रुओं पर विजय पावे न कि अपने प्राण को वृथा कष्ट देवे। वा तुच्छ जीवों के भयका कारण बने, आश्चर्यहै कि लोग बाहरके शत्रुओंके जीतनेका यत्न करते हैं और अंतर के शत्रुओं की ओर कभी दृष्टि नहीं करते। जैसा कि काम और क्रोध लोभ और मोह ये चार शत्रु बडे बलवान घर में बसते और प्रतिक्षण महा दुःख देतेहैं। बाह्य शत्रुओंके जीतने को तो सारा जगत ही उद्योगी रहिताहै परन्तु ऐसे लोग बहुत थोडे निकलेंगे कि जो काम क्रोधादि के वेग को सहार सकें। फिर इस उद्योग से अभीति, हठ, निठुरता इन तीन रोग की उत्पत्ति होती है॥

अभीति-जिन स्थानों में सिंह, सर्प, वा शस्त्र आदिक का संग्रह और मृत्यु का भय हो उन में जाने को सब से अग्रणी हो जाना। और ऐसे बड़े भारी शत्रु समुदायसे युद्धादि की इच्छा करना कि जो क्षण में मुख तोड़ देवे। उपाय इस का यहहै कि सदा इस बात को

सोचे कि मनुष्यों को जो बुद्धि है इस का यही तात्पर्य है कि प्राणी अपने हानि लाभ को पूर्व ही विचार के काम करे। जो कोई अपनी शक्ति से बाहर बुद्धि बर्जित कार्यों और स्थानों में प्रवृत्त होना चाहता है वह अंतको अत्यन्त दुःखी होता और लज्जा का पात्र बनता है। देखो यदि कोई तुच्छ और असमर्थ जीव अकेला ही किसी सेनापति के साथ लड़ना और किसी भारी पत्थरको उठाना चाहे तो कैसा उपहासका पात्र बनेगा। अथवा अभीतिके अभिमानमें सर्प के मुखमें अँगुली देवे तो अपने जीवन धन को कैसा खोवेगा॥

हठ इस का नाम है कि जिन कार्यों और व्यवहारों में बारंबार कष्ट और दुःखादि को उठाया हो उन को इस हेतुसे न त्यागना कि लोग मुझे तुच्छ और असक्त तथा हार गया समझेंगे। अथवा तुच्छ से लाभ और सुख के निमित्त अपने धन, मान, प्रतिष्टा को नष्ट करना। जैसा कि मूर्ख लोग बहुत सा खाने और बोझ उठानेका हठ बांधते और राज द्वार में बारंबार अपने झगड़ों में परास्त हो के भी हठ नहीं छोड़ते किन्तु आगेसेआगेझगड़ाबढ़ाते जातेहैं। तथा तुच्छ लाभ अर्थात् व्यभिचार आदिक में प्रतिष्टा भंग कर लेते हैं। उपाय इस रोग का यह है कि संपूर्ण कार्यों के अंतम फलको बुद्धि तुला के साथ तौल के आरंभ कियाकरे। जैसा कि यदि मैं इस काम का हठ बांधू तो क्या लाभ और क्या हानि होगी। सो यदि लाभ थोड़ा और हानि अधिक अथवा दोनों सम हों तो उस में कधी प्रवृत्त न होवे। क्योंकि जिस कार्य में आयास बहुत और फल तुच्छ हो उस का आरंभ बर्ज्जित है॥

निठुरता-शौर्य्य के अभिमान से अनेक तुच्छ मनों को सिताना। यद्यपि वह जान बूझ के तो ऐसा करना नहीं चाहता परन्तु धीरे २ उस का स्वभाव ही ऐसा निठुर हो जाता है कि उस के काया, मन, वाणी,से वैसी ही क्रिया उत्पन्न हों कि जिनसे स्वभावतः अन्य जीवों को कष्ट पहुंचे॥

काया से यह कि अकड़ ऐंठ के चलने में काई निर्बलों को धक्का लगना। ऊंची दृष्टि रहिने के कारण सहस्रों सूक्ष्म जंतुओं का पावों में दब जाना॥

मन से यह कि सदा यही विचार मन में फुरते रहिना कि अमुक पुरुष जो धन में मुझ से उच्च है उस का धन नष्ट होजावे। अमुकजो विद्यामें उत्कृष्टहै उसे विवादसे परास्त करूं। अमुक जो जगत् में पूज्य और श्लाघ्यहै उसे कोई कलंक लगाके निन्द्य बनाऊं इत्यादि। प्रथम तो पूर्वोक्त मन्द संकल्प केवल मन मेंही फुरतेहैं और फिर जब कोई संकल्प बलवान हो जाता है तो देह से भी वैसे ही काम निकलने लग जातेहैं कि जिनसे अन्य जीवोंको दुःखमिले। यदि ठीक विचारो तो हिंसा, वैर, कपट आदिक समस्त पाप व्यवहार इस निठुरता से ही प्रकट होते हैं। निठुर पुरुष जो किसी का दुःख देख के नम्र नहीं होता इसी कारण उस को पुरुष व्याघ्र कहिना चाहिये॥

तृतीय जो "क्लैब्य" नाम रोग कहा था उत्पत्ति उस की तमोगुण की न्यूनता से और अर्थ उस का यहहै कि यद्यपि शरीर समस्तअंगों से सम्पन्न और बल, धन, गुण, मान, परिवार आदिकोंमें कुछन्यूनता नहीं तौ भी किसी अन्य बलवान के आधीन रहिना। और मन की तुच्छता के कारण अपने को किसी कार्य व्यवहार के योग्य न समझना। ऐसे पुरुष अपने जीवित पर्यंत न कुछ अपनाही सुधार सकता है और न किसी दूसरे के काम आता है किंच गोबर के कीट की नाईं उस का जन्म वृथा ही व्यतीत हो जाता है। सच है कि जो पुरुष न तो दाताहो न शूर-वीर और न परोपकारीहो उसकीजननी नव मास वृथा बोझ उठातीहै। उपायइस रोगका यहहै कि इसपुरुष को अहंकारी और मानी और महामन पुरुषोंका संगकराना चाहिये। क्योंकि इन के संग से जब वह कुछक अपने सामर्थ्य और पुरुषार्थको समझने लग जावेगा तो उसे शौर्य्य धर्म की प्राप्ति हो जावेगी। फिर इस क्लैब्यसे अशक्ति, विस्मय, भय इनतीन रोगकी उत्पत्ति होतीहै॥

अशक्ति-तुच्छ और सुगम व्यवहारों में भी सदा यही विचार करते रहिना कि क्या जाने इस कार्य को मैं कर सकूंगा वा नहीं। अथवा इस कार्यकी साधन सामग्री मेरे पासहै वा नहीं। अशक्त पुरुष इसी ऊहापोह में कार्य का समय व्यतीत करके चुपचाप बैठा रहिता है। फिर थोड़े ही दिनोंमें उस अशक्तिके प्रतापसे प्राप्त सुखों का विनाश और दारिद्र, आलस्य, चिंता, अकिंचिनता आदिक फलों की प्राप्ति

हो जाती है। उपाय इसका यह है कि जो जो कार्य आगे आवे यथाधिकार उस के करने को उद्दित हो बैठे और निश्चय रखे कि जब अन्य लोग धीरे २ संपूर्ण कार्यों को कर लेते हैं तो मुझे किस बात में अशता है। और लंबी दृष्टि रखे अर्थात् यदि अब की बार यह कार्य सिद्ध नहीं हो सका तो दूसरे वा तीसरे आरंभमे तो अवश्य ही सिद्ध कर लूंगा। तात्पर्य यह कि प्राणी को भरोसा न हार ना चाहिये। क्योंकि यदि आपदा आने से पहिले कोई पक्षी भरोसा हार के अपने पक्षों को संकोचले और उड्डीयमान न होवे तो अवश्य मृत्यु पावेगा। और यथा शक्ति उद्यम करे तो बच जाना सम्भव है। ऐसा कोई कार्य नहीं कि जिस में यथा रीति उद्यम करता हुआ पुरुष सिद्धिसे शून्य रहि जावे क्योंकि शक्तिसे सब कुछ समीप ही है कुछ दूरनहीं। जैसा कि शक्तिवाली पिपीलिका चाहे तो धीरे२ सारी पृथिवी का अटन करि आवे और अशक्त पुरुष सारी आयु में अपने घर का द्वार न छोड़े॥

अशक्ति यह पदार्थ है कि सांसारिक व्यवहार अर्थात् खान, पान, भोग, लेन, देन आदिक क्रिया की सिद्धि और विपत्तिकाल में सहिष्णुता आदि गुणों की प्राप्ति में शक्त न हो सकना। और यदि कोई अन्य पुरुष सहायता और शिक्षादि प्रदान भी करे तो सांगो पांग ग्रहण न करसकना किंच समस्त कार्योंमें कांपते हुएही प्रवृत्त होना। और यदि किसी कार्यके करते२ किसीने थोड़ी सी भी धमकीदिखाई तो तुरंत संपूर्ण अंगों का ढीले पड़ जाना। अथवा यदि कोई किसी सिंह, सर्प, चोर, शत्रु, शस्त्र आदि के पौरुषकी बात सुनावे तो बैठे ही मूत्र निकल जाना तथा रात्रि को स्वप्न में चौंक चौंक उठना। प्रतिकार इस का यह है कि अपने से निर्बलों और अशक्तोंकी प्रसन्नता को देखता रहे कि वे अपने २ कार्यों में और सुख दुःखादि साधनों में कैसे नियुक्त रहिते हैं। सो यदि कोई उन को नहीं खा लेता तो मुझे कौन मारेगा। इस अशक्ति के दो भेद हैं एक न्यून, दूसरा अधिकः—

न्यून अशक्ति–यह है कि जब कोई काम अथवा कोई कठिनता सामने आवे तो उसे देखके दब जाना। जैसा कि कई पुरुष चौरादि

को देख के जागते ही सोतों सा मुख बनाते और अपने समक्ष ही घर लुटाते हैं॥

अधिक अशक्ति–यह है कि देखा तो कुछ नहीं परन्तु जो विपत्ति दश वर्ष को आवेगी और जिन कठिनताओं का आयु पर्यंत भी समागम नहीं पड़ेगा उन की चिंतामें आतुर रहिना। जैसा कि कोई कहे भाई यदि दो चार बर्ष को दुर्भिक्ष वा राजविग्रह वा मरी पड़ जावेगी तो हम क्या करेंगे। अथवा यदि अमुक नदी जो यहां से बीस कोस पर बहिती है हमारे नगर को बहाय ले जावेगी तो हम कैसे त्राण पावेंगे॥

फिर वे अशक्त पुरुष चाहे मन के विकारों को जानते और उन के कारण सदैव दुःख भी पाते हैं परन्तु मन को अपने वश नहीं कर सकते। कई वार अनेक मन्द कर्मों से दुःखित हो के यह नियम भी करते हैं कि फिर इस कुकर्म में जीवित लों प्रविष्ट नहीं होवेंगे परंतु दो घड़ी नहीं पड़ती कि आप ही उस नियम को तोड़ देते हैं। उन के काया, वाणी, मन पर यह विश्वास कभी नहीं करना चाहिये कि जो कुछ करते वा कहिते वा करना चाहते हैं सो अवश्यही पूरा कर देवेंगे। यद्यपि वे सदा अपनी बाचा और नियमों को पूर्ण न कर सकने के कारण लज्जा उठाते हैं तथापि किसी बात पर दृढ़ता नहीं बांध सकते। यदि किसी की शिक्षा वा प्रेरणा से वे शुभ कार्यों में भी प्रवृत्त हों तो उतना कालही रहितेहैं कि जब लों कोई शुश्रूषा वा शरीर से टहिल, सेवा नहीं करनी पड़ती क्योंकि वे अपने हाथों से एक तिनका मात्र भी नहीं तोड़ना चाहते॥

विस्मय–इस का नामहै कि जो बात वा वस्तु सामने आवे उसके ग्रहण, त्याग की सुध भुला के दर्शन मात्र में ही चकित हो जाना। बुद्धि को यह सामर्थ्य न रहिना कि उस के यथा तथा को निर्णय कर सके और असंशय होवे॥

यह विस्मय दो भांति का होताहै एक "सांसारिक" दूसरा "पारमार्थिक" :—

सांसारिक–यह होता है कि जब संसार के किसी वस्तु और ब्यवहार की अद्भुतता और नानात्त्व को देखना तो हाथ मलते रहजाना।

अर्थात् यह कहिना कि यह काम मनुष्य का किया हुआ नहीं किन्तु किसी देवताने किया होवेगा । और जो काम किसीने अपने चातुर्य्य से किया होवे उसमें सिद्धि आरोपण करके दासानुदास बन जाना। उपाय इस रोग का यह है कि जो जो आश्चर्य कर्म जगत् में देखे उन को बुद्धिजन्य समझे। और निश्चय करे कि बुद्धिमान वैसे कई विचित्र कार्य्य कर सकते हैं जिन को मूर्ख लोग कौतुक समझते हैं। सो यदि मैं भी इन कामों का आद्योपांत समझ के इन के समान करने लगूं तो सब कुछ कर दिखाऊं । तात्पर्य यह है कि जिस कामको देखे उस के करने और समझने में उद्योग करे न कि चकित हो के आंख मूंदे और हाथ पांउ को ढीला कर ले ॥

प्र०–क्या जगत् में जो अनेक व्यवहार सिद्धिसे किये हुए सुने जाते हैं वह सब कुछ बुद्धि चातुर्य्य ही समझना चाहिये ?

उ०–हमने जहां तक देखा सब बुद्धि चातुर्य्यही पाया। सो बस अब जो कई एक आश्चर्य कर्मों का हमने अंत देख लिया इस कारण किसी बात को देख के विस्मय नहीं होता॥

प्र०–क्या क्या आश्चर्य हैं जिन को आपने देखा और उन का अंत समझ लिया है ?

उ०–नाम किस २ आश्चर्य का लें परन्तु सङ्क्षेप से अब कुछ यहां लिख देते हैं। सुनो–कारण तो समस्त आश्चर्यों का बुद्धि चातुर्य ही है परन्तु बुद्धिमानों ने उसे तीन भांति से प्रकट किया है अर्थात् यंत्र, मंत्र, तंत्र :—

यंत्र–किसी पत्र पर कुछ लिख के कटि भुजा और कंठ में बांधना और उसके द्वारा शरीरकी आरोग्यता और मारण, मोहन, उच्चाटन वशीकरण आदिक आश्चर्योंकी इच्छा करना । ये सब कामतो जगत् में आप ही होते रहिते हैं परन्तु मूर्ख लोग कारण उस का उस यंत्र को समझलेते हैं। यह नहीं जानते कि जैसे क्षुधातुर के गले में अन्न और प्यासे की कटि पर जल बांधने से क्षुधा, पिपासा रूप अंतरीय रोग निवृत्त नहीं होते वैसे ही कटि, भुजा, कंठ में धागा और यंत्र बांधा हुआ अंतरीय रोगों को कैसे दूर करेगा ॥

मंत्र–किसी वचनवा नामको पढ़के फूंकना और मारण, मोहनादि

कार्य की इच्छा रखना। यह भी अज्ञान है क्योंकि बिना गाली और आशीर्वाद के अपने मुख से कहा और पढ़ा हुआ अन्य शब्द कोई भी दूसरे पुरुष के मन को नहीं हिला सकता। सो हां यदि गाली और आशीर्वाद को सिद्ध मन्त्र कहो तो कुछ झूठ नहीं। क्यों कि इन दोनों मन्त्र का फल प्रत्यक्ष में दिखाई दे जाता है॥

तंत्र–वस्तुवर्ग के मिलाने से मारण, मोहन आदिक व्यवहार की इच्छा रखना। हां यह तन्त्र अवश्य फल दाता है क्योंकि वस्तुवर्ग में ऐसी विचित्र शक्तियां हैं कि जिन से अत्यन्त आश्चर्य कर्म प्रकट हो सकते हैं। जैसा कि विष में मारण शक्ति, और घृतादि में पुष्टि शक्ति प्रसिद्ध है। फिर वस्तुओंके संयोगमें अनेक ऐसे आश्चर्य देखे जाते हैं कि जिन से मनुष्य अत्यन्त चकित हो जाता है। जैसा कि किंचित् गंधक और क्षारक अर्थात् शोरा और कोलों के संयोग से अति ऊंचे मन्दिर और पर्वतादि भी क्षण मात्र में उड़ जाते हैं॥

हाथ पर सरसों का उगाना, दिन में तारों का दिखाना, आकाश में उड़ना, नदी पर बिना आश्रय के चलना, अग्नि को शीतल कर देना, जल को आग लगाना, एक क्षण मे आमका वृक्ष उगाना, इत्यादि जो २ इन्द्रजाल आश्चर्य रूप प्रकट हो रहे हैं चाहे सब वस्तुओं के संयोग से ही होते हैं परन्तु स्थूल बुद्धिवाले लोग इन को दृष्टि रोध वा मन्त्र क्रिया समझ के चकित हो जाते हैं। लोगों का स्वभाव है कि जो काम अपनी बुद्धि से बाहर कहीं देखते हैं उस में यह नहीं सोचते कि इस को किसी ऐसे बुद्धिमान ने किया होगा जो मुझ से अधिकहै किन्तु किसी सिद्ध वा देवता का किया हुआ मान बैठतेहैं॥

संसार की दृष्टि में जो लोग सिद्ध थप रहे हैं यदि उन के अंतरीय कुकर्मोंको लिखने लगें तो मुख्य प्रसंग छूट जाताहै परन्तु सामान्यत: कुछ लिखते हैं। ये सिद्ध लोग जब अपनी प्रतिष्ठा के निमित्त किसी को ऐसे बचन कहते हैं कि जा तेरा पुत्र मरे वा घर जले तो अपनी बाचा पूरी करने के लिये उस के पुत्र को गुप्तमें विषखिलाते और घर को आप ही किसी गुप्त प्रकार से आग लगा देते हैं धिक्है उन की बुद्धि को॥

इस पारमार्थिक विस्मय के कई भेद होते हैं अर्थात् ऐसी २ बातों

में सदा विस्मित रहिना कि ईश्वरहै वा नहीं। जगत् कैसे बना,कब बना काहेमें से बना,किसने बनाया,क्यों बनाया,कब बनाया। पृथिवी जल, पवन, अग्नि, आकाश आदि के भिन्न २ स्वभाव और व्यवहार कैसे और क्यों हैं। इत्यादि सम्पूर्ण विस्मयोंका उपाय केवल महात्मा का संग और विद्या और यथार्थ विचार है अन्यथा ये विस्मय कधी निवृत्त नहीं हो सकते। इस विस्मय नाम रोग से कधी २ अध्रुवता नाम रोग भी उत्पन्न हो जाता है अर्थात् कभी किसी मत पर श्रद्धा करना और किभी किसी पर, दो चार वर्ष किसी पर दृढ़ नहीं रहिना॥

भय-थोड़ी २ बात से अत्यन्त भय करने लग जाना। इस का यह स्वभाव है कि चाहे कैसा स्थूल देह और बलवान पुरुष होवे तथापि सर्व प्रकार मन धड़कता रहिता है। उपाय इस का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि जिन बातों से मैं भय करता हूं क्या जाने वे झूठ हैं वा सत्य। यद्यपि भय तो संसार में अनेक भांति का होता है परन्तु उन में से तीन भांति का भय बहुत प्रसिद्ध है:—

१ अपने अप कर्मका भय, जो क्रिया अपने तन मनसे हुईहो उस का भय रहिना। जैसा कि चोर और व्यभिचारी वा निन्दक तथा विघातक को होता है। सो उपाय इस का यह है कि प्राणी अपने पूर्व अपराधों से पछता के आगे को यह नियम बांधे कि मैं गुप्त प्रकट किसी स्थान में कभी कोई अपराध नहीं करूंगा। अथवा यदि राजा उस का दण्ड देवे तो उस को सहार लेना क्योंकि वह किये का फल है न कि कुछ वृथा दण्ड मिलाहै। इस भयके कारण जो बहुधा झूठ बोलना और धन लुटाना, आत्म घात करना, इत्यादि उपद्रव बन पड़ते हैं इस कारण इस को झट ही त्याग देना योग्य है नहीं तो जब लों रहेगा पाप करावेगा॥

२ भूत, छाया, टोना, ग्रह, पिट आदिकका भय, अर्थात् जब किसी अँधेरे स्थान में जाना अथवा किसी दुःख में अचानक ग्रस्त होना तो डर डर मरना। उपाय इस रोग का यहहै कि प्राणी वह विद्या अध्ययन करे कि जिससे भूतादिका होना और न होना निश्चय होजावे। तथा उन के स्वभाव और शक्तिका ज्ञान हो जावे। यद्यपि इस बात

को सब की बुद्धि जान सकती है कि मनुष्य के देह में भूत के प्रवेश को कोई स्थान नहीं और न अरूप वस्तु की छाया वा बोझ किसीको दबा सकता है तथापि बाल्यावस्था की गृहीत शिक्षा के कारण वे निर्भय नहीं होसकते। उलटा यदि कोई दयालु बुद्धिमान उन्हें उत्तम युक्तियां सुना के भूतादि भय से निवृत्त करने लगे तो उस उपदेष्टा को नास्तिक वा अशुद्ध कहि के निन्दा करने लग जाते हैं॥

प्र०–मैं ने तो बहुत स्त्री, पुरुष भूत गृस्त देखे और कई लोग इन की छाया में मृत्यु पाते भी सुने हैं क्या आप मंत्रादि की नाईं इन का भी आवेश नहीं मानते?

उ०–तुम तो क्या भारतखण्ड में से ऐसे लोग बहुत थोड़े निकलेंगे जो भूतादि का भय न रखते हों। अच्छे विद्वानों को देखा है कि जब कोई अचानक पीड़ा आ जावे तो कारण उस का भूत छाया मान के औषधि में तो उद्यम नहीं करते परन्तु झाड़-फूंक करने कराने लग जाते हैं। सच तो यह है कि जब किसी स्त्री, पुरुष को तुम भूत गृस्त देखो क्या तो वहां उस रोगी का कोई चरित्र समझो और क्या कोई रोग विशेष है कि जिसके कारण वह अचेत हो कर कुछ यद्वा तद्वा बकने लग जाता है॥

एक बात मैं परीक्षा के योग्य तुम को सुनाताहूं कि जिस बालक ने भूत और हाऊ आदिक का जन्म से कभी नाम न सुना हो उसे अँधेरी रातके समय श्मशान भूमि आदिक भयानक स्थानमें भी अकेला छोड़ दें तो किंचित् भय नहीं करेगा। और जिस ने जन्म से नाम सुन रखा है वह अपनी ही छाया को भूत मान के डरने लग जाता है। कई लोगों ने अपने ही मन से भूतादि भ्रम उठा के मृत्यु पाई है क्योंकि यह बात निश्चित है कि मनमें जिस वस्तु का दृढ़ विश्वास बांधा हुआ हो कभी २ उस का झूठ स्वरूप भी मन में कल्पित हो के प्रकट हो जाता है। इस हेतु से अब तुम यही समझो कि यह भूतादि भय केवल उन्हीं पुरुषों को है कि जो जन्म से इन के नामादि सुनते रहे॥

३ मृत्यु का भय–यह सब से बड़ा और सच पूछो तो इसी के कारण सारे भय होते हैं और समस्त भयों का बीज यही है। क्यों

कि जब कुछ भय होता है तो उस में बहुत संशय मृत्यु का ही होता है। जिस को जीने की इच्छा नहीं उसे किसी का भय नहीं। इस मृत्यु का भय होने में तीन कारण हैं:—

एक यह कि ये जो सुंदर मन्दिर और चन्द्रमुखी स्त्री और मनोहर पुत्र वा मित्र मेरी दृष्टि में आते हैं वे सब छूट जायेंगे। और मैं जो संसार की अनंत रचना और विचित्र भोगों में अनुरागी हो रहा हूं फिर कहां पाऊंगा। तात्पर्य यह कि जिन पदार्थों के मिलापमें आनंद होता है उन के वियोग को सहारना कठिन होता है। सो मृत्यु दशा में जो सर्व संघात से वियोगी होना पड़ता है इसी कारण इस से सब कोई डरता है। जिस किसी ने इस कारणको निवृत्त करना हो उपाय यह है कि वह जन समुदाय में अत्यन्त संग और समीपता को त्याग के एकांत सेवी रहे क्योंकि समीपता के अभाव से संसार में अनुराग नहीं होवेगा। और अनुराग के अभाव से मृत्यु के समय वियोग जन्य उपताप और भय नहीं होवेगा। जिस वस्तु में अनुराग नहीं उस के वियोग में किसी को दुःख नहीं होता॥

दूसरा कारण मृत्यु के भय में यह होता है कि मैं नष्ट हो चला मेरा जगत् से नाम मिट जावेगा। उपाय इस कारण की निवृत्ति का यह है कि वह प्राणी पहिले इस बात को विचारे कि जब एक दिन मृत्यु का आना आवश्यक है तो उस से भय करने में क्या लाभ है चाहे आज मृत्यु आ जावे चाहे दश वर्ष में आवे परन्तु एक दिन अवश्य मरना होवेगा॥

दूसरा उपाय इस कारण की निवृत्ति का पराविद्या का ज्ञान है। उस के प्राप्त करने से यह निश्चित हो जावेगा कि मैं इस एक देह के नष्ट हुएसे नष्टनहीं होता क्योंकि मैं केवल यह एक देहही नहीं हूं॥

फिर एक यह उपाय भी इस कारण की निवृत्ति का है कि सदा इस बात को दृष्टिपथ रखे कि प्रथम तो सदाकाल कभी किसी का नाम जगत् पर नहीं रहिता और यदि नाम रहि भी गया तो मरने के पीछे मेरा क्या बनावेगा, नाम तब लों ही सुख देता है कि जब लों देह बना रहे। वे लोग बड़े मूर्ख हैं जो देह पात के पीछे किसी पदार्थ की कामना रखते हैं॥

मृत्यु के भयमें तीसरा कारण यह है कि देह पात के पीछे क्या जाने मेरी क्या गति होवेगी और कैसे कैसे सुख दुःख मुझे भोगने पड़ेंगे। उपाय इस कारण की निवृत्ति का यह है कि प्राणी यथार्थ ज्ञान अर्थात् परा विद्या को प्राप्त करे। अथवा जिन मन्द कर्मों के करने से देह पात के पीछे इस ने पर लोक का दण्ड और दुःख सुना हुआ है उन को कभी मन में न आने देवे। हम ने बहुत परीक्षा के पश्चात् यह निश्चय किया है कि परमेश्वर और पर-लोक के भय द्वारा पाप कर्म से बचने वाले लोग तो बहुत दुर्लभ प्राप्त होते हैं परन्तु जितने लोग मन्द कर्म को त्यागते हैं उनके मन में केवल राज दण्ड वा लोकापवाद का ही भय होता है। हम सच कहिते हैं कि यदि राज दण्ड जगत् से उठ जावे तो परमेश्वर और पर लोक दंड के भय से मन्द कर्म का त्याग कोई कभी न करे। देखो जो कर्म पर लोक में दंड देने वाले और परमेश्वर को कुपित करने वाले जगत् में ऐसे भी हैं कि जिन के करने से राजा कुछ दंड नहीं देता प्राणी परमेश्वर और पर लोक के भय से उन्हें कभी नहीं छोड़ता और जिस में राज दंड दिखाई देवे उसके करने में कभी उद्यम नहीं करता। जैसा कि देखो दयालु परमेश्वर की दृष्टि में किसी जीव को दुःखी करना श्रेष्ट नहीं और वह उस का दंड देता शास्त्रों से सुना जाता है परन्तु बकरी, बकरे के मारने में जो किसी को राज दंड कुछ नहीं होता उन्हें तो सब कोई निर्भय हो के दुःखी करता और मार के खा लेता है और मनुष्य के मांस खाने में कोई उद्यम नहीं करता कि जिस के मारने में राज दंड मिलता दिखाई देता है। सो बस जो लोग परमेश्वर और पर-लोक का भय प्रकट करते हैं वे वाचनिक हैं सच्चा भय राज दंडादिक ही है॥

बस जो कोई इन सम्पूर्ण रोगों से बचे उस में यथार्थ शौर्य्य की प्राप्ति समझो नहीं तो कोई शूर-बीर नहीं कहा जाता। जो लोग मूर्खों की नाई सिंह, सर्पादि के मुख में अँगुली दे कर तथा कूपादि को कूद कर शौर्य्य को प्रकट करते हैं वे शूर-बीर नहीं किन्तु जड़ हैं॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत प्रवाह पूर्व भाग आत्म चिकित्सायां तमो गुण वर्णनं चतुर्थस्तरङ्गः समाप्तः ॥

॥ ओ३म् परम गुरुवे नमः ॥

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्य पूर्वभागः ॥

प्र०-अब यह बात वर्णन कीजिये कि जैसे सत्वादि तीनों गुण मलिन और न्यून अधिक हो जाते हैं वैसे क्या संवित्, संतोष, शौर्य्य इन तीनों धर्म का भी स्वभाव है कि कभी मलिन और न्यून अधिक हो जावें। और क्या इनकी समतासे कोई और धर्म भी प्रकट होता है वा नहीं?

उ०-जैसे सत्वादि तीनों गुणकी मलिनता और न्यूनता अधिकता से रोग और समता से सुधर्मों का प्रादुर्भाव है वैसे ही संवित् आदिक तीन धर्म की व्यवस्थाहै। सो इन तीनों धर्मके रोगादिको तो पूर्वोक्त रोगों के अंतर्गत होने से भिन्न कथन करना गौरव है परन्तु समता जन्य न्याय नाम सुधर्म को अब प्रकट करते हैं॥

जैसे सत्वादि तीनों गुण की समता से सम्वित्, सन्तोष, शौर्य्य ये तीन धर्म प्रकट हुए वैसे ही इन सम्वित् आदिक तीन धर्म की व्यवस्थाहै। सो इनकी समष्टि सम अवस्थासे न्याय नाम सुधर्मप्रकाशित होताहै। अर्थात् जहां ये तीनों सम होकर रहितेहैं वहांन्यायका निवास होताहै। न्यायका अर्थ यहहै कि सम्पूर्ण व्यवहारोंमें यथार्थता को दृष्टि गोचर रखना अर्थात् किसी व्यवहारमें न्यूनता अधिकता न होने पावे किंच जोकुछ करना वा वरतना वह समभाव और ऐसीरीतिसे हो कि अन्याय रूप न होवे। यहन्याय बड़ा सूक्ष्म वस्तुहै क्योंकि किंचित् अविचार से नष्ट हो जाता है। सो योग्य है कि मुमुक्षु सर्व

दा काल इस की पूर्त्ति और रक्षा में यत्न करतारहै। जैसा कि मतांतर बादी लोग कोई कर्म कोई ज्ञान को कोई योग को तथा कोई तप तीर्थ को मोक्ष का कारण कहिते हैं वैसे ही इस मत में केवल न्याय अर्थात् सम्पूर्ण व्यवहारोंके सम भावको मोक्ष में कारणताहै ॥

प्र०-पीछे आप अन्त:करण की शुद्धि को मोक्ष कारण कहिते रहे और अब न्याय को मोक्ष की कारणता कही इस में मुझे बड़ा सन्देह हो गया कि प्राणी किस बात को सत्य माने ?

उ०-अन्त:करण की शुद्धि अर्थात् आत्मा की चिकित्सा उसी का नाम है कि जहां न्यायहो और जहां न्याय नहीं वहां अन्त:करणकी शुद्धि भी नहीं कहिनी चाहिये। जो लोग केवल ज्ञान और व्रत, जप, तप, तीर्थादि से अन्त:करण की शुद्धि मानते हैं वे अल्पज्ञ हैं। अंत:करण शुद्ध तब ही होता है कि जब सत्त्वादि तीनोंगुण समभाव पर हों और उन की समता से सम्वित्, सन्तोष, शौर्य्य और न्याय प्रकाशित होवे। सो बस यही मुक्ति का कारण और संपूर्ण सुखों का मूल है। जब किसी को न्याय धर्म की प्राप्ति हो जावे तो उसे अन्यकिसी साधन की अपेक्षा नहीं रहिती। सम्पूर्ण साधन इस के अंतर्गत हो जाते हैं। न्यायवान् पुरुष के समान कोई भी सुखी नहीं होता क्योंकि वह अपने न्यायके प्रतापसे सर्वदा काल मत्त गज की नाईं प्रसन्न रहिताहै। उसे कभी किसी विपत्ति में फँसके हाय हाय नहीं करना पड़ता और न उस से कभी कोई अपराध होताहै कि जिस का फल उस को दु:ख रूप भोगना पड़े। जहां यह न्याय वर्त्तमान हो वहां ये दश धर्म और उस के संग रहिते हैं:—

१ अनुग्रह-किसी को दु:खित देखे तो मन में खेद मान के उस की निवृत्ति में यत्न करे ॥

२ शुभ सम्बन्ध-आपस में ऐसी रीति से कार्य व्यवहार को करे कि साझी का मन दु:खित न होवे। बहुत लोग हैं कि जब लौं उन से कुछ व्यवहार नहीं पड़ता महा सरल और प्रेमी प्रतीत होते हैं परंतु व्यवहार पड़ने पर पूर्ण नहीं रहिते। मनुष्य की पूर्णता की परीक्षा को व्यवहार एक उत्तम कसौटी है। सो पूर्ण वही है कि जो व्यवहार और अति समीपता में आद्योपांत एक समान रहे ॥

३ विवेचना–जिस को जो अधिकार है उस को यथार्थ रीति से विचारे और पूर्ण करे। यह दो भांति से होता है एक व्यवहार में दूसरा सत्कार में:—

व्यवहार में–यह कि जिस का जो भाग हो उस को उस से अपने लालच और बल तथा बुद्धि और किसी युक्ति से अभागी न करे। जैसा कि पंच और राज भृत्य लोग घूंस के लालचसे भागीको अभागी बना देते। यह व्यवहार जो सर्व संसार को निन्दक और शत्रु बना लेता है अन्त: इस का नाम महा पाप रखा गया है॥

सत्कार में–यह कि अपने विद्या, धन, बल आदि के अभिमान से किसी अन्य के सत्कार को दूर न करे। यह भी दो प्रकार से होता है:—

एक यह कि जब किसी के पास जावे तो उस की प्रतिष्ठा को भंग न करने लगे॥

दूसरा यह कि यदि कोई अपने पास आवे उस की यथाधिकार प्रतिष्ठा और सत्कार करे। अनेक साधु वा पंडित वा धनी ऐसे देखने में आते हैं कि अपनी उच्चता प्रकट करनेके लिये समागत पुरुषोंको निरादरसे बोलते और अनाधिकारितासे बैठातेहैं। यद्यपि वह समागत पुरुष किसी अर्थमें सम्बद्ध होनेके कारण उस समय तो कुछ वाक्य नहीं कहसता परंतु इसकी क्रूरता को मृत्यु पर्यंत मनसे नहीं भूलता और पलटादेनेकी घातमें लगा रहिताहै। आश्चर्यहै कि वे मानी लोग यह नहीं सोचते कि इस रूखाई और क्रूरता से हमारी उच्चता और निराकांक्षिता नहीं उलटा अत्यन्त लघुता और साकांक्षता प्रतीत होतीहै कि अपनी उच्चता को दूसरे के मन में भरनी चाहता है। योग्य तो यह है कि अपने पास आये हुए पुरुष को आप अमान हो के भी मान दान करे। कई मूर्ख यह कहा करते हैं कि हमारा मन दीन पुरुषोंको तो मान सत्कार करना चाहताहै परन्तु मानी और प्रतिष्ठा वालों का नहीं क्योंकि उन के मानादि करनेमें हमारी तुच्छता और लघुता पाई जावेगी। उनको सोचना चाहिये कि जैसे अन्न और जल का दान भूखे और प्यासे से छीन के तृप्त और अचाह पुरुष को देना व्यर्थ और उसको दु:खदायक होताहै वैसे ही मानी पुरुष जो आदर

सत्कार का भूखा होता है उसे आदर न दे के किसी दीन पुरुष को मान देने लग जाना भी व्यर्थ और दुःखदायक है। सो योग्य है कि प्राणी मान देना मानी पुरुषों के लिये ही श्रेष्ठ समझे नहीं तो वे अमान हो के अत्यन्त दुःखित और कोपित हो जायेंगे ॥

४ प्रीति-सच्चा प्रेम कि जिस से दोनों का भेद मिट जावे। और सम्पूर्ण व्यवहारों में सत्य परत्व का विचार न रहे। जैसा अपने देह में प्रेम होता है वैसाही मित्र के शरीर में होवे। और दोनों के काया मन वाणी सत्य से पूर्ण हों और कभी भी झूठा व्यवहार बीच में न आवे। यद्यपि प्रीति का अंश सम्पूर्ण पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुषके हृदय में होताहै परन्तु यह प्रीति दो प्रकारकी होतीहै। एक स्वभाव सिद्ध, दूसरी कृत्रिम, जिस को बनावटी कहते हैं:—

स्वभाव सिद्ध प्रीति-वह है जो अपने आप स्वभावसे हो कि जैसी माता की पुत्र से होती है। सो पुत्र चाहे कैसा ही दुःस्वभाव होवे परन्तु माताका प्रेम उससे दूर नहीं होता। आश्चर्यहै कि बहुतसे दुष्टात्मा लोग माता के प्रेम और उपकार की स्मृति नहीं रखते॥

कृत्रिम प्रीति-यह है कि जैसे अध्येता की अध्यापक से होतीहै। सो इस प्रीतिको इच्छा मूलक होनेसे कई भांतिकी जाननी चाहिये। एक वह कि जो शीघ्र हो और शीघ्र ही नष्ट हो जावे। दूसरी वह कि बहुत काल में उत्पन्न हो और बहुत काल में ही जावे। तीसरी यह कि बहुत काल से हो और शीघ्र नष्ट होवे। चौथी वह कि शीघ्र हो और बहुत काल में जावे। इस इच्छा मूलक प्रीति का मुख्य कारण लाभ होता है सो जितना शीघ्र मनोवांछित पदार्थका लाभ हो जावे उतनी ही शीघ्र प्रीति नष्ट हो जाती है। योग्य तो यह है कि जहां लों हो सके प्राणी शुद्ध प्रीति के पूर्ण करने की इच्छा रक्खे ॥

प्र०-क्या कोई प्रीति अशुद्ध भी होती है?

उ०-हां अशुद्ध प्रीति वह है कि जिस का पीछे तृतीय तरंग में आसक्ति नाम से कथन हो चुका कि जिस से मूर्ख लोग किसी स्त्री वा बालक का बाह्य सौंदर्य्य देखके ऐसे सम्बद्ध हो जातेहैं कि अपना धन, मान, गुण सारा नष्ट कर देतेहैं परन्तु छूट नहीं सकते। इस

प्रीति को रोगरूप होने से बुद्धिमान अशुद्ध और त्याज्य कहिते हैं ॥

५ दातृत्त्व-जिस आनन्द और ऐश्वर्य्य से आप विभूषित हो अन्य पुरुषों को भी उस में युक्त करना चाहे। यह दो भांति से होता है एक अंतर, दूसरा बाह्यः—

अंतर-यह कि जो ज्ञान, विद्या और बुद्धि द्वारा अपने को सुख प्राप्त हुआ हो उसे अन्य पुरुषों पर भी प्रकट करे। बहुत लोग इस हेतु से अपना गुण दूसरे को नहीं सिखाते कि यह हमारे तुल्य हो जावेगा। अथवा हमारी आजीविका बिगाड़ेगा ॥

उस की पहिली बात कि कोई हमारे तुल्य न हो जावे महा अन्याय रूप है क्योंकि वह सबको अपने से छोटा रखना चाहताहै ॥

उस की दूसरी बात कि हमारी आजीविका बिगाड़ेगा अज्ञान रूप है क्योंकि जगत् में अनेक लोग एक ही व्यापार करते हैं परन्तु किसी की जीविका नष्ट नहीं होती। फिर एकही गुणके दो गुणियों में एक की जीविका कैसे बिगड़ सकती है ॥

६ कृतज्ञता-जो फल दूसरे से पावे उस से अधिक फल पहुंचाने की इच्छा रखे। और उस के उपकार को कभी मनसे दूर न करे। इस में एक यह बात भी जानने योग्य है कि जो भला फल अपने को किसी से पहुंचा हो तो सदा स्मृत रखना चाहिये। और यदि बुरा फल पहुंचाहो तो उसे मन से भूल जाना चाहिये पलटादेनेकी घात में रहिना श्रेष्ट नहीं। प्राणी को सदा दो बातें स्मर्त्तव्य और दो बातें सदा विस्मर्त्तव्य हैं ॥

स्मर्त्तव्य दो ये हैं-एक यह कि अमुक पुरुष ने हमारे ऊपर अमुक समय उपकार किया है सो जैसे बने उसकी कृतज्ञता में लगे रहिना चाहिये। दूसरी यह कि मृत्यु सर्वदा काल समीपहै। मृत्यु को स्मृत रखने में यह फल है कि सम्पूर्ण मन्द कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं। देखो यदि किसी को यह निश्चय हो जावे कि मैं इस सप्ताह में मृत हो जाऊंगा तो फिर बैर, छल, कपट, अहङ्कार आदिक कु-कर्म से अवश्य भय करने लग जाता है क्योंकि जानता है कि अब चला चली है और कभी पथिगृह के पांथ की नाईं किसी बड़े कार्य का कि जिस से नाना क्लेश और उपद्रव उत्पन्न हो जायें आरंभ नहीं

करता। वह यह भी जानने लग जाता है कि जैसे कोई भागती हुई गाड़ीकी छायामें सोनेसे कुछ सुख नहीं पाता वैसे ही अब मृत्यु ग्रस्त और चले जाते शरीर में बैठ के भोगों की कामना क्या और कब तक सुख देवेगी ॥

विस्मर्त्तव्य दोनों बातें ये हैं। एक यह कि यदि अपने तन मनसे किसी अन्य के ऊपर उपकार किया हो उस को ऐसा विस्मृत कर छोड़े कि कभी भी वाणी पर न आने देवे। क्योंकि यदि गुप्त रखे तो जिस पर उपकार किया हो वह सदा प्रेमी बना रहिताहै। औरयदि कोई प्रकट कर देवे तो वह लज्जित हो के एक वाक्य में उपकारीके उपकार को शिर से उतार धरता है ॥

दूसरी विस्मर्त्तव्य बात यह है कि-यदि किसीने तुम्हारे साथ कुछ अपकार किया हो तो उसे भी विस्मृत कर दो अर्थात् पलटा देने की घात में न लगे रहो। इसमें वह तुम्हारी सहिष्णुता देखके सदा अपने को धिक्कार करता और तुम्हारे सन्मुख कम्पित रहेगा। जैसाकि एक महात्मा को किसी दुष्टने गाली दिईतो उसने सहिष्णु होकर प्रणाम कहा। फिर जो उस ने नित्य गाली देना आरंभ किया और उस ने प्रणाम करना तो अंत को प्रणामने उस दुष्टके मन को ऐसा झुकाया कि मृत्यु पर्यंत उस का दास हो गया और प्रणाम करता रहा ॥

७ अनृणित्त्व-जो कुछ किसी दूसरे का तुम्हारे ऊपर ऋण चढ़ा हुआ हो विना जिताने किसी उपकारके अथवा विना मिलाने किसी अपने अर्थ के वह उसे पहुंचा देना। बहुत लोग हैं कि जब किसी दीन पुरुष से कुछ वस्तु मोल लेते हैं तो मोल देने के समय उस दीन को डराते वा धमकाते वा थोड़ा देना चाहते अथवा देने से पूर्व उस से दश बीस काम करा लेते हैं। और फिर भी यदि देने लगते हैं तो कहिते हैं कि जा हमने तेरी दीनता देख के दया किई नहीं तो कभी न देते॥

८ योग्यता-समस्त जीव बर्ग के साथ उस की समझ और शक्ति के योग्य बात करे। तथा उस ही के अनुसार काम ले और उतना ही आदर सत्कार करे क्योंकि इस रीति से सब का मन प्रेम करने लग जाता है। देखा गया है कि यदि किसी के अनुकूल और योग्य बात

चीत वा क्रियादि करो तो वह चाहे कैसा ही क्रूर हो प्रेम करने लग जाता है। और यदि प्रतिकूल करो तो चाहे कैसाही सुहृद हो बिमन हो के अवश्य बैर बांध लेता है इस कारण उचित है कि सब के साथ अनुकूल रीति से मिला करे॥

प्र०-यदि बुद्धिमान पुरुष अशुद्धाचारी मूर्ख लोगों के साथ उन की प्रसन्नता और अनुकूलता के लिये उन के सदृश आचार कर लें तो उन के स्वभावादि की मन्दता जिता के उन्हें सुमार्गगामी कौन करेगा ?

उ०-हमने यह नहीं कहा कि बुद्धिमान पुरुष मूर्खों के अनुसार आचरण करने लग जावे परन्तु हमने यह जिताया है कि सब कोई अपने अनुकूल व्यवहार और आचार को देख के प्रसन्न और प्रतिकूल को देख के अप्रसन्न होता है॥

९ ध्रुवता-यदि सारा जगत् उलटा हो के निन्दक वा विघातक हो जावे अथवा कोई दुष्ट वृथा ईर्षा वा विद्वेष करके दुःख देने लगे और सर्व प्रकारसे समय प्रतिकूल दिखाई देवे तो अयोग्य और मन्द क्रिया द्वारा सुखी होना न चाहे। किन्तु शुभ रीति से सुखी होना चाहे। बहुत लोग हैं कि जो बिपत्ति में ग्रस्त हो के अनुचित कर्मों को भी उचित समझने लग जाते हैं और निन्दित वाक्यों को प्रमाण रूप जान लेतेहैं। जैसा कि जो कोई अपने संग बुराई करे उसको कपट छल, कलङ्क, आदिक उपाय से जैसे बने मारना चाहिये नहीं तो धीरे २ अत्यन्त बल पा के हमारे मूल छेदन में समर्थ हो जावेगा। अथवा समय की प्रतिकूलता में यदि अन्याय जन्य व्यवहारों से भी सुख का उपार्जन करलें तो दोष नहीं, इत्यादि॥

१० भक्ति-मनसा, वाचा, कर्मणा सर्व संसार के भले में यत्नकरते रहना। और अपने कुल, रूप, धन, विद्या, बल आदिक का अभिमान तज के सब की सेवा परिचर्य्या में प्रीति का रखना॥

बस इस उक्त दश धर्म के ग्रहण करने का नाम यथार्थ न्याय है। और यह न्याय दो प्रकार का होता है एक स्वसम्बन्धी, दूसरा परसम्बन्धीः—

स्वसम्बन्धी न्याय-वह है कि जिस से अपना आप सुधारा जावे

अर्थात् अपनी कहित, बहित, रहितको शुद्ध किया जावे । जो कोई अपनी कहित, बहित, रहित को श्रेष्ठ पुरुषों के समान शुद्ध नहीं करता वह अपने ऊपर अन्याय करता है ॥

पर सम्बन्धी न्याय-वह है जो आगे कथन होगा ॥

॥ प्रथम कहित का सुधारना ॥

कहित बोलने का नाम है। बहुत मत बोलो इस से प्रतिष्ठा भंग होतीहै । बहुत बोलनेवालेका सत्य भी झूठही प्रतीत होता है। शीघ्र न बोलो इस में श्रोता को अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाक्य में हठ न करो इस में अंत को विवाद हो जाता है। जैसा कि किसी ने कहा कल मध्यान्ह के समय वर्षा हुई थी दूसरा बोला मध्यान्ह में तो नहीं प्रातः काल में हुई थी। ऐसे स्थल में आग्रह करने से अवश्य विवाद हो जाता है। योग्य है कि यदि कोई पुरुष किसी बात में वृथा हठ बांध बैठे तो एक दो बार रोक के अन्त को विवाद शमनके निमित्त आप मौनको धारण करे नहीं तो बोलतेर विरोध खड़ा हो जावेगा। प्रश्नका उत्तर देनेके समय शीघ्रता और चंचलता न करे। इसमेंजो मुखसे कुछ यद्वातद्वा वाक्य निकल जाताहै इसकारण वक्ता को लज्जा उठानी पड़ती है। प्रश्नके विना उत्तर न देवे। इस में यह दोष है कि तुम्हारा उत्तर किसीको ग्रहण नहीं होवेगा। किसी का वाक्य काट मत डालो। सो यह काटना दो भांति का होता है:—

एक यह कि जब कोई कुछ बात कर रहा है उस की समाप्ति के पूर्व ही अपनी बात का आरंभ कर देना ॥

दूसरा यह कि जब कोई पुरुष कुछ कहि रहाहो उसको छल, बल और हठ से मिथ्या बना देना ॥

अति धीरे और अति ऊंचे शब्द से न बोले इस में प्राणी सब को कटु प्रतीत होने लगता है। यदि कोई पुरुष किसी बात को तुम से छिपावे तो पूछने में अत्यन्त हठ न करो। इस में अन्त को क्रोधाग्नि प्रचंड हो जाती है। अपने वाक्य की पुष्टि के निमित्त किसी के वाक्य को मिथ्या न बनावे। श्रोता की बुद्धि पर्यंत वाक्य कहे। और अति गूढ़ और सूक्ष्म वाक्य वा परा विद्या का वाक्य सब के सामने न

कहे। स्थान के योग्य वाक्य कहे क्योंकि मंगल में अमंगल तथा अ-मंगल में मंगल वाक्य कहिना निन्दित होताहै। कटाक्ष से वाक्य न कहे इस में श्रोता को कभी २ लज्जा उठानी पड़ती है। वचन के समय बिना प्रयोजन हाथ, पाउं, शिर, मुख, आंख, प्रभृति किसी अवयव को न हिलावे। क्योंकि सम्भाषण के लिये केवल जिह्वा ही है। मिथ्या वाक्य कभी उप हास प्रभृति में भी न कहे क्योंकि इसमें संसार का अविश्वास होता है। यह मिथ्यालाप दो प्रकार का होता है। एक शारीरिक, दूसरा मानसिकः—

शारीरिक यहहै कि जिह्वा और नेत्र वा हस्त, मुख आदिक हिला के मिथ्या सैन का करना॥

मानसिक यह है वाणी में तो चाहे सत्य ही भरा हो परन्तु मन में झूठ का होना जैसा कि यदि कोई किसी वेश्या गृह से समागत पुरुष को पूछे तुम कहां से आते हो वह उत्तर देताहै कि तड़ाग की ओर से आता हूं। सो यद्यपि उधर कोई तड़ाग वर्त्तमान होने से उस की वाणी सत्य भी है परन्तु मन में झूठ के होन से वह सत्य सं-भाषी नहीं गिना जाता सत्यवक्ता वहहै कि जो मन और वाणी इन दोनों अंग से सत्य बोले नहीं तो उस में मानसिक झूठ अवश्य गिना जावेगा। जिस वाक्य को सुन के किसी का मन दुःखित हो जावे उस को महा विपत्ति के समय भी मुख से न निकाले। जिस वाक्य के कहिने से तुम्हें पश्चात्ताप और शोक और भयादिमें कम्पित होना पड़े वह कधी भी उच्चारण न करो। अपने देश के लोगों स अन्य देश की भाषा में वार्त्तालाप न करे। क्योंकि इसमें वक्ताकी तुच्छता और वाचालता प्रकट होती और श्रोता लोग उपहास करतेहैं। यद्यपि भाषांतर का सीखना तो एक प्रकार का चातुर्य्यहै परन्तु स्वकीय लोगों से भाषांतरमें सम्भाषण करनेको बुद्धिमान लोग अनुचितजानते हैं। गाली और अशुद्ध शब्द कधी मुख पर न लावे। किसी की निन्दा का वाक्य कभी न कहे। निन्दक पुरुष यद्यपि निन्दा करने के समयतो किसीअंशमें प्रसन्न होताहै परन्तु पीछे सर्वदा अपने कथन की लज्जा में मरता है॥

अपने सम्भाषणमें कभी कोई व्यर्थ शब्द न कहे जो प्रस्तावमें सार्थ

और सापेक्ष न होवे। किसी को ऐसे शब्दसे न बुलावे कि जो उसकी पदवी से न्यून हो। तात्पर्य्य यह कि जो शब्द परोपकार वा लौकिक व्यवहार से रहित हो उस में कदाचित् भी वाणी को न खोले॥

॥ वहित का सुधारना ॥

वहित बैठने का नाम है। कुसंग मे न बैठे क्योंकि यहां मद्यपान, स्त्री चर्चा, अज्ञान, अभिमान, उपहास, दंभ, वैर, पर निन्दा, निर्बंधता, निर्लज्जता, द्यूत, चौर्य्य आदिक अनेक दोष की स्थिति रहिती है कि जिन से मनुष्य का जन्म वृथा नष्ट हो जाता है। जिस का मन कुसंग सेवी हो वह सत्संग में कभी रुचि नहीं करता। कुसंग के अन्य दोष लिखने में तो गौरव है परन्तु सिद्धांत यहहै कि संपूर्ण अनर्थोंका मूल समझ की कुसंग से सदा वचतो रहे॥

शंकित और अकड़ के न बैठे अपने अधिकार पूर्वक सीधा और सरल बैठे। किसीके सन्मुख पांउ और पीठ करके न बैठे। सभामें बैठके वहुत सा किसी एकही की ओर न ताके। केश श्मश्रु में विना प्रयोजन हाथ न लगावे। बैठों में सोना, और सोतों में बैठना कभी न करे क्योंकि इस में कभी अपने को उन से और उन्हें तुम से लज्जा वा कष्ट उठाना पड़ता है। राजा, गुरु, वृद्धों के सन्मुख उस रीति से न बैठे कि जिसमें उनकी तुल्यता पाई जावे। अपनी पदवी से न्यून स्थान में अथवा वालकों और स्त्रियों के समुदायमे विना किसी आवश्यक व्यवहार के न बैठे। क्योंकि पदवी से न्यून स्थान में बैठने से प्रतिष्ठा नहीं रहिती और वालकों वा स्त्रियोंके संग मे शारीरिक और मानसिक विकारों की उत्पत्ति होती है विशेषत: स्त्री जन का संग तो अत्यन्त अनर्थ का हेतु है॥

व्यर्थ बैठने का स्वभाव न रखें क्योंकि अवकाशी मन में अनेक अपराध भर जाते हैं। मन का स्वभाव है कि यदि इस को अवकाश मिले तो नाना योग्य और अयोग्य संकल्प रच के शरीर को प्रवृत्त कर देता है। और शरीर प्रवृत्ति से जीव पतित हो जाता है। सो योग्य है कि यदि किसी को कोई अन्य कार्य्य न होवे तो सत्सङ्ग वा ग्रंथों का अवलोकन आदिक क्रिया में मन को लगावे। क्योंकि इस

को यदि एक क्षण भी अवकाश मिलेगा तो अनेक दिनों का धैर्य्य बिचार, बिगाड़ के पतित कर देवेगा। मन का स्वभाव है कि यह निर्विषय कभी नहीं बैठता। इसी कारण उचित है कि इसको किसी सत् व्यसन में लगा छोड़े। जो लोग मन को सदा अवकाशी रखना चाहते हैं उन को चौपट आदिक खेल और बिकार युक्त इतिहासादिकों पढ़ने सुनने और पर निन्दा, आलस्य, मनोराज्यके बिना अपने अलभ्य जीवन में और कुछ प्राप्त नहीं होता। मनुष्य शतञ्जीवी हैं सो यदि इस वर्ष शत में भी शुभ संचय नहीं करते और वृथा काष्ट पाषाणादि की खेल में आयु व्यय कर लेते हैं उन से अधिक मूर्ख कौन होगा। उचित है कि प्राणी समय को दुर्लभ और अमोलक जान के एक क्षण भी वृथा न जाने देवे। मनुष्य को यही परम पुरुषार्थ है कि अपने जीवन धनको परोपकार, धर्म संचय, जगत् हितैषी बातों के उपार्ज्जन में व्यय करता रहे। समय का यह स्वभाव है कि आमघट के जल के नांईं जाता हुआ प्रतीत नहीं होता परन्तु जो कोई इस में से प्रतिदिन एक घड़ी भी किसी शुभ कार्यके उपार्ज्जनमें लगाता रहे तो नाम रहि जावे। और जिन की आयु हास्य, उपहास आदिक मे ही व्यतीत हो जाती है उन का जन्म वृथा है॥

॥ तृतीय रहित का सुधारना ॥

रहित रहिने का नाम है। सो सदा निष्कलंक रहे। वस्त्र सीधे सरल रखे। बहुत भूषण और पुष्प सुगन्धादिसे सिंगार न करे क्योंकि यह स्त्रियों का धर्म है। अति चिक्कने और अति लंबे बाल न रखे। सबका हितैषी और मनोहर स्वभावरखे। निरालस और प्रसन्न रहे। स्थान ऐसा बनावे कि जिस में पवन का प्रवेश हो। क्यों कि स्थान में तीन वस्तु की आवश्यकता सब को रहिती है:—

१ पवन-कि जिधर से चाहो पवन मिलती रहे। जहां पवन का गमनागमन नहीं वहां अनेक प्रकारके रोग की उत्पत्ति होजाती है॥

२ एकांतता-जब सब से अलग होके मन स्वतन्त्र बैठना चाहे तो एकांत स्थल प्राप्त हो सके॥

३ विस्तृति-जो स्थान विस्तृत नहीं होता उसमे गृहस्थको बहुत

सो आवश्यक कार्यों का संकोच रहिता है ॥

स्थान को सदा स्वच्छ रखो क्योंकि मलिन स्थान में बुद्धि मलिन हो जाती है। स्थान ऐसी भूमि में बनाओ कि जहां किसी से विवाद आदिक न रहे। पड़ोस ऐसा ग्रहण करो कि जिस में सर्व प्रकार की उत्तमता होवे क्योंकि पड़ोस का मन्द होना एक प्रकार का नर्क है। चलते हुए दहिने बायें न देखो। प्रातः काल जागने का स्वभाव करो क्योंकि इस के लाभ और फल अनन्त हैं। प्रातः काल सायं काल में स्त्री संग का त्याग करो। क्योंकि इस में शरीर रोगी और अत्यन्त निर्बल हो जाता है ॥

अब दूसरा पर सम्बन्धी न्याय जो अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध रखता है उस का वर्णन यह है कि पुरुष माता, पिता आदि के साथ कैसे बरते। तथा राजा अपनी प्रजा पर किस रीति से राज्य करे कि जिस को राजनीति कहते हैं। और प्रजा अपने राजा की भक्ति और आज्ञा में कैसे नियुक्त रहे। सो राज्य व्यवहार का वर्णन तो आगे होगा परन्तु अब यह लिखते हैं कि पुत्र अपने माता पिता के संग कैसे बरते ॥

पुत्र को चाहिये कि माता, पिता को परम गुरु जान के सदा उन का महत्व दृष्टि पथ रखे और उनकी आज्ञासे विमुख न होवे। सदा उन का आदर, सन्मान करता रहे। उन के सन्मुख विशेष उपहास और चंचलता, निर्लज्जता करना कभी भी योग्य नहीं। उनकी इच्छा को यदि मनुष्य धर्म के विरुद्ध न होवे अपनी इच्छा से अधिक पूरण करे। उन के सामने वक्रवाद वा अनन्य को झिड़कना न करे वृद्धों का वाक्य शिक्षा जान के ग्रहण करे ॥

प्र०—मनुष्य धर्म से विरुद्ध वाक्य माता, पिता का मान लेने में क्या हानि है ?

उ०—जगत् की सीमा मर्यादा मनुष्य धर्म से विरुद्ध चलने में टूट जाती है फिर अपने और पराये मनों को बड़ा भारी खेद होता है। जैसा कि देखो यदि किसी के माता, पिता अपने पुत्र को चोरी वा छल सिखायें अथवा ज्ञान, विवेक और विद्या के सीखने से रोकें तो यह व्यवहार मनुष्य धर्म से बाहर और अत्यन्त अनर्थका उत्पादकहै।

हम देखते हैं कि कई एक माता, पिता अपने पुत्रको अपनी बुद्धिके अनुसार किसी ऐसे मत, पंथ और धर्म में फँसा देतेहैं कि जो महा अशुद्ध और श्रेष्ट बुद्धि के विरुद्ध हो। और बहुतसे माता, पिता अपने अज्ञान द्वारा किसी मन्द मत को सुधर्म जान के पुत्र को यथार्थ धर्म और सन्मार्ग से रोकते और अपने मत मे प्रवृत्त करना चाहते हैं ऐसे स्थल में पुत्र यदि उन की आज्ञा न माने तो कुछ दोष नहीं॥

पुत्र को उचित है कि अपने तन, मन, धन, से माता, पिता की सेवा मे सदा तत्पर रहे॥

॥ अथ स्त्री व्यवहार ॥

स्त्री उत्तम कुल से ग्रहण करे कि जो रूप, गुण, शील से सम्पन्न हो। उस को सदा प्रेम और प्रसन्नता दिखोवे। जहां लों हो सके स्त्री को निर्भय और निर्लज्ज न होने देवे। गृहस्थ व्यवहारमें संपूर्ण कार्य स्त्री की सम्मति से करें। यथाशक्ति भूषण, वस्त्र, खान, पानादि सुख साधनों मे उसे प्रसन्न रखो। स्त्री को अपने ऊपर किसी पक्ष मे बलवती न होने दो। कुसंग और अन्य जनों के समुदायमें जानेसे रोकते रहो। गोपनीय भेद मूर्ख स्त्री को कभी न बताओ। स्वतन्त्र और निरंकुश न विचरने दो। विना भारी अपराध के उस का त्याग न करो। विद्या पढ़ने में नियुक्त रखो॥

॥ अथ पुत्र पुत्री व्यवहार ॥

पुत्र को पांच वर्ष पर्यंत लाड़ देना और तदनंतर शिक्षा प्रदान करना योग्य है। पिता को चाहिये कि पुत्र को विद्या के अर्थ सदा उद्योगी रखे कभी आलस न होने देवे। उस के आचार व्यवहार स्वभावादि के सुधारनेमें यदि पिता समर्थ हो तो अच्छा, नहीं तो कोई अन्य उपदेष्टा नियत करे। उपदेष्टा और अध्यापक को उचित है कि पर पुत्र को अपने पुत्र के समान हित से उपदेश करे। दण्डनीय बालक को दण्ड देना और श्लाघ्य की श्लाघा करना अध्यापक को विचार पूर्वक योग्य है। बालक के आत्मा की चिकित्सा अध्यापक के आधीन है॥

पिता को चाहिये कि बालक के आनन्द का ऐसा प्रति बन्धी न

होवे कि धीरे २ वह आप ही निर्भय और निःशंक तथा निरंकुश हो जावे। तात्पर्य यह है कि किसी २ काल में बालक को खेलमें प्रवृत्त देख के भी चुप ही रहिना चाहिये। पुत्र के साथ पिता ऐसा अति प्रेम न करे कि अंत को निर्भय हो कर शिक्षा न माने। पिता को उचित है कि पुत्र के सन्मुख किसी अयोग्य बात का करना और कहिना तथा बरतना त्याग देवे क्योंकि पुत्र भी उसी के अनुसार स्वेच्छाचारी हो जाता है। पुत्र के विवाह आदिक कर्म में पिता को अवश्य यत्न करना चाहिये। स्वसंचित पदार्थों का पुत्रों के निमित्त यथाधिकार विभाग करना पिता को अपने जीवित में ही उचितहै। षोड़श वर्ष से पीछे पुत्र को बल और हठ युक्त हो कर पिता कोई भी शिक्षा न देवे॥

॥ अथ भ्रातृ व्यवहार ॥

भ्राताके समान जगत् में अलभ्य सम्बन्धी कोई नहीं क्योंकि जिस बीज से अपनी उत्पत्ति है उसी से उस की होतीहै। जबलों भ्राता षोड़श वर्ष से नीचे है तब लों उसे शिक्षादि योग्य हैं उस के पीछे उसे बलसे कुछ न कहे। जहांलों होसके भ्राताके आनन्द में आनन्द रहे विरुद्धाचार विरोध का हेतु है। भ्राता के कार्य सिद्धि में उस की प्रेरणा के बिना ही प्रवृत्त रहो। यदि तुम भ्राता के साथ कुछ उपकारादि करो तो आयु पर्यंत मुख पर न लाओ। भ्राता के दुःख सुख में सदा सहायक और संयुक्त रहो। ज्येष्ट भ्राता की आज्ञा को पितृवत हितैषी समझो। भ्राता के पदार्थादि को उस की आज्ञा बिना अपने अधिकार में लाना न चाहो। पिताके दिये हुए पदार्थको भ्राता से लेने का उद्यम न करो। यदि किसी हेतु से भ्राता के साथ वैमनस्य भी हो जावे तो दुःख सुख के समय मिलाप में बिलम्ब न करो। अति समीपता तथा अति दौर्थ्य भ्राता के साथ प्रयोजन बिनो कदाचित् भी उचित नहीं। भ्राताके दोषादि अन्य पुरुषों के सामने कथनीय नहीं होते। कैसा ही विरोध होवे परन्तु यह नियम करना अनुचित है कि भ्राताके साथ अब हम कभी नहीं मिलेंगे क्योंकि जीवित में ऐसे कई व्यवहार हैं कि भ्राता बिना उन की सिद्धि दुर्घट है॥

॥ अथ मित्र व्यवहार ॥

जगत्में मित्रबहुत दुर्लभ पदार्थहै। यथार्थ मित्रवहहै कि जो हानि लाभ, सुख, दुःखमें सहायकरहै। बुद्धिमान और सत्यवक्ता मित्र ग्रहण करो। मित्रके साथ निष्कपट व्यवहार रखो। मैत्रीमें तीनवस्तुको आधीन आनेदेवो। एक कपट अर्थात्अपने किसी व्यवहारको मित्रसे गुप्तरखना चाहे कैसीही बुद्धिमत्ता परस्पर हो परन्तु अन्त को अवश्य विरोध हो जाताहै। सो चाहिये कि मित्रको अपना हृदय समझके सम्पूर्ण व्यव हार कहि दियाकरे। जहां हार्द नहीं कहा जाता वहां पूर्ण मैत्रीनहीं होती। मैत्री के तीन भेद होतेहैं। सामान्य, मध्यम, उत्तमः—

सामान्य मैत्री-वह है कि जिसमें एक पुरुष अपने जाति, विद्या, बल, धनादि का मान त्याग के दूसरे पुरुष के स्थान पर जाने आने लग जावे॥

मध्यम मैत्री-वह है कि जिस में वह उस के घर का खान, पान निःशंकता से ग्रहण करे और वह उस के घर में खाने, पीने लग जावे॥

उत्तम मैत्री-वह है कि जिस में एक दूसरे को अपना गुह्य हार्द कहिने लग जावे। सो बस यह उत्तम मैत्री दुर्लभ है॥

दूसरी भ्रांति-अपने मित्र के तन, मन तथा इंद्रियादि में कोई वृथा भ्रांति अपने ही मन से अथवा किसी द्वेषी के कहिने से आरो-पण न कर ले। मैत्री बहुत सूक्ष्म तंतु है कि जो किंचित् सी भ्रांतिमें टूट जाती है। योग्य है कि जब मित्र के किसी आचार व्यवहारादि में भ्रांति खड़ी हो जावे तो अपने मन में न रखे। किन्तु मित्र के आगे प्रकट कर देवे नहीं तो एक भ्रांति के आश्रय अनेक भ्रांतियां खड़ी हो जाती हैं। और फिर जैसे एक तृण के आश्रय अनेक तृण एकत्र हो कर चलती कूल को रोक देते हैं वैसे मैत्री के पक्षमें भ्रांति भी रोध का कारण है॥

तीसरा व्यवहार-अर्थात् परस्पर लेन देन वा वाणिज्यादिको मैत्री में कभी न आनेदेवे। इसमें यह कारण है कि मूल संपूर्ण व्यवहारोंका इच्छा है। सो जहां इच्छा होती है वहां पदार्थों में स्वत्व परत्व खड़ा

होजाताहै।जहां स्वत्व परस्वकी खैंचहो वहां अष्ट प्रहर कपट, भ्रांति, विवाद,हठ,क्रोध,बैर आदिक व्यवहार मनमें उदय होते रहितेहैं और अंतको मैत्रीटूट जातीहै।सच्चा मित्र वहहै कि जो अपने मित्रके साथ किसी अपराधपर भी कुपितनहीं होता।जो कुपितहो जावे और मैत्री पक्ष में चरण रखे उस को पूर्ण मित्र कभी न समझना चाहिये। मित्र जगत्में तीन प्रकारके होतेहैं। एक वह कि जो अपना मित्रहो। दूसरा वह जो अपने मित्रका मित्रहो। तीसरा वह जो अपने शत्रुका शत्रुहो क्योंकि उस का उद्देश भी हमारे उद्देशके तुल्यही होताहै अर्थात् जिस के साथ हमारा विरोधहै उसका भी उसके साथ विरोधहै। विदितहो कि वह साधारण मित्र है उसको अपना हार्द कभी न कहिना चाहिये॥

॥ अथ प्रभु व्यवहार ॥

प्रजा को राजा, स्त्री को भर्त्ता शिष्य को गुरु भृत्य को स्वामी ये सब प्रभु कहिलाते हैं इन के संग ऐसा व्यवहार बरतना चाहिये कि जो नीचे लिखा है:—

प्रभु के सन्मुख कधी मिथ्या न बोले। यदि अपने से कुछ अपराध होजावे तो प्रभुके सामने गुप्त न रखे किन्तु अपनेको अपराधी ठहिरा के प्रभु के पास क्षमा की प्रार्थना करे। प्रभु का महत्त्व सदा अपनी दृष्टि में रखे। जो उस की आज्ञा मिले उस के अनुसार सत्य मन से प्रवृत्त होना चाहिये। यदि स्वामी तुम्हारी क्षति करता हो तो किसी अन्य के पास उस की निन्दा न करो। सर्व प्रकार प्रभु के कृतज्ञ बने रहो। उस के सन्मुख किसी अंशमें निर्लज्ज बनना योग्य नहीं। उस के अनुग्रह और दिये हुए पदार्थों पर उन्नत और प्रमत्त न बने। उसके सन्मुख अपने खान, पान, पहिरान, बोलचाल आदिक व्यवहारोंमें अपनी तुल्यता प्रकट न करे। प्रभुके चित्तमें अपने सर्व व्यवहार और आचार से सत्यता भरते रहो। उस के प्रिय कार्य साधन में बिना प्रेरे प्रवृत्त रहो। स्वामी के धन, मान, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्रादि पदार्थ के विनाश का कधी संकल्प न करे। सदा उस की प्रसन्नता में प्रसन्न रहे। अपने प्रभुकी हानि वा निन्दादि को देख के वा सुन के जैसे बन उस के प्रतिकार में यत्न करते रहो। उस की सेवा को

अपना सौभाग्य समझ के किसी अंश में भी लज्जा न करे। सच पूछो तो वशीकरण मन्त्र इसी का नाम है॥

प्र०–जगत् मे जो वशीकरण, मारन, मोहन, उच्चाटनादि कई प्रकार के मन्त्र सुने जाते हैं वे सत्य हैं वा झूठ?

उ०–बहुत तो जगत् में झूठ ही देखाहै परन्तु यदि कहीं कुछ सच भी होगा क्यातो उसमेंकुछ चतुराई होगी और क्या कुछ अर्थमें भेदहोगा। चतुराईसे जो लोगोंने मूर्खों और स्त्रियोंको कुछ आश्चर्य दिखाया वे उसे मन्त्र, जन्त्र समझ के सदा डरते रहते हैं सो इसको हम पीछे कथन कर चुके हैं। जिस में कुछ अर्थ भेद है वह यह है जैसा कि बहुत लोग समझते हैं कि वशीकरण का कोई मन्त्र ऐसा होगा कि जो पढ़ के फूंका हुआ दूसरे को अपने बश में करले। तात्पर्य इस का यह है कि वशीकरणका मन्त्र कोई नहीं होता किन्तु उत्तम गुणों का नाम वशीकरण है॥

॥ अथ दासव्यवहार ॥

दास दो प्रकार का होता है। एक वह कि जो चाकरी पर चाकर हुआ होवे दूसरा वह कि जो शिष्यभाव से सेवा करे और भृति की कुछ इच्छा न रखे॥

चाकर वह रखो जिस पर सर्व प्रकार से बिश्वास हो। उस के किंचित् अपराध और अवज्ञा को देख के भी क्षमा करना योग्य है परन्तु ऐसी रीति से कि निर्भय और स्वतन्त्र न हो जावे। उस पर अकारण ही शीघ्र अविश्वासी न हो जाओ। उस को अपने हस्त, पदादि अंगवत् जान के सदा प्रसन्न रखो। क्योंकि यदि उसको प्रसन्न न रखोगे तो उसके नियत कार्य तुमको अपने हस्त, पदादि से करने पड़ेंगे। जो कार्य उस की शक्ति और बुद्धि से बाहर हो उसमें प्रेरणा न करो। उस के सन्मुख किसी व्यवहार में प्रशंसा न करो। अपने तुल्य खान, पान, वस्त्र, आभरण, यान आदि की शक्ति न दो। दया और प्रदानादि ऐसी रीति से करो कि चाकर उन्नत न हो जावे। छोटे काम और तुच्छ अपराध वा किंचित् आलस्यादिको देख के मन मे विकृत न हुआ करो। चाकर के साथ प्रति क्षण क्रोध न

करो । यदि वह निर्भय और निर्लज्ज और अनाज्ञाकार हो जावे तो तुरंत ही त्याग दो परन्तु ऐसी रीति से कि तुम्हारे मुख से उस समय कोई कुवाक्य न निकले कि जो उस के मन को दुःखित कर देवे। क्योंकि यदि ऐसी दशा से उसे अपने गृह से निकालोगे तो आयु पर्यंत शत्रु बना रहेगा ॥

योग्य है कि बुद्धिमान चाहे कैसा ही दुःखित और आकोपित हो परन्तु अवाच्यादि किसी को न कहे । क्योंकि प्रतिष्ठित पुरुष का अवाच्य कथन सब को स्मृत रहिता है। सो उचित है कि वाणी से किसी को अपना शत्रु न बनावे । और जीवित पर्यंत किसी को कोप न दिखावे ॥

द्वितीय दास-जो विना भृति के केवल शिष्य भाव से सेवा करता है उस का व्यवहार यद्यपि पुत्र व्यवहार के समान है परन्तु कई एक बातोंमें उसके संग पुत्रसे भी अधिक प्रेमकरना उचित है। क्यों कि उस ने अपने गृह बांधव कुटुंब को तज के केवल गुरु का आश्रय लिया होता है । जो गुरु उस को दुःखी करे उस को कृतघ्न कहिना चाहिये। जगत् में विश्वासघाती और कृतघ्न के तुल्य कोई निन्द्य नहीं ॥

प्र०-कृतघ्न और विश्वासघाती पद का अर्थ क्या है ?

उ०-कृतघ्न वह है जो किसीके किये हुए उपकारादिको न माने। जैसा कि ऐसे बहुत लोग हैं कि चाहे कोई कैसी ही मन्द दशामें उन की सहायता वो सेवादि उपकार करे परंच उस का गुण नहीं मानते। उलटा नाना दोष आरोपित करके उसे अप्रसन्न रखते हैं॥

विश्वासघाती-वह है कि जो किसी ऐसे पुरुष के साथ छल करे कि जिस का उस पर दृढ़ विश्वास हो गया हो कि यह कभी मुझ से छल नहीं करेगा । धिक्कारहै उन के जन्मको जो सरलों औरसीधों से छल करते हैं । यद्यपि छल करना सर्वथा त्याज्य है परन्तु उन से छल करना कि जो तुम्हारे छल को उपकार ही मानतेहैं अत्यन्त अनर्थ की बात है। देखो यदि कोई पुरुष किसी श्वान के आगे कुछ खाद्य पदार्थ डाल के पहिले उस को विश्वासी बना ले और फिर खाने लगे तो उसका शिर तोड़े तो वह कैसा निर्घृण और विश्वास

घाती है॥

शिष्य को सदा सदुपदेश और हित की बातें बतलाता रहै। संपूर्ण व्यवहारों में उस की उन्नति के उद्योगी रहिना चाहिये। यदि शिष्य अनेक हों और धर्मानुसार सेवादि में सब प्रवृत्त रहें तो गुरु किसी को न्यून अधिक न समझे किन्तु सबको समान शिक्षादि प्रदान करे। गुरु को उचित है कि किसी अंश में शिष्यका मन भंग न करे। और कोई वस्तु और वाक्य वा विद्या उस से गुप्त न रखे। उस को अपना प्रिय अंग समझ के सदा प्रसन्न रखे मन्द प्रवृत्ति और मन्दाचारादि से सदा रोकता रहै। ऐसा दण्ड किसी बात पर भी न देवे कि वह मृत्यु पर्यंत कभी सन्मुख न आ सके। किंचित् अनाज्ञाकार वा अपराधी देख के उस को अपने पास से पृथक् न कर देवे किन्तु उसके मन से अपनी बुद्धि और विचार द्वारा उस बात के दूर करनेका यत्न करे कि जिस ने उसे अनाज्ञाकार और अपराधी बनाया है। यदि उस का त्याग करना ही योग्य समझेगा तो गुरु के उपदेश और शिक्षा की निर्बलता प्रतीत होवेगी। यह बात तो प्राणी को सर्वदा मन्तव्य और ज्ञातव्य है कि जो कोई पुरुष अपने साथ बुराई करे उस को शीघ्र ही दण्ड प्रदान और अपनेसे भिन्न न करे। किंच जहां लों हो सके उस के चित्त से उस विकारको दूर करे कि जिसके कारण उस ने बुराई किई॥

प्र०-आपने पूर्व कहा था कि राज व्यवहार को आगे वर्णन करेंगे सो यदि योग्य है तो अब राजनीति को कथन कीजिये?

उ०-हां अब राजनीति कहिने के लिये प्रथम राजा के होने का प्रयोजन और प्रकार लिखा जाता है कि-राजा के होने की जगत् पर क्या आवश्यकता थी। जगत् में जितने जीव हैं उन में मनुष्यका जीव एक दूसरे का अत्यन्त अर्थी और साकांक्ष है। जैसा कि देखिये मनुष्य को जो अन्न, वस्त्र की आकांक्षा है इस कारण वह कृषिकार और तंतुवाय का अर्थी कृषिकार और तंतुवाय हलोषा और तुरी वेम के लिये लोहकार तथा बाढ़ीका अर्थी। लोहकारता बाढ़ी किसी अन्य का अर्थी और वह अन्य किसी प्रयत्न का अर्थी दिखाई देता है। फिर जब कि कोई पुरुष अपनी आयु को एकाकी समाप्त नहीं कर

सकता इस कारण उन को बहुतों के समुदाय में रहिना पड़ा। इसी हेतु से ग्राम, पुर, नगर प्रकट हो रहे हैं। फिर जो सत्व, रजस, तमस इन तीनों गुण की न्यूनता, अधिकता से सब की इच्छा और स्वभावादि भिन्न २ हैं इस कारण परस्पर विरोध, बैर, चौर्य्य, व्यभिचार, कपटादि क्लेशों से सब लोग पीड़ित होते हैं। इस दशा में अवश्य ठहिरा कि जैसी सम्वित, संयम, शौर्य्य इन तीनों के सम रखने के लिये पिंड में न्याय को प्रधानता है वैसे ही सम्पूर्ण जीवों को सम रखने के लिये ब्रह्मांड में राजा की आवश्यकता है कि जो प्रजा को किसी अंशमें क्रम विरुद्ध और विषम न होने देवे और उसके पालन पोषण तथा रक्षा में नियुक्त रहे। सो राजा वह होना चाहिये जिस में पांच गुण वर्त्तमान हों:—

१ महामनता-किसी कार्य और व्यवहार को देख के वा सुन के भीरु वा चकित न हो जावे। सो यह आत्मा की चिकित्सा विना दुर्लभ है ॥

२ समझ-देखते सुनते सार ही सर्व व्यवहारों के अन्त फल को समझ लेना। सो यह विद्या और पूर्व इतिहासों के पढ़ने सुनने से मिलती है ॥

३ सहिष्णुता-संपूर्ण कठिनताओं पर धैर्य्य रखे ॥

४ सन्तोष-प्रजाके पदार्थों की लिप्सा न करे। और उन के मत, धर्म से कुछ प्रयोजन न रखे जिस मत में किसीकी इच्छा हो वरते॥

५ कुलीनता-उच्च घर का होवे कि उसे कोई तुच्छता से न देखे। और उस की सेना निर्भय न होने पावे किन्तु उस की आज्ञानुसार सन्नद्ध बद्ध रहे। यहां उच्च घर कहिने से यह तात्पर्य है कि राजा उस घर में से होना चाहिये कि जिस घर में सदासे राज्य, भाग्य, ऐश्वर्य, धन, विद्या, यश, मान चला आता हो॥

राजा की राज्य श्री चार भांति के पुरुषों से शोभित और स्थिर रहिती है सो सुनो:—

एक विद्वान-इस में कई प्रकार के लोग हैं अर्थात् मन्त्री, सेनापति, कोश पति, कर ग्राह, लेखक, दूत, पंडित, वैद्य, कवि, गणक (जो लाभ व्यय की गणना जाने) चतुर (जो नवीन रीति और यन्त्रा-

दि को रच सकें इत्यादि) ॥

दूसरे व्यापारी-जो देश देशांतर के अमोलक पदार्थ लाया करें ॥

तीसरे कृषिकार और सेवक प्रभृति ॥

चौथे शस्त्र धारी-(जैसा कि तोप, वाण, खड्ग आदिक के प्रहारी प्रसिद्ध हैं) ॥

राजा को भलाई करने के चार प्रकार हैं:—

१ यथार्थ परीक्षा के विना अन्य पुरुषों पर दण्ड न वनावे क्योंकि इस में अन्य पुरुषों पर अन्याय होता है। यथार्थ अपराध के विना किसी को नीच न ठहिरावे क्योंकि यह उस पर अन्याय है और ऐसे व्यवहारों से राज्य में उपद्रव खड़े होते हैं ॥

२ यह कि जिन अपराधों से राज्य में उपद्रव और प्रजा में क्लेश उठे उन को भूल न जावे। जैसा कि चौर्य्य, व्यभिचार, द्यूत, प्राणघात आदिक प्रसिद्ध हैं ॥

३ प्रत्येक भलाई और बुराई का फल उस के समान नियत होवे अधिकता न्यूनता का नाम अन्याय है ॥

४ राजा को चाहिये कि प्रजा के जीवों और पीड़ित लोगों को अपनी दशा सुनानेके निमित्त मार्ग खुला रखे। यदि यह बात सर्वदा न हो सके तो एक समय वा एक दिन सब के आने के लिये अवश्य नियत करे ॥

राजा को युद्ध के विषय में दश बात की आवश्यकता है:—

एक-शत्रु के मानसिक संकल्पों के जानने के लिये उद्योग करे। और उस के देश में छिपा के भेतियों को भेजे। जिस का भेत लेनाहो हँस के ले कि वह इस को मित्र जान के कुछ छिपा न रखे ॥

दूसरा-अपने भेत को कभी प्रकट न होने देवे ॥

तीसरा-जब किसी के मन में शत्रुता और वैमनस्य के चिन्ह देखे तो उस को शमता का यत्न करे। जब लों प्रेम और नम्रता से काम बने तब लों युद्ध और बलका आरम्भ न करे। और मत धर्मकी विषमता से कभी युद्ध न करे क्योंकि यह अन्याय है ॥

चौथी-जब लों सेना एकाग्र और एक मन न होवे युद्ध का उद्योग न करे। क्योंकि इस में विजय का होना सम्भव नहीं ॥

पञ्चम-जब लों कोई अन्य उपाय बचाव का होवे दुर्गका आश्रय न लेवे। क्योंकि दुर्ग और कोट आदिक स्थान अत्यन्त भीड़ में आवश्यक होते हैं। और शूर-वीरों की दृष्टि में वह भी एक भांति का पराजय है ॥

षष्ट-जहां लों हो सके राजा शत्रु के सन्मुख आप कभी न होवे॥

सप्तम-सेनापति वह होना चाहिये कि जिस ने कई बार युद्ध देखे हों और हठ, धैर्य्य, दृढ़ता, विद्या, निर्भयता, उद्यम, उत्साह इन सात बातोंमें परीचित और जैसा समागम होवे उसी प्रकारके उपाय करने में चतुर हो तथा भीरु और क्लीव न होवे। क्योंकि सारी सेना उसी के अनुसार चेष्टा करती है ॥

अष्टम-शत्रु को तुच्छ और अशक्त जान के आप निरुद्यम अलस और निश्चिन्त न हो बैठे। क्योंकि यह अपने पराजय का उपाय है ॥

नवम-जो जन युद्ध में अच्छा काम देवे उसे उच्च पदवी देवे और जो कोई युद्ध में मृत हो जावे उस के सम्बन्धियों की पालनादि में लगा रहे ॥

दशम-यदि शत्रु जीता मिल जावे तो जहां लों हो सके उसे प्राण से न मारे। और जीतने के पीछे फिर उस के साथ मानसिक वैर न रखे। और शत्रु के बाल बच्चे वा स्त्री आदिक से कदाचित् किसी प्रकार की बुराई न करे और न उन के ताड़नादि को श्रेष्ट समझे ॥

राजा को न्याय के विषय में बारह बात की आवश्यकता है जो उन को ग्रहण न करे तो न्याय नष्ट हो जाता है:—

१ जिस वस्तु और व्यवहार का गृहण करना वा त्यागना किसी अन्य की आज्ञा वा इच्छा से अपने को न भावे वह आप भी किसी से न चाहे ॥

२ जो विवाद अपने सामने आवे उस के निपटाने के बिना अन्य कार्य्य में प्रवृत्त न होवे कि पीड़ित लोग आशा में ही मृत हो जायें। जिस व्यवहार को निपटाना चाहे उस में राजा किसी अन्य को मान के आप मानो झगड़ालू बने। सो उस समय जैसा कि अपना मन राजा के यथार्थ न्याय को चाहे वैसा ही उस झगड़ालू के साथ करे। जो बात वा न्याय अपने मन को न भावे वह उस से भी न करे।

अर्थात् जैसा कि अपना मन अपने विजय और प्रतिष्ठा, धन, धर्म, मत, प्राणादि को प्रिय समझता है वैसाही दूसरे का समझे॥

३ प्रसन्न चेष्टा से राज्य व्यवहार को पूर्ण करे कि जिस में शीघ्र कोप और अन्याय न प्रकट होवे॥

४ अपने दुर्लभ और अमोलक काल को प्राय: मद्य, मांस, आखेट, व्यभिचार, नाट्य, गीत आदिक शारीरिक और मानसिक आनंदों में ही व्यय न करे कि कोई शत्रु समय पा के काम बनाले। अथवा राजा को विषयों में उरझा देख के कोई मन्त्री वा भृत्य ही राज्य प्रभु हो के प्रजा को पीड़ित करे॥

५ प्रजा की प्रसन्नता अपनी प्रसन्नता जाने और जहां लों होसके किसी जीव को सताना वा प्राण लेना न चाहे॥

६ आप अन्याय न करे और अपने मन्त्री आदिक और प्रजा को भी अन्याय से रोके। जो राजा अन्यायी होता है उस के राज्य में सब कोई अन्याय करने लग जाता है॥

७ सब को उस के अधिकार पूर्वक रखे किसी को ऐसा समर्थ न बनावे कि आप असमर्थ हो जावे और न ऐसा असमर्थ करे कि वह अपने को निकम्मा समझे॥

८ जो कुछ आज्ञा देवे न्याय से हो तथा किसी को छलादि न करने देवे। और न्याय के अनुसार कभी २ क्षमा को भी काम में लावे॥

९ अहंकारी और क्रूर तथा उन्नत लोगों के साथ आप भी उन के समान ही होवे, और निष्कपट वा सरलाचारों से हित करे और यद्यपि सब के मानसिक कपटों को समझता हो परन्तु आप उनके तुल्य स्वभाव न करले॥

१० जो आज्ञा देवे उस का आदि अंत विचारके देवे और यदि आज्ञा दे चुका होवे तो उस को अवश्य पूरा करे। यदि आज्ञा दिई हुई एकबार व्यर्थ जावेगी तो फिर सब लोग उस की आज्ञा उल्लंघित करेंगे और कोई काम उस का पूरा नहीं होने पावेगा॥

११ वृथा क्रूरता और ताड़ना का स्वभाव न रखे क्योंकि इस में लोग निश्चिन्त और ढीठ हो जाते हैं। जैसा कि देखा यदि कोई न चलते घोड़े को मारे तो चलने लग जाता है और चलते को मारे तो खड़ा हो जाता

है। और यदि फिर भी उसे मारे तो यह समझ के निश्चिन्त और ढीठ हो जाता है कि इस की ताड़ना किसी काम के लिये नहीं केवल स्वाभाविक है॥

१२ अपराधी चाहे अपने पुत्र मित्रादि में से भी हो परन्तु न्याय के अनुसार दंड प्रदान में विलम्ब न करे। और अपना वैर पूरा करने के निमित्त वृथा ही किसी को दण्ड योग्य न बनावे क्योंकि यह अत्यन्त अन्याय है॥

राजा को चार बातें सदा दृष्टि पथ रखनी चाहिये:—

एक कोष—अर्थात् उस में सदा वृद्धि रहे और अन्याय उपार्जित द्रव्य उस में पड़ने न पावे। और वृथा और अधर्म रूप कार्यों में व्यय न होवे॥

द्वितीय विचार—अर्थात् अधिकार अनधिकार की परीक्षा॥

तृतीय प्रजा—अर्थात् प्रजा पर सदा सुदृष्टि और दया बनी रहे। जैसा कि चोर, व्यभिचारी, घातक आदिकों के उपद्रवों से बचना, और इनके दुःख सुखादि के सर्वदा ज्ञाता होना और जैसे इस में प्रफुल्लता और प्रकाश बना रहे वह उपाय सदा करते रहिना॥

चतुर्थ दान—अर्थात् जो दान के अधिकारी हों उन को शून्य न रखे। क्योंकि दान शील पुरुष के आगे सब कोई नम्र रहिता है और कृपण के साथ व्यर्थ ही सब का वैर हो जाता है तथा कभी कोई जन उस के काम नहीं आता॥

प्र०—अब आत्मा के न्याय नाम धर्म के रोग और उन के उपाय सुनाइये?

उ०—जैसे पूर्वोक्त संवित प्रभृति धर्मों के तीन २ रोग कहिये वैसे इस न्याय के साथ अन्याय नाम केवल एक ही रोग प्रसिद्ध है। अर्थ इस का यह है कि अनर्थ करना, और कार्यों और व्यवहारों में अयोग्यता और अश्रेष्टता को बरतना। तात्पर्य यह है कि सम्वित प्रभृति तीन धर्मों की साम्यावस्था का नाम जो न्याय प्रकट हुआ है जब उन में से कोई न्यून वा अधिक हो जाता है तो अज्ञान और काम क्रोध प्रकट होकर अन्याय को उत्पन्न कर देते हैं और उस के प्रताप से आत्मा पतित होजाता है। वह अन्याय दो प्रकार का है एक पर, दूसरा अपर:-

१ पर अन्याय—वह है कि जो न्याय की अधिकता से उत्पन्न होता

और किसी दूसरे पर किया जाता है। उपाय इस का यह है कि जैसे बने प्राणी सम्वित आदिक तीनों धर्म को न्यून अधिक न होने देवे और यह विचारता रहे कि अन्य जीवों पर जो अन्याय है उसका दुःख भी मेरे समान है। इस पर अन्याय से इन दश रोगों की उत्पत्ति होती है जो नीचे लिखे हैं और परम अन्याय का रूप हैं:-

प्रथम अविचार-अर्थात् सम्वित, संयम, शौर्य्य, न्याय इन चार धर्म से विरुद्ध बरतना। उपाय इस का यह है कि प्राणी सर्वदा काल आत्म चिकित्सा के ग्रंथों का अध्ययन वा उन की शिक्षादि के ग्रहण का स्वभाव रखे॥

द्वितीय तृष्णा-अत्यन्त अधिक पदार्थों की इच्छा रखना। उपाय इस का यह है कि इस को नाना क्लेशों का मूल जान के मन में न आने देवे॥

प्र०-इस तृष्णा नाम रोग से तो प्रायः अपनेही मन को कष्टादि होते हैं फिर इस को पर अन्याय के सम्बन्ध में क्यों लिखा?

उ०-जब तृष्णा उदय होती है तो उस के साथ झूठ, छल, क्रोध, अहंकार, घूंस लेना, चोरी करना, विश्वास घात ये आठ उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं कि जो केवल पर पुरुषों के ही दुःख प्रदान और मनछेदन में कारण हैं इस हेतु से इसे पर अन्याय के सम्बन्ध में लिखा है॥

तृतीय अनार्य्यता-कार्यों और व्यवहारों में पूरे न उतरना किन्तु जैसे बने अपने लाभके निमित्त अन्य पुरुषोंके साथ मायाका प्रकट करना। उपाय इस का यह है कि प्राणी सदा इस बात को विचारे कि मायिक व्यवहार एक दिन अवश्य ही प्रकट होके दुःख का हेतु ठहिरते हैं। और मायावी पुरुष मृत्यु पर्यंत संसार की दृष्टि में अप्रतिष्ठित रहिता है॥

चतुर्थ अनधिकारिता-मृतक के पदार्थ को उस के अधिकारियों और ऋण ग्राहकों से छीन के अनधिकारियों पर विभाग करना। उपाय इस का यह है कि प्राणी अपने विषय में दृष्टि करे कि यदि कोई मेरे भाग को हर के अन्य को अर्पित करे तो कितना उपताप होता है, इसी भांति उस को होवेगा कि जिस को मैं अभागी बनाऊंगा॥

पंचम असंतुष्टि-पदार्थोंके विभागके समय अपने लिये सबसे अधिक

और स्वच्छ पदार्थों की इच्छा करना। प्रतिकार इस रोगका यह है कि उस समय यह विचार करे कि जो कोई विभाग कर्त्ता की इच्छा से विरुद्ध लालच करता है वह ठगों की मंडली में गिना जाताहै॥

षष्ट. वक्रता–राजा की आज्ञा और उसके प्रबंध को न मानके स्वेच्छाचारको शुभ मानना। बहुत मूर्खहैं कि जगत्के बीच रहिते और अपने को राजदंड और उस की आज्ञा से स्वतन्त्र समझते हैं। यह उस दशा में होसकता है कि जब प्राणी सांसारिक संपूर्ण व्यवहारों को तज देवे नहीं तो यदि अपने को राजाज्ञा और उस के प्रबंध से बोद्ध समझेगा तो किसी कुकर्म से भय नहीं करेगा। प्रतिकार इस का यह है कि प्राणी इस बात को दृष्टिपथ रखे कि चित्त का स्वभाव है कि जब इस को किंचित् भी स्वतन्त्रता और निर्भयता मिले तो स्वेच्छाचारी होके नाना उपद्रव करने लग जाता है। इस कारण योग्य है कि मन सर्वदा काल राजा के भय को दृष्टि गोचर रखे क्योंकि इस के बिना अन्य उपाय कोई नहीं कि इस को मन्द क्रिया से रोके॥

सप्तम. अनीति–शक्त होकर उत्पथगामी और अपराधियोंके ताड़न तथा शासन में विलंब करना, वा राजा होकर दुष्टों के दंड को भूल जाना। उपाय इस का यह है कि सर्वदाकाल यह विचार करतारहै कि यदि कोई शक्तिमान पुरुष दुष्टोंके सुधारने का यत्न न करे तो जो मन्द व्यवहार दुष्टों से होते हैं शक्तिमान के सिर उन का कलंक होवेगा। अथवा यह बिचारे कि मुझे जो सामर्थ्य प्राप्त है यदि मैं दुष्टों के हाथ से दुःखित प्रजा को परित्राण न दूंगा तो मुझे समर्थ बनने का क्या फल हुआ क्योंकि विद्या, बल, वित्त, उस दशा में सफल और श्लाघ्य गिने जाते हैं कि जब उन से परोपकार आदिक व्यवहार प्रकट होते रहें॥

अष्टम विनाश-किसी का विघात करना। उपाय इस का यह है कि प्राणी इस बात को सोचे कि मैं जो उस का विघात करना चाहताहूं कारण उस का बैर वा क्रोध वा अहंकार है यदि ये तीनों मेरे मनमें न होतेतो विघातका संकल्प उदय न होता। सो चाहिये कि मैं अपने मन का नाश करूं कि जिस में ये बैरादि पाप बीज पड़े हुए हैं। और यदि इन बैरादि तीनों कारण में से अपने मन में कुछ न हो केवल कोई

दुष्ट पुरुष वृथा ही तुमको सता रहाहै कि जिसके कारण तुम्हारे मनमें विघात का संकल्प उदय हुआ तो भी यही उपाय उचित है कि प्रथम येन केन अपने मनको नम्र करके उसके साथ प्रेम बढ़ालो कि जिससे वह अपनी दुष्टता को अपने आपही त्याग देवे। यदि इस से भी वह सरल न होवे तो आपसे अथवा किसी शक्त पुरुषसे यत्किंचित दंड करा दो परंतु विघात का उद्यम न करो। यह विघात नाम रोग दो प्रकार का होता है एक शारीरिक दूसरा मानसिकः-

शारीरिकविघात-वहहै कि जिसमें शस्त्रपात, विषदान, कूपपातन, कंठपाश, अग्नि दाह, आदिक उपद्रव रचने पड़ते हैं। प्रतिकार इस का यह है कि शत्रु हो वा मित्र परंतु मनुष्य देहकी सर्वथा दुर्लभता विचार के जैसे बने रक्षा करनी ही योग्य है॥

मानसिक विघात-इसको नाम है कि किसी को वृथा कलंक का लगादेना, प्रतिष्ठा भंगकरना, विश्वास घात करना, किसी का सुख विगाडना, धमकी देना, निन्दाकरना, पदार्थ हरलेना, विद्वेष करना दो-मित्रोंमें विरोधकरादेना, किसीके यतित्व को तोडना, इत्यादि अनेक उपद्रव मानसिक विघात में रचने पड़ते हैं। प्रतिकार इस का यहहै कि अन्य जीवों के दुःख को अपने समान जाने। यद्यपि इस मानसिक विघात से किसीका प्राणघात तो नहीं होता परंतु शारीरिक विघातसे अधिक दुःख दायकहै क्योंकि शारीरिक विघातका खेद प्राणीको एक वार होता है और मानसिक विघात मृत्यु पर्यंत दुःखी करता है॥

नवम व्यग्रता-मनका काम क्रोध और अज्ञान की अधिकताके साथ व्याकुल रहिना। इसको इस हेतु से अन्याय में लिखा कि जब काम हृदयमें उत्पन्न होता है तो निर्लज्जता, अनृत, अभीति, चौर्य, व्यभिचार, छल आदिक अनेक उपद्रवों को कि जो अत्यंत अन्याय रूप हैं उदय करता है। और जब क्रोध का धूम मनमें भरता है तो वैर, वैमनस्य, विघात, अहंकार आदिक कुकर्म जो परम अन्याय रूपहैं प्रगट होने लगजाते हैं। और जब अज्ञान मनमें समाता है तो प्राणी मानो संपूर्ण अन्यायों की मूर्त्ति बन जाता है। इस हेतु से व्यग्रताको समस्त अपकर्मों कोमूल जानके कदाचित मनमें न आने देना चाहिये। उपायइस व्यग्रता की निवृति का यहहै कि सर्वदा महात्मा का संग और आत्मा की

चिकित्सा यथा क्रम करता रहे क्योंकि आत्माकी चिकित्सा करते रहि ने से व्याधि तो चाहे कधी कोई हो जावे परंतु आधि और उपाधि से प्राणी सदा बचा रहिता है ॥

प्र०—व्याधि, आधि, उपाधि, का अर्थ मैं नहीं समझा ?

उ०—व्याधि-इस का नाम है कि जो कफ, वात, पित्त के तारतम्य द्वारा कोई ज्वर, शूल, गुल्म, व्रण आदिक उपद्रव देह में उत्पन्न हो जाते हैं ॥

आधि-इस को कहते हैं कि जो काम, क्रोध, अज्ञान, आदिक उपद्रव मन को दुःखी करते हैं ॥

उपाधि-वह है कि जो नेत्र, कान, नासा आदिक इंद्रिय वर्ग में उत-पन्नहोकर पीड़ा देती हैं ॥

सो सर्व पुरुषों को उचित है कि यदि कोई व्याधि अचानक आ पडे तो आओ परंतु आधि और उपाधि को जो अपने आधीन है कबी मन में न भरने दें अर्थात् अपनी ओर से कोई ऐसा काम न कर बैठें कि जो आधि और उपाधिका हेतु होवे ॥

दशम दुराचार-किसी ऐसे व्यवहार वा आचार वा क्रियादि का क रना कि जिससे अन्य पुरुषों को स्वभावत: ही दुःख प्राप्त हुआ करे। जैसा कि दुष्ट लोग व्यर्थ ही वैसे व्यवहार करते हैं कि जिन से समी-पियों और मार्ग गामियों को नाना दुःख सहारने पडें। प्रतिकार इस का यह है कि प्राणी इसबात को विचारे कि जगत में सब लोग देह के अंग उपांग के समान परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं यदि मैं इसके विरुद्ध जीवोंको व्यर्थ ही सताऊंगा तो कितना बुरा गिना जाऊंगा॥

जब कोई व्यर्थ किसी को सताता है तो उस समय अपने अज्ञान से यद्यपि अपने मनमें कुछ आनंद मानता है परंतु थोडेही काल में उसे पश्चात्ताप करना पड़ताहै। आश्चर्य है उनपर कि जो किंचित धन मान कुटुंब को पाके ऐसे उन्नत हो जाते हैं कि बडे २ हस्तियों को मानो अबी पाओं के नीचे लेकर कुचल डालें। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य एक निमेष मात्र में अपना सब कुछ नष्ट करके चींटी के समान निर्बल और असमर्थ बन जाता है फिर अहंकार क्या करे। ब-हुत बार परीक्षा किई है कि बड़े २ कुटुंबियों का कि जिन के सहस्रों

सम्बन्धी थे, एकही क्षण में नाम मिट गया और महा निर्द्धन वा निर्वंश दीन पुरुषों को पुत्र कलत्रादि से विभूषित और राजा बन जाते देखा। सो योग्यहै कि पुरुष किसी बातका अभिमान न करे। जैसे बने धन, मान, कुल आदिक पदार्थों से अन्य जीवों को सुख देवे। बस ये पूर्वोक्त दश बातें पर-अन्याय रूप हैं कि जिन के बरतने से प्राणी कभी सुखी नहीं रहि सकता॥

अब जो दूसरा अपर-अन्याय कहाथा उत्पत्ति उसकी न्यायकी न्यूनता से है और अर्थ उस का यह है कि अपने ऊपर अन्याय करना अर्थात् अपने आप को दुःखी रखना। प्रतिकार इस का यह है कि इस बात को सोचें कि मेरा जो आत्मा है उस में प्रथम से कोई कष्ट नहीं किन्तु शुद्ध और प्रसन्नहै अब जो मैं इस को दुःखी और दीन रखूं तो परम अन्याय है। यह अपर अन्याय कि जिस को आत्म घात भी कहिते हैं दो प्रकार का होता है एक तो "स्वकृत-आत्मघात" दूसरा "पर कृत-आत्मघात":-

स्वकृत तो यह है कि अपना घात आपही करना। उपाय इसको यही है कि जो ऊपर लिख चुके कि सदा अपने आत्मा को सुखी रखना चाहिये परन्तु ऐसी रीति से कि उससे कोई निन्दित कर्म न होने पावे। यह स्वकृत आत्म घात यह होता है कि इन छै बातों के संग प्रेम रखना कि जिन से सर्वदा काल आत्मा को दुःख रहिता और नीचे लिखी हैं:-

१ विद्या का न पढ़ना-इस से प्राणी आयु पर्यंत दुःखी और शोकित रहिता है। विद्या एक ऐसी अमोलक और गुप्त धन है कि चाहे प्राणी कैसा ही कुरूप और दीन और निर्द्धन हो परन्तु कभी शोकार्त्त और चिन्तातुर हो के नहीं बैठता किन्तु इस आनन्द में उन्मत्त रहिता है कि मेरे पास वह पदार्थ है कि जिस के द्वारा सब से पहिले सत्कार पा सकता हूं॥

२ कुसंग सेवन-इस में ऐसे २ उपद्रवों और बिकारोंकी प्राप्ति और प्रकृति हो जाती है कि प्राणी आयु पर्यंत सुख का श्वास नहीं भरता सदा रो रो के दिन काटता और पश्चात्ताप करता है। देखो जैसाकि द्यूत, चौर्य्य, व्यभिचार का करना और भांग, चरस आदिक का उड़ा-

ना, बहुत सोना तथा खाना और बहुत बोलनो, निकम्मे बैठना अहंकार, निर्लज्जता, निर्भयता आदिक समस्त विकार जो महा दुःखदायक हैं केवल कुसंग के प्रताप से ही प्राप्त होते और आत्मा को घात करते हैं ॥

३ क्रोध—इस के उदय में वैसे काम करने लग जाता है कि जिन से प्रायः अपना ही घात हो। जैसा कि छाती पीटना, सिर फोड़ना, कपड़ा वा बरतन तोड़ना, अन्न जलादि का त्यागना, कठिन व्रतों वा नियमों का धारना, विष खाना, इत्यादि अनेक दुःखदायक क्रिया उस का फल होती है ॥

४ अहंकार—इस के प्रताप से भी वे कार्य प्रकट होते हैं कि जिन से सर्वदाकाल आत्माको कष्ट रहे। जैसा कि अहंकारी पुरुष किसी अन्य के पास जाने में जो अपनी लघुता समझता है इस कारण उस के वे आवश्यक व्यवहार असिद्ध रहते हैं कि जिन की सिद्धि उस के आनन्द में कारण थी। अथवा अहंकारी पुरुष व्यर्थ ही संसार से वैरादि कर के सदा दुःखी रहता। और कभी कभी अहंकारी पुरुष अपना मान बढ़ाने के लिये ऐसे ऐसे पाखंड नियम धार लेता है कि जिन से आत्मा को अत्यन्त कष्ट रहे। जैसा कि ऊर्द्ध बाहु बनना, दिगंबर विचरना, अधोमुख लटकना, निरन्न रहना, पंचाग्नि तपना इत्यादि ॥

५ कृपणता—इस से वे व्यवहार प्रकट होते हैं कि जिन से कभी सुख नहीं होता। जैसा कि रूक्ष और गत रस भोजन का करना, और शीत, उष्ण के समय वस्त्र का संकोच करना, चाहे कैसे ही भोग और पदार्थ घर में धरे हों और पड़े ही बिगड़ जायें परंच आप उन को ग्रहण न करना, तात्पर्य्य यह है कि शरीर चाहे अभी नष्ट हो जावे परन्तु धनादि के नष्ट को न सहार सकना ॥

६ बाधा—इस से वे निन्दित व्यवहार प्रकट होते हैं कि जिन से अपने शरीर और प्राण का घात हो जावे। जैसा कि किसी हेतु से आप ही विष खा लेना, फाँसी लेना, गोली मार लेना, कूप में कूदना, शस्त्रादि से मरना इत्यादि और भी कई प्रकार से मूर्ख लोग अपना नाश कर लेते हैं। हाय! आश्चर्य कि वे अपने आप ही अपने जीवन सुख को खो लेते हैं ॥

अब जो दूसरा पर-कृत आत्मघात कहा था वह यह है कि किसी दूसरे के अन्याय और उपद्रव को अपने ऊपर सहारते रहना। तात्पर्य यह है कि आत्मा के दुःखी करने का नाम अन्याय है सो चाहे कोई अपने को चाहे अन्यको दुःखी रखे दोनों भांतिसे इसको अन्याय कहा जावेगा। क्योंकि दुःख संपूर्ण आत्माओं को एकसा ही होताहै। उपाय इस का यह है कि जब किसी का अन्याय अपने ऊपर होता देखे तो अपने आत्मा को बचाने का यत्न करे। जैसा कि यदि राजा अन्यायी हो और उस के राज्य में सर्वदा उपद्रव उठते रहते हों तो उस के राज्य से बाहर हो जाना उचितहै। और यदि कोई अन्य पुरुष अन्याय और उपद्रव करता हो कि जिस से सर्वदाकाल तुम को कष्ट रहता हो जैसे बने उस का दमन करना योग्य है॥

प्र०—आपने पूर्व कहा था कि चाहे कोई कैसा ही दुःख देवे परन्तु प्राणी को सदा क्षमा रखनी अर्थात् सहारना चाहिये फिर अब कहते हो कि दूसरे के अन्याय से बचने का उपाय करना चाहिये। इस में मुझ को बड़ा सन्देह खड़ा हो गया कि इन में से कौनसी बात ग्रहण करने योग्य है ?

उ०—हम अब भी क्षमा का निषेध नहीं करते किन्तु यह कहते हैं कि आत्मा को अन्य के अन्याय से बचाना चाहिये न कि क्षमा को त्यागना। सो वह बचाना कई भांति से होताहै यदि सच पूछो तो क्षमा भी एक प्रकार का बचाना ही है। क्योंकि जब कोई किसीके अन्याय को अपने ऊपर सहार लेता है तो फिर उस का आत्मा बहुत दुःख नहीं मानता। तात्पर्य यहहै कि प्राणीको अपने आत्माकी रक्षा करनी चाहिये चाहे क्षमासे हो और चाहे भागके। और चाहे अन्यायी के मन को शांत करके कि जैसे वह अन्याय को त्याग देवे। परंतु सर्वदा काल आत्मा को दुःख के नीचे दबाये रखना श्रेष्ठ नहींहै। जैसा कि देखो यह कदाचित योग्य नहीं कि यदि कोई चोर नित्यप्रति तुम्हारा धन हरता हो अथवा कुछ शारीरिक पीड़ा कोई दुष्ट तुम को नित्य देता हो वा किसी स्थान में सिंह सर्पादि का भय हो तो तुम अपनी रक्षा का उपाय न करो। हां यह तो सत्य है कि बुरे के साथ उस के समान बुराई करना योग्य नहीं परन्तु शुभ रीति से अपनी रक्षाका

उपाय कर लेना किसी भांति से वर्जित नहीं होता ॥

बस जो कोई इन संपूर्ण रोगों से बच के संवित, संतोष, शौर्य्य, को समभाव पर रखे वह यथार्थ न्यायवान है । और न्याय केवल इस ही का नाम है कि प्राणी संपूर्ण व्यवहारों को सदा समभाव पर रखे और किसी अंश में न्यून अधिक न होने देवे ॥

प्र०—अब मैं यद्यपि अरोग हुआ और कोई संशय भी मनमें नहीं उठ ता तथापि एक बात मैं और पूछताहूं कि यदि उक्त उपायोंसे आत्मा एक बार अरोग हो जावे तो किसी कुपथ्यादि के सेवन से क्या फिर भी रोगी होजाना सम्भव है वा नहीं ?

उ०—हां जैसे शारीरिक रोगों की निवृत्ति हुए पर भी कुपथ्य सेवन से फिर रोग उत्पन्न हो जाते हैं वैसे आत्म रोगों की निवृत्ति के अनंतर भी द्वादश प्रकार के कुपथ्य का सेवन सदा वर्जित है क्योंकि उन के सेवन से आत्मा फिर भी रोगी हो जाता है ॥

प्र०—वे द्वादश कुपथ्य कौन से हैं कि जिन के सेवन से आत्मा को सदा बचाना चाहिये ?

उ०—वे द्वादश कुपथ्य ये हैं कि जो नीचे लिखे जाते हैं:—

१-जब आत्मा सर्व प्रकार से निरोग होकर सम्वित आदिक तीन धर्म से स्थित हो तो योग्य है कि कुसंगका सर्वदा त्याग रखे। क्योंकि मन का स्वभाव है कि चाहे कैसा ही दृढ़ हो परंच समीप वर्त्तियोंके स्वभावादि यत्किंचित् अवश्य ही ग्रहण कर लेता है ॥

२-अत्यन्त उपहास का त्याग करे कि यह संपूर्ण विकारों और उपद्रवों का मूल है। मनुष्य को उचित है कि यह अपने समस्त अवयव को उन व्यवहारोंमें प्रवृत्त होने देवे किजो स्वार्थ वा परार्थके उपयोगीहों। सो अभ्यास द्वारा सब कुछ सुगम होता है । यदि वृथा ही उपहासादि का अभ्यास और स्वभाव रखेगा तो फिर आयु पर्यंत भी नहीं छूट सकेगा ॥

३-बुरी बातों के सुनने और कहने वा देखने का त्याग करे। क्योंकि जैसे मन्द पुरुषों के संग से मन अशुद्ध और विकारी हो जाता है वैसे मंद वाक्यों के कथन श्रवण से भी होजाता है। ऐसेही कोक काव्यादि ग्रंथों वा विषय युक्त इतिहासादि के पठन श्रवण का भी त्याग

करे क्योंकि इनमें भी प्रविष्ट हुआ मन फिर कभी छूट नहीं सकता ॥

४-सांसारिक जीवों से मैत्री अत्यन्त अधिक न करे और अत्यन्त न्यून भी न होने देवे क्योंकि यदि अधिक होगी तो उसमें वियोग का दुःख और मिथ्यालाप निर्लज्जता ठट्ठा उपहास आदिक अनेक विकार उदय होजायेंगे। और यदि न्यून रही तो कुछ रस और लाभ प्राप्त नहीं होवेगा। उचितहै कि जिसको मिले प्रसन्नचेष्टा और आल्हाद से प्रफुल्लित होकर समभाव पर मिले अत्यन्त प्रेम करना अनुचित है। जो जन किसी हेतु से प्रसन्न चेष्ट और प्रफुल्लित नहीं प्रतीत होता उस के साथ स्वभावतः ही सारा संसार खिंचा रहिताहै। और जहां तहां उसके छिद्र और औगुन का आख्यान हुआ करता है। सबके चित्त का स्वभाव है कि जिस किसी के साथ किंचित वैमनस्य होवे सारे संसार के छिद्र और विकार उसी में आरोपण करने लग जाता है और जिस के साथ कुछ सामीप्य होवे उसके अव गुणों को भी गुण रूप मानताहै इस कारण से योग्य है कि किसी के साथ वैमनस्य न होने देवे और न अत्यन्त प्रेमको बढ़ावे॥

५-काम और क्रोध की सामग्रीरूप मद्य,मांस,मैथुन, स्त्री वा बालकों का संग द्यूत नृति आदिक के सेवन से बचता रहे। इन के सेवन से मन अवश्य ही आसक्त हो जाता है और उस आसक्ति के प्रताप से उद्धार को अवकाश नहीं रहिता। फिर वह अनवकाशिता काम क्रोध की वृद्धिमें कारण और वे दोनो वृद्धि पाकर सहिजमेंही आत्माका विनाश करदेते हैं। और यह मद्यादि सामग्री परंपरा से एक दूसरे की उत्पत्तिमें कारणहैं। जैसाकि मद्यप पुरुष मांसादि सुस्वादु वस्तुकी चाह अवश्य करेगा। और मांसाहारीका मन मैथुन की इच्छा अवश्य रखेगा फिर मैथुनकी इच्छा स्त्री वा बालकोंके संगमें जोडेगी। वह स्त्री संग द्रव्य साध्य होनेसे फिर द्यूत कर्म का प्रेरकहै, और द्यूतको द्रव्य उपलब्धिका साधनरूप होनेसे नृति का जनक समझो। फिर नृति से काम की उत्पत्ति और कामसे क्रोध का प्रादुर्भाव समझना चाहिये। इसकारण मुमुक्षु को इस में से एक वस्तु की भी इच्छा करनी योग्य नहीं॥

६-अन्न,वस्त्र,स्थान,यान आदिक पदार्थों के संचय में मुख्य प्रयोजन निर्वाह को समझे। क्यों कि यदि अत्यन्त इच्छा करेगा तो अनेक क्लेश

और उपद्रव तथा उपताप सहारने पड़ेंगे। अधिक लिप्सु पुरुष सर्वदाका ल पदार्थों के सञ्चय में आसक्त रहिता है। वैसा दिन कभी नहीं देखता कि सञ्चित पदार्थों का सुख प्राप्त करे। वे लोग अत्यन्त मूर्ख हैं कि जो इस बात को नहीं विचारते कि प्रयोजन द्रव्य सञ्चय का सुख पूर्वक निर्वाह है। यदि निर्वाह सामान्य द्रव्यसे ही हो जावे तो दीर्घ प्रयास वा प्रयत्न वा पराधीनता वा विदेश से वनादि क्लेश उठानेमें क्या तात्पर्य है। जो लोग इंद्रियों के अधिक रस औरस्वादके निमित्त प्रयास उठाते हैं उन्हें यह विचारना योग्य है कि जितने रस और स्वाद हैं वे आत्मा की प्रसन्नता और शरीरके नीरोग होने से अच्छे लगते हैं और यदि आत्मा वा शरीर अस्वस्थ होतो सब विरस भासते हैं। फिर क्या लाभ कि प्राणी द्रव्य सञ्चयके प्रयास रूप कष्ट से आत्मा वा शरीर कोअप्रसन्न और रोगी वनाये रखे। जबकि यह सिद्धहो चुका कि सम्पूर्ण सुख वा स्वाद आत्मा वा शरीर की आरोग्यता का नाम है तो बस जब आरोग्यता प्राप्त है तो अन्य सुख साधनों की लालसा वृथा है। यह भी देखने में आता है कि कोई जितना अधिक सुखादि को भोगता है उतनी ही अधिक तृष्णाग्नि उसके हृदय को दग्ध करती है। क्योंकि संसार में भोगों की अनंतता होने से कोई कवि तृप्त नहीं हो सकता उलटा अधिक भोगों का भोगना दुखों में कारण है। और भी बात है कि क्षुधा पिपासाके समय और उनकी तृप्ति वा निवृत्ति के समय धनी और निर्धन समान होता है फिर जो धनी के पास निर्धनसे अधिक धनादि हो तो क्या विशेषता है उलटा वे धनादिक पदार्थ उस को मन्द मार्ग और कुकर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं॥

७-प्रथम हानि लाभ और फल विचारे बिना किसी कार्य का आरंभ न करे। और बुद्धि से विरुद्ध अंगोपांग को न हिलावे। यदि कोई कर्म बुद्धि और विचार के विरुद्ध होभी जावे तो पश्चाताप करके अपने मन को ऐसा धिक्कार करे कि फिर कधी ऐसे कर्म का नाम न लेवे। आश्चर्यहै उनपर कि जो बुद्धिसे विरुद्ध क्रिया करके सर्वदाकाल महा दुःख भी उठाते हैं परंतु विचार और बुद्धिके अनुसार चलने को ग्रहण नहीं कर सकते॥

८-अपने दूषण और औगुनको भूल न जावे किंतु सदा उसे दृष्टि

गोचर रखके सदा उसके त्याग का यत्न करे। मन का स्वभाव है कि जहां इसका प्रेम होजावे चाहे वह अंध, कुब्ज, खंज, पंगु, कुष्टी और कुटिल भी हो तौ भी उस के दूषण और औगुन को नहीं देखता। इसी भांति अपने शरीर में जो प्राणी का संपूर्ण संसार से अधिक प्रेम है इस कारण अपने औगुन और दूषण आपही प्रतीत नहीं होते कि झटति ही त्याग देवे। योग्य है कि किसी सुबोध मित्र को कहि छोड़े कि मेरे दूषण मुझ को बतलाते रहिना नहीं तो अज्ञात ही विनाश हो जावेगा॥

९–दुःस्वभाव चाहे स्वल्पसा भी हो उस को महान अपराध समझ के त्याग देवे। क्योंकि वह स्वल्पसा दुःस्वभाव थोड़े ही काल में महान होजाता है और फिर उसकी निवृत्ति का सामर्थ्य नहीं रहिता॥

१०– वर्जित प्रतिष्ठा को अपने चित्त में न भरने देवे कि जिस के प्रताप से मूर्ख लोग आयु पर्यंत दुःखी रहिते हैं। जैसा कि किसीने फुसलाया कि ये बड़े महापुरुष हैं अन्न बहुत थोड़ा खाते अथवा सोते बहुत स्वल्पसा हैं। वा बोलते बहुत सूक्ष्म हैं। इत्यादि बड़ाई के वाक्यों को सुनके भोजन और निद्रादि को घटा देना। अथवा किसी ने कहा कि ये बड़े २ कूप को वत्सपद की नाईं कूद सकते हैं तो अज्ञान से दांत को तुड़ालेना। अथवा झूठी वा वर्जित प्रतिष्ठा को ग्रहण करके अपनी लघुता होजाने के भय से उन उत्तम उपदेश और श्रेष्ट विद्यादि के ग्रहण से शून्य रहि जाना कि जिन से परमसुख प्राप्त होवे। हाय आश्चर्य कि प्राणी स्त्री, पुत्र, धनादि तुच्छ पदार्थों और सुखों के लिये तो विदेश सेवन और पराधीनतादि अनेक क्लेशों को सहार लेते हैं कि जो सुख एक क्षण में नष्ट होजाते अथवा मृत्यु के पीछे पराये हो जाते हैं परंतु परम सुख और सदैवी आनन्द को किंचित लघुता के भय से ही त्याग छोड़ते हैं॥

११– यदि व्यर्थ क्रोधका स्वभावहो जावेतोजैसे बने उसके निवारण का यत्न करे अर्थात् किसी मूर्ख भृत्य को सेवा में रखे। क्योंकि उस से जो सर्वदा अपराध होते रहिते हैं इस कारण उस के मूर्खत्व पर दृष्टि करके क्षमा की प्रकृति हो जावेगी। जिस प्राणी को व्यर्थ क्रोध का स्वभाव होजाताहै वह प्रतिश्वास अपने और पराये कामों को देखर

दग्ध होता रहिता है। और यदि कोई उससे कुछ प्रेम भाव में भी बोले तो अतिपरितप्त होकर उत्तर देता है। तात्पर्य यह कि बात बात में उसके मुख, आंख, हस्त, पाद आदिक अंग उपांग से अग्निवत दाहक क्रिया प्रकट होती रहिती है। और वह संकटक वृक्षकी नांई सदा अपने और पराये आत्मा को छेदन करता और दुःख देता रहिता है॥

१२-हठ न करे जो कदाचित कोई पुरुष किसी विषय में कुछ शिक्षा प्रदान करे तो उससे सिर न फेरे किंतु क्षमा पूर्वक ग्रहण करले। बहुत लोग हैं कि चाहे अपने में कैसे ही औगुन पूरित हों परंच यदि कोई उन को जितलाने लगे तो क्रुद्ध होजाते अथवा हठ से वक्ता को झूठा ठहिराते हैं। हठी पुरुष का स्वभाव है कि अपने पक्षकी पूर्ति के निमित्त बारंबार अनृत कहिने और अन्याय करने लगजाता है। यह नहीं जानता कि यदि मैं प्रथम ही हठ को छोड़ दूं तो फिर कोई पाप करना नहीं पड़ेगा। अहो उन दक्ष पुरुषों का धैर्य कि जो महा मूर्खों की शिक्षादि को भी उनके सामने इस हेतुसे स्वीकार करते हैं कि यदि हम न करेंगे तो इनका मन भंग और निरादर होवेगा॥

बस जो पुरुष पूर्वोक्त सत्वादि तीन गुण को अपने आत्मा में समभाव पर रखे अर्थात् न्यूनता अधिकता जन्य किसी प्रकार के रोग से ग्रस्त न होने देवे और सर्वदा काल उक्त द्वादश कुपथ्य से बचावे वह न्याय द्वारा मोक्ष का भागी और कृतार्थ गिना जावेगा। अब तुम को भी उचित है कि हमारे संपूर्ण कथन को हृदय में रख के उसके अनुसार चलने का आरंभ करो क्योंकि जब लों कोई पुरुष धारणा संपन्न दृढ़ निष्टा नहीं करता तब लों चाहे संपूर्ण विद्या प्राप्त हों परंतु कुछ सुख नहीं होता। देखो जैसे किसी रोगी के पास चाहे समस्त औषधियां धरी हों परंच विधि संयुक्त ग्रहण और सेवन के विना दुःख निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति संभव नहीं वैसे ही धारणा से विना संपूर्ण विद्या और शिक्षायें व्यर्थ हैं॥

प्र०-हे गुरो आपने पूर्व आज्ञा किईथी कि पहिले आत्मा की चिकित्सा करो फिर युक्ति पूर्वक तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया जावेगा सो अब आपकी कृपा से मैं आत्मा की चिकित्सा को सुन चुका और वह ऐसी चिकित्सा है कि मन अपने आप उसके अनुसार चलने को

उद्यम कर रहा है परंतु अब मेरे इन प्रश्नों का उत्तर भी कृपा कर सुनाइये कि परमेश्वर क्या वस्तु है। वेद उसकी वाणी कैसे है। देहमें जीव क्या पदार्थ है कि जो पाप पुण्य के अनुसार नर्क स्वर्ग में जाता और ज्ञान के प्रताप से मोक्ष फल पाता है। ज्ञानवान को किस पद्धति और आचार पर चलनो चाहिये?

उ०—हां आत्मा की चिकित्सा किये बिना कोई पुरुष विज्ञान पद का अधिकारी नहीं होता। सो अब तुमने जो आत्मा की चिकित्सा कर लिई है इस हेतु से अब तुमको विज्ञान मार्ग का उपदेश सुनाते हैं जिसमें तुम्हारे समस्त प्रश्नों का उत्तर दृढ़ युक्तियों के साथ दिया जावेगा। तुमको उचित है कि जो पुरुष आत्मा की चिकित्सा न कर लेवे अथवा अपराविद्या से आगे जिसकी बुद्धि न चल सकती हो उसे विज्ञान पद की बात कभी न सुनाना कि जिस को परा-विद्या कहिते हैं॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत प्रवाह पूर्व भाग आत्म चिकित्सायां न्याय वर्णनं पञ्चमस्तरङ्गः समाप्तः ॥

समाप्तोयं पूर्वभागः

ओ३म्

॥ श्री परम गुरवे नमः ॥

अथ सत्यामृतप्रवाहनामग्रंथस्य उत्तरभागः

॥ आदौ वेदोपदेशः कथ्यते ॥

हे लोगो, यह जो जगत प्रपंच दिखाई देता है दो प्रकार का है एक जड दूसरा चेतन। यद्यपि चेतन जीव पशु पक्षी रूपसे कई भांतिके हैं परंतु सबमें मनुष्य श्रेष्ठ है कि जिसको अपने पराये सुख दुःखका ज्ञान है और सुखकी प्रवृत्ति और दुःख की निवृत्ति का यत्न कर सकता है। जो लोग इसको केवल तुच्छ सुख विषयानन्द में प्रवृत्त करके परमानन्द स्वरूप मोक्षकी इच्छा नहीं करते वे पशुके समान हैं क्योंकि विषय सुख पशु को भी प्राप्त होजाता है॥

प्रश्न-परमानन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर-विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सो विद्या दो प्रकार की है एक परा दूसरी अपरा जैसाकि अथर्वण वेद की मुंडक नाम उपनिषत् में लिखा है:—

"द्वेविद्येवेदितव्य इतिहस्मयद्ब्रह्मविदो वदन्तिपराचैवापराच। तत्रापरा ऋग्वेदोयजुर्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदःशिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिष मिति। अथपरायया तदक्षरमधिगम्यते"

अर्थ इसका यह है कि दो विद्या जाननी चाहिये जिन को

ब्रह्मवेत्ता लोग परा और अपरा कहिते हैं। सो ऋग्वेद, यजुर्वेद,साम वेद, अथर्वणवेद ये चारों वेद और शिक्षा,कल्प, व्याकरण,छन्द,ज्योतिष, निरुक्त ये वेद के छै अंग सब मिल के अपरा विद्या कहिलाती है कि जिस से वरे का सुख मिले। और पराविद्या वह है जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो और परम सुख की प्राप्ति हो॥

प्र०-यद्यपि ऋग्वेदादि को वरे की विद्यारूप होने से अपराविद्या कहा है तथापि मनुष्यको जानना उस का भी बहुत आवश्यक है सो बताइये ऋगादि चारों वेद रचे हुए किसके हैं और वे उपदेश किस बात का करते हैं?

उ०-उनही वेदों के वाक्य अनुसार पाया जाता है कि वे किसी मनुष्य के रचे हुए नहीं किन्तु परमेश्वरके ज्ञानका नाम वेदहै और उस परमेश्वर से ही वह प्रकट हुआ है। जैसे परमेश्वर अनादि है वैसे वेद भी अनादि हैं। जो तुमने पूंछा उस में उपदेश क्या है सो उपदेश तो उससे मोक्ष सुख का ही है परन्तु प्राणी को यथार्थ निर्णय नहीं होने देता इस हेतु से अपरा अर्थात् वरे की विद्या उसका नाम है। परे का उपदेस कुछ और है कि जो यथार्थ निर्णय और निर्भ्रम मनुष्य को कर देता है॥

प्र०-वेद तो सारा छन्दोबद्ध और वर्णात्मक शब्द है वह परमेश्वर ने कैसे उच्चारण किया कि जिस की जिह्वा नहीं?

उ०-वेद में लिखा है सृष्टि के आरंभ में परमेश्वर ने जगतके सुख और कल्याण के निमित्त संपूर्ण विद्यामय वेद पहिले अग्नि, वायु, और सूर्य के हृदय में प्रकाशित किया। उन से ब्रह्मा जी ने पढ़ा, ब्रह्मा जी ने जगत में फैलाया॥

प्र०-यह कैसे निश्चय हो कि अग्नि आदिक के हृदय में वेद को परमेश्वर ने ही प्रकाशित किया? हम कहेंगे वेद को उन तीनों ऋषियों ने ही रचा है अथवा ब्रह्मा जी ने अपनी बुद्धि से रच लिया होवेगा?

उ०-सृष्टि के आदि में परमेश्वर के विना न कोई मनुष्य विद्यमान था और न कोई पुस्तक, फिर अग्नि आदिक ऋषियोंने वेद रच की शिक्षा कहां से पाई। क्योंकि विना किसी के सिखाये मनुष्य

तो बोल भी नहीं सकता उन्हों ने वेदको कैसे रचलिया कि जो संपूर्ण विद्याओं का भरा हुआ है। इस से प्रगट है कि उन के हृदय में वेद को ईश्वर नें भरा है। जैसा कि—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्य जुस्तस्माद जायत" य० अ० ३१ मं० ७।

अर्थ इस का यह है कि–उस यज्ञ स्वरूप सर्व हुत परमेश्वरसे ऋग्वेद, सामवेद, छन्द अर्थात् अथर्वणवेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुआ है॥

अग्नि आदिक से वेद का प्रकट होना शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य से पाया जाता है:—

"तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदोवायो र्यजुर्वेदः सूर्यात्साम वेदः" श० कांड ११ अ० ५

अर्थ उन तप्तों से तीन वेद प्रकट हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुए॥

प्र०–शतपथ ब्राह्मण क्या होता है?

उ०–वेद तो वह है कि जिस को मन्त्रभाग कहिते हैं और ब्राह्मण भाग वह है जो उन मंत्रों की व्याख्या रूप है और ब्रह्मादिक ऋषि मुनियों का रचा है। चारों वेद के चार ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद का ऐत्तरेय ब्राह्मण जिस को बह्वच भी कहिते हैं, यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण है, सामवेद का साम ब्राह्मण और अथर्वण वेदके ब्राह्मण का नाम अथर्व ब्राह्मण है। वेदकी व्याख्यारूप होने से ये भी वेद के तुल्य ही मानने योग्य हैं।

११२७ जो वेद की शाखा हैं वे भी वेद की व्याख्या हैं और मानने के योग्य हैं।

चारों वेद के साथ चार उपवेद हैं वे भी ऋषि मुनियों के बनाये हुए हैं। पहिला आयुर्वेद कि जिस में चिकित्सा शास्त्र है। दूसरा ध-

नुर्वेद कि जिस में शस्त्र, अस्त्रों की विद्या है। तीसरा गान्धर्व वेद कि जिस में राग, रागिणी, स्वर, ताल और राग के समय का वर्णन है। चौथा अर्थवेद कि जिस में शिल्प शास्त्र भरा हुआ है अर्थात् यंत्र और कला द्वारा कार्यों को सिद्ध करना, जैसा कि दूरवीक्षण और अन्वीक्षण आदिक यंत्र प्रसिद्ध हैं।

चारों वेद के साथ जैसे चार उपवेद कहे वैसे वेद के छै अंग और छै उपांग हैं परन्तु ये सब ऋषि, मुनि लोगोंने वेद का आश्रय लेकर रचे हुए हैं इसी हेतु से मानने के योग्य हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये छै वेद के अंग हैं ॥

शिक्षा—पाणिनी आदिक मुनियों की रचना है इस में वेद पढ़ने की रीति लिखी है।

कल्प—मनु जी की रचना है उस में वेदों की आज्ञा का विधान किया है।

व्याकरण—पाणिनी आदिक मुनियों की रचना है उसमें वेद शब्दों की सिद्धि आदिक व्यवहार लिखे हैं।

निरुक्त—यास्क मुनि का रचा हुआ और उसमें एकार्थ कोष और अनेकार्थ कोष तथा दुर्बोध विषयों में पदों के अर्थ को स्पष्ट करना आदिक व्यवहार लिखे हैं।

छन्द—पिंगल मुनि की रचना है उस में गायत्र्यादि छंदो रचनाकी रीति लिखी है ॥

ज्योतिष—वसिष्टादि ऋषियों की कृत है। उस में वेद अनध्याय तथा रेखा वीज गणित तथा सूर्यादि ग्रहों का दौर्य्य सामीप्य और आपस का संयोग वियोग आदिक व्यवहार लिखे हैं ॥

मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, पातंजल, सांख्य, वेदांत ये षट्शास्त्र वेद के उपांग हैं जिन को षट् दर्शन भी कहते हैं।

मीमांसा—पूर्व मीमांसा सूत्र का नाम है उस में संध्यावंदन से ले के अश्वमेध यज्ञ पर्य्यन्त कर्म कांड भरा हुआ है और वह जैमिनी मुनि का रचा हुआ है और इसी का नाम धर्म शास्त्र है।

वैशेषिक—कणाद मुनि के रचे सूत्रों का नाम है इसमें धर्म और अधर्मों का निर्णय किया है।

न्याय-गोतम मुनि कृत सूत्रों का नाम है इस में सप्त पदार्थों की विद्या भरी हुई है।

पातंजल-पतंजलि मुनि कृत सूत्रों का नाम है इस में योग की रीति से उपासना लिखी है, इस हेतु से इस को योग शास्त्र भी कहते हैं।

सांख्य-कपिल मुनि के सूत्रों का नाम है इस में तत्वों का विवेक लिखा है।

वेदांत-व्यासजी के रचे सूत्रोंको नामहै उसमें ईश्वर की प्राप्ति और मोक्ष का वर्णन है।

प्र०-श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, कौन से होते हैं वे सब सत्य हैं वा असत्य?

उ०-श्रुति नाम तो वेद का ही है और स्मृति मनुस्मृति आदिक धर्म शास्त्रों का नाम है जिन को वेद का आश्रय ले के मन्वादिक ऋषियों ने लिखा है। उपनिषद्को साक्षात् वेदही मानना चाहिये क्योंकि उस में वेद के ज्ञान कांड का वर्णन है। ईश, केन, कठ, मुंड, मांडूक्य, प्रश्न, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, तैत्तिरीय इनदश उपनिषद् को सत्य जानना चाहिये क्योंकि उन में चाहे ऋषि लोगों की कल्पना तो है परन्तु वेद की संहिताओं के मन्त्र भी बहुत आजातेहैं। इतिहास, महाभारत और बाल्मीकीय रामायण का नाम है और वह ऋषि प्रोक्त होने से मानने के योग्य हैं। पुराण, ब्रह्मवैवर्त्तादि(१) से ले के १८ हैं चाहे कुछ सत्य तो उन में भी है परन्तु उत्तम अधिकारी को उन के पढ़ने और सुननेसे बहुत संशय खड़े हो जाते हैं क्योंकि उनमें रोचिक भयानक कथा रूप का लंकार की रीतिसे बहुत लिखी हैं। योग्यहै कि उत्तम बुद्धिका पुरुष उन में ध्यान न दे और जिन का उन में ध्यान है उन को आगेको उपदेश तो करे पर उनकी समझ पर उपहास न करे॥

प्र०-क्या यह बात सत्य है कि अठारह पुराण के कर्त्ता सत्यवती के पुत्र व्यास जी हैं?

(१) ब्रह्म, पद्म, वैष्णव, शैव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वाराह, स्कंद, वामन, कौर्म्य, मात्स्य, गारुड, ब्रह्माण्ड।

उ०-उन की कथाओं का परस्पर विरोध और उन के लेखों को संसारी नियमों के विरुद्ध देख के कई विद्वान् उन को व्यासकृत नहीं मानते परन्तु यदि मान लें तो कुछ दोष नहीं आता, क्योंकि समस्त लोगोंके लिये उनकी रचना नहीं किन्तु निकृष्ट और मध्यम पुरुषोंके निमित्त उन को रचा है कि जिन की बुद्धि वेद शास्त्र के गंभीर तात्पर्य को समझ नहीं सकती। यद्यपि उनकी कथायें और प्रसंग और भूगोल, खगोलादि के वर्णन तथा उपासना कई प्रकार के संशय उत्पन्न करती हैं परन्तु तात्पर्य व्यास जी का यह था कि मनुष्य प्रथम देवाराधन और तीर्थ, व्रत, गंगा स्नानादि स्थूल बातों से चित्त की स्थिरता और अंतःकरण की शुद्धि करना सीखे, क्योंकि शम, दमादि साधनों तथा निराकारोपासना और योगाभ्यास द्वारा चित्त को स्थिर करना और अंतःकरण को शुद्ध करना साधारण लोगों को बहुत कठिन है। जब मन स्थिर और शुद्ध होगया तो पुराणों की कुछ आवश्यकता नहीं वेद, शास्त्र, द्वारा ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होवे। बहुत लोग कहिते हैं कि जब अंत को ज्ञान मार्ग का उपदेश ही कर्त्तव्य है तो पहिले पुराणोक्त मूर्त्ति पूजादि झमेले में डालना क्या आवश्यक है कि जिसका छोड़ना फिर कठिन होजाता है। इसका उत्तर यह है कि जो पहिलेही ज्ञानोपदेशको समझसके उसको इस झमेलेमें डालना बड़ा अनर्थ है परंतु जिनकी बुद्धि ज्ञानमार्ग लों पहुंच नहीं सकती उनको कुछ काल अवश्य इस झमेलेमें डालना चाहिये क्योंकि विना भय और लालच के मन्द बुद्धिके जीव, न तो सन्मार्ग में प्रवृत्त हो सकतेहैं और न उन्मार्ग से निवृत्त हो सकते हैं।

हां यह ठीक है कि जो लोग सारी आयु इसी खेल में समाप्त कर लेते और आगे बढ़ना नहीं चाहते उन पर बड़ा भारी शोक करना चाहिये। स्मृत रखो कि पुराणों का कथन उपोद्घात रूप होता है। उपोद्घात उस को कहिते हैं कि हृदय में कुछ और भावहो और मन में कुछ और बात हो। जैसा कि किसी ने एक व्यभिचारी वृद्ध को कहा तुम जो अपने श्वेत श्मश्रु को रँग के श्याम बनाये रखतेहो इस का फ़ल नर्क है। अब सोचना चाहिये कि वह उपदेष्टा उस से केवल दाढ़ी का रँगना छुड़वाना नहीं चाहता किन्तु उस के हृदय में यह

भाव है कि बालों को न रँगने से इस की वृद्धता दिखाई देने लगेगी, और फिर यह स्त्रियोंसे और स्त्रियां इससे संकोच करने लगेंगी और इस की व्यभिचार वासना छूट जायेगी जो नर्क का हेतु है। इसी प्रकार पुराणों में चाहे कथा और प्रसंग झूठे सच्चे चाहे कैसे ही हों परन्तु प्रयोजन उन का पापसे बचाना और पुण्यमें लगानाहै जो मनुष्य का परम धर्म है।

प्र०—मन्त्र शास्त्र क्या है जिस को महादेव जी का रचा हुआ आगम शास्त्र कहिते हैं?

उ०—महादेव जी ऐसा वेद विरुद्ध शास्त्र क्यों रचने लगे थे कि जिसकी प्रवृत्ति से मनुष्य महा निर्लज्ज, विषयी, व्यभिचारी और परम विकारी हो जावे यह तो किसी व्यभिचारी पुरुष ने अपने कुकर्म छिपाने के लिये लिखा है।

प्र०—जो लोग इस को वेद मूलक कहिते हैं क्या वे झूठे हैं?

उ०—तुम आप ही सोचो कि ईश्वर ने वेद को सांसारिक मर्य्यादा स्थिर रखने के लिये प्रकट किया है कि जिस में कोई अनाचारनहीं फिर जिस शास्त्र में स्त्री को नग्न करनो और उस की योनि में जिह्वा का देना और मद्य, मांस, मिथ्या, मैथुन, मुद्रा इस "मकार पंचक" का ग्रहण करना लिखा हो वह संसार की मर्य्यादा स्थिर कर सकता और वेद मूलक बन सकता है? नहीं! नहीं!! यह धूर्तों का पाखंड और वेद निन्दित आचार है। इस में किसी वेद का प्रमाण हो तो लाओ।

प्र०—यह तो समझा कि वेद शास्त्र के विना सत्य ग्रंथ कोई नहीं परंतु वेद का पढ़ना जो अब कठिनहै हमारे कल्याणका उपाय क्याहै?

उ०—महात्मा गुरु के संग और उपदेश से तुम्हारा कल्याण सहिज में ही हो सकता है॥

प्र०—गुरु किस को कहिते हैं?

उ०—गुरु दो प्रकार के होते हैं एक गुरु, दूसरे सद्गुरु। गुरू तो माता पिता और ज्येष्ठ बांधवोंका नामहै। और सद्गुरु उसका नाम है कि जो सत्पद का उपदेश करके लोक पर लोक का परमानन्द दान करे।

प्र०—हम कैसे पहिचानें कि यह पुरुष सद्गुरु होने के योग्यहै और

इस के उपदेश से सत्यपद की प्राप्ति हो सकेगी ?

उ०-जो वेद शास्त्र अथवा उस के तात्पर्यके जानने वाला और जिसका आचार व्यवहार वेद के अनुसार हो । तथा जो पुरुष यथायोग्य सहन, शील, सन्तोष, सत्य, शौच, नीति, शांति, ज्ञान, विचारादि गुणों से सम्पन्न तथा निर्भय होके सब को यथाधिकार सत्य धर्मका उपदेश करे उस का नाम सद्गुरु है उसकी सेवा और संगति से परम फल की प्राप्ति और महत्पुण्यों का उदय होता है ॥

प्र०-जो लोग कान में कोई मन्त्र फूंकते अथवा जिनके आगे हमारे माता पिता ने माथा झुका दियाहो अथवा जो परंपरासे हमारे कुल के सद्गुरु बनते चले आते हैं क्या वे सद्गुरु मानने के योग्य नहीं होते ?

उ०-यदि गायत्री मन्त्र अथवा भगवन्नाम हमारे कान में सुनायाहो तो वह किसी अंश में सद्गुरु मानने के योग्य है कि उस ने सत्य मार्ग में हम को चलाया और धर्म का बीज हमारे कानमें बोया कि जिसको विचारते २ हम मुक्ति रूप अमृत फल प्राप्त कर सकते हैं परंतु मन्त्र मात्र से हमारा कुछ काम सिद्ध नहीं होता । काम सिद्ध तो तब ही होता है कि जब उक्ति युक्ति और श्रुति स्मृति के साथ हमारे मानसिक भ्रमों और संशयों का छेदन होवे । केवल पार लौकिक आनन्द ही नहीं,बरन लौकिक क्लेशों की निवृत्ति और सुख साधन की रीति भी सिखावे जिस से हमारी जीवन यात्रा सुख सहित समाप्त होवे । और जो तुमने परम्परा गुरुओं की बात कही यदि उस परम्परा गुरु के कुल में कोई ऐसा पुरुष वर्त्तमान हो कि जिससे वेदानुसार लोक परलोक का ज्ञान,प्राप्त होसके उस को अवश्य सद्गुरु मानना चाहिये नहीं तो इस बात को तुम आपही विचारो कि हमारे पिता पितामह ने जिस वैद्य की औषध से सुख पाया था यदि उस के कुल में अब कोई पुरुष औषधि और रोग का नाम भी न जानता हो तो क्या परम्परा सम्बन्ध मान के अब हम को उसी कुलसे चिकित्सा करानी चाहिये अथवा कोई अन्य विद्यावान वैद्य ढूंढना चाहिये ? माता पिता ने माथा झुकाने की बात जो तुम ने कही यह भी अच्छी नहीं, क्योंकि माता पिता कभी २ किसी मढ़ीके आगे सिर झुकवाके अपनी

संतानको कहिदेते हैं कि यह महापुरुषोंकी समाधि है इसको तुम अपना सद्गुरु समझो। भला इतना तो सोचो कि यदि वह महापुरुष जीताहोता तो उसके संग और उपदेशसे कुछ फल भी होता अब उसकी मढ़ी हमको किस बातका उपदेश कर सकतीहै ? क्यों गुरु कोई घर का राछ है कि भला मिलो चाहे बुरा परन्तु प्राणीको अवश्य बना ही छोड़ना चाहिये। बहुत लोगोंने किसी ऐसे पुरुषको गुरु मान रखाहै कि जिसने कभी हमारे कानमें मन्त्र फूंका था अब न वह मन्त्र हम को उपस्थितहै और न वह गुरुही जीताहै तौभी किसी अन्य महात्माका उपदेश सुनना श्रेष्ठ नहीं समझते। हम सत्य कहिते हैं कि जो सत्पद का उपदेश करे सद्गुरु उसी का नाम है।

प्र०-वेद और शास्त्र के अनुसार मनुष्य को क्या कुछ करना और जानना चाहिये कि जिस से परमानन्द की प्राप्ति होवे ?

उ०-जो कुछ जानना चाहिये वह तो हम ज्ञान कांडमें कथन करेंगे परन्तु परमानन्द की प्राप्तिके लिये जो कुछ करना चाहिये वह अब संक्षेपसे कथन होताहै सुनो-वेद की आज्ञानुसार मनुष्य को तीन बातें ग्रहण करनी चाहिये एक कर्म, दूसरे उपासना, तीसरा ज्ञान:—

कर्म-उसका नामहै जो देह से क्रिया की जातीहै सो कर्म विहित, अविहित भेद से दो प्रकार का होताहै। विहित कर्म वह है जो वेदने करना कहा हो जैसाकि स्नान, सन्ध्या, बन्दन, दान, जप, यज्ञ, तीर्थ, व्रत, हठ, सत्कार, सेवा आदिक है।

अविहित-कर्म वहहै कि जिसका न करना वेद ने बतायाहो जैसा कि--क्रोध, कपट, अहंकार, चोरी, हिंसादि हैं।

स्नान-जल, मृतकादि से नित्यप्रति प्रात:काल देह को शुद्धकरना।

सन्ध्या-प्रात:, सायं दोनो समय ईश्वर का आराधन करना।

बन्दन-विद्या वृद्ध, वयो वृद्ध, गुण वृद्ध, धन वृद्ध को बन्दन करना।

दान-भूखे को अन्न, प्यासे को जल, नग्न को वस्त्र, मानी को मान, भीरु को अभय तथा विद्या दान, बुद्धि दान, ज्ञान दान ये सब दान कहिलाते हैं जिन में देश, काल, पात्र का नियम नहीं।

जप-गायत्री मन्त्र तथा भगवन्नाम का उच्चारण करना।

तीर्थ-उत्तम स्थानों की यात्रा तथा सत्संग रूप तीर्थों के स्नान में

श्रद्धा रखना।

यज्ञ—यद्यपि अश्वमेध, राजसूय आदिक सकाम यज्ञ भी वेद में विधान किये हैं परन्तु मुमुक्षु पुरुष को उनकी आवश्यकता नहीं केवल पांच प्रकार के यज्ञ अवश्य ग्रहण करने चाहिये।

पहिला ब्रह्म यज्ञ अर्थात् वेद का पढ़ना और पढ़ाना। दूसरा पितृ यज्ञ अर्थात् श्राद्ध तर्पण करना। तीसरा देव यज्ञ अर्थात् होम और पंचाहुती आदि का करना, अथवा विद्वानों को देवता समझके उन में भक्ष्य भोज्य पदार्थों का होम करना। चौथा भूत यज्ञ अर्थात् बलि वैश्व देव करना अथवा कीट पतंगसादि जीवोंको जो भूत कहिलातेहैं अन्न जल देना। पांचवां न्रु यज्ञ अर्थात् अतिथि का पूजन करना। अतिथि वह होता है जिसके आने की तिथि कोई निश्चित नहीं।

व्रत—यदि नित्य न होसके तो दर्श पूर्णिमा के दिन आसुरी संपत् के समस्त कर्मोंके त्याग का व्रत धारन करना। तथा उस दिन कोई धर्मोत्सव करना।

हठ—वेद शास्त्र से बाह्य आचार व्यवहारको कवी गृहस्थ न करना। जैसोकि मूर्ख लोग किंचित् रोग शोक में व्याकुल होके मृतकों की मढ़ी को पूजने तथा सदुपाय को छोड़ के झाड़ फूंक, धागा यंत्र काटि, सुजा, शिर में बांध लेते हैं। वे यह नहीं समझते कि रोग शोक तो देह में अन्तरीय विकार वा किसी वस्तु के योग वियोगसे होतेहैं फिर झाड़ फूंक तथा धागे यन्त्रसे क्या सिद्ध होवेगा जो देह के ऊपर बांधे जातेहैं? यदि इन से कुछ फल होताहो तो भूख प्यासके समय भी इन ही से काम लेने चाहिये क्योंकि वे भी अन्तरके रोग हैं॥

अब उपासना कांड सुनो:—

परम ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में लीन होने का नाम उपासनाहै। उपासना सगुण, निर्गुण भेद से दो प्रकार की होती है। सगुण उपासना वहहै कि जिसमें ईश्वर को शुद्ध, बुद्ध, नित्य, सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, कर्त्ता, हर्त्ता, दयालु, सत्य, पवित्र, सर्व शक्तिमान्, मंगलमय, सर्वान्तर्यामी आदिक गुणों से युक्त जान के आराधन किया जाता है। निर्गुण उपासना वह है कि जिस में ईश्वर जन्म मरण से रहित निर्विकार, निराधार, संयोग, वियोग से अतीत मान के आराधन किया जाता है॥

प्र०-यदि ईश्वर को साकार जानके ध्यान किया जावे तो कुछ दोष है?

उ०-जब ईश्वर सर्व व्यापक है तो दोष तो कुछ नहीं परन्तु साकारोपासना वेदोक्त नहीं पुराणोक्त है कि जिस को करते २ अनेक प्रकार के सन्देह मन में उठने लग जाते हैं।

प्र०-तब तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य, गणेश, राम, कृष्णादि की उपासना तथा किसी मूर्त्ति को आगे रख के उपासना करना भी श्रेष्ठ नहीं होगा?

उ०-यदि कोई पुरुष पहिले कुछ काल इन में मन ठहिराना सीखे तो कुछ दोष नहीं परन्तु साकार की उपासना से निराकार की उपासना को वेद में श्रेष्ट लिखा है। जैसा कि य० अ० ४० मं० ८:---

"सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्"

अर्थ-वह परमेश्वर सर्व व्यापी, शुद्ध और काया से रहित है इसी हेतु से वह अखण्डित है।

बस इससे प्रकट है कि वेदमें ईश्वरको साकार कहीं नहीं लिखा, जब वह साकार नहीं तो उपासना निराकार की श्रेष्ट है।

प्र०-निराकार में मन कैसे लगता है?

उ०-जिसने उपासना योग की रीति से निराकार में मनको लगाना हो वह शुद्ध पवित्र होकर स्वच्छ एकांत स्थान में स्थिरतासे बैठे। फिर सत्-चित्-आनन्द लक्षण वाले अंतर्यामी, सर्व व्यापी, परमात्मा की ओर अपने मन, इन्द्रिय और आत्मा को जोड़े। जब शनैः शनैः यह ध्यान कुछ बढ़ जावे अर्थात् अन्य चिंतन को छोड़के मन घड़ी आधी घड़ी इसी चिंतन में स्थिर रहिने लगे तो स्तुति प्रार्थना और समर्पण के मन्त्रों को मनसे पढे और साथही उनके अर्थों में मनको लगावे। इसी चिंतन को पतंजलि मुनि कृत योग शास्त्र के अध्याय १ पा १ सूत्र २ दूसरे में योग कहा है। जैसे:—

"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः"

अर्थ इस का यहहै कि-उपासनाके समय चित्त वृत्तिको रोकनेका नाम योग है। इस योग को बढ़ाने और मन को स्थिर करने के लिये

गीता में दो उपाय लिखे हैं। एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य।

जब मन ईश्वर के चिंतन को तजके वाह्य विषयों की ओर जाने लगे तो उसे बलात्कारसे ईश्वरमें जोड़नेका नाम अभ्यास है। संपूर्ण असद्वासना वा स्त्री, पुत्र, धन, धाम, यान, स्थान, मानादि वासनाओंको उपासना के समय मनमें न आने देना वैराग्य है।

प्र०–पीछे आपने गायत्री मन्त्र और भगवन्नाम का जप कहा था सो वेद में भगवन्नाम कौन सा है?

उ०–पहिले सुने हुए मंत्रों और नामोंको मन से दूर करके अपनो तन मन धन ईश्वर में अर्पित करो तो वह बता दिया जावेगा।

प्र०–क्या इन के अर्पित किये बिना बताया नहीं जाता?

उ०–बताया तो जाता है परन्तु फल नहीं करता, जब तुम तन अर्पित करोगे तो अपने हाथों से सेवा तथा साधुजनों को नमस्कार करने में लज्जा नहीं करोगे। इस लज्जा के मिटने से तुम में जाति, विद्या, कुल, रूप, बल, धन, धर्मादि पदार्थों का अभिमान नहीं प्रवेश करेगा कि जो अत्यन्त अनर्थ का हेतु और मोक्ष का प्रतिबन्धक है।

मन अर्पित करने से एक तो धर्म के मार्ग में यदि कोई विपत् आ जावे सहार लोगे और दूसरा लोक लाज, कुल लाज तुमको धर्म मार्ग से पीछे न हटावेगी।

धन अर्पित करने से एक तो धन में अत्यन्त प्रीति नहीं रहेगी कि जो लोभ और तृष्णा को बढ़ा के अनेक प्रकार के पापों को प्रकट कर देती है। और दूसरा धर्मके उत्सवों और सामाजिक उत्साहों में द्रव्य लगाना कुछ कठिन नहीं प्रतीत होगा। इस में धर्म की वृद्धि, धर्म की वृद्धि से पुण्य की प्राप्ति, पुण्य की प्राप्ति से अंत:करण की शुद्धि और वह शुद्धि मोक्ष के साधनों में एक मुख्य साधनहै। सो लो यह बीज मंत्र वेद प्रोक्त भगवत का नाम है जिस को "प्रणव" कहितेहैं इसको जपो और इसके अर्थ को विचारो:—"तज्जपस्तदर्थ भावनम्" यो अ० १ पा १ सू० २८ (इस मंत्र का जप करो और अर्थ को विचारो)॥

प्र०–इसके जप और अर्थ विचारने से क्या फल होता है?

उ०–"तत: प्रत्यक् चेतनाधिगमो ऽप्यंतरायाभावश्च"। यो अ० १ पा० १ सू० २९। अर्थ इस का यह है कि परमात्मा की प्राप्ति और

उस के अविद्यादि क्लेशों तथा व्याधि आदिक विघ्नों की निवृत्ति होती जाती है॥

व्याधि आदिक ९ विघ्न योग मार्ग के शत्रु हैं:---

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादाऽलस्या विरति भ्रांतिदर्शना लब्धभूमिकत्वा नवस्थितत्वा निचित्तविक्षेपास्तेन्तरायाः यो० अ० १ पा० १ सू० ३०

अर्थ-१ व्याधि (ज्वरादि रोग), २ स्त्यान (सत्कर्मों में अप्रीति), ३ संशय, ४ प्रमाद (समाधि साधनों में प्रीति तो है परन्तु ग्रहण न हो सकें), ५ आलस्य, ६ अविरति (विषय सेवा में तृष्णा का होना), ७ भ्रांति दर्शन (उलटा ज्ञान अतद्वान् में तद्वान् बुद्धि), ८ अलब्ध भूमिकत्व (समाधि का न जुड़ना), ९ अनवस्थितत्व (समाधि प्राप्त होजाने पर भी उसमें चित्त का स्थिर न होना) ये नौ विघ्नयोग के शत्रु हैं।

प्र०-उपासक पुरुष को संसारी लोगोंके संग कैसे वरतना चाहिये?

उ०-"मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणां सुख दुःख पुण्या पुण्य विषयाणां भावनातश्चि त्त प्रसादनम्" यो० अ० १ पा० १ सू० ३३

अर्थ इस का यह है कि--सुखी लोगों से मित्रता करना। दुःखियों पर कृपा करना, पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता, पापियों के साथ उपेक्षा रखना अर्थात् न उन के साथ वैर न प्रीति, इस रीति से उपासक योगी का मन सदा स्थिर और शांत रहता है॥

प्र०-उपासक लोग जो प्राणायाम करते हैं उस की क्या रीति और फल उस का क्या है?

उ०-भीतर से जब प्राण बाहर को आवे तो मूल मन्त्रके साथ कुछ २ उस को बाहर रोके, और जब भीतर जावे तो उसी मन्त्रके साथ कुछ भीतर रोके इसको प्राणायाम कहते हैं। इस रीति को वारंवार वरतने से प्राण वश में होजाता और प्राण के वश में हुए मन स्थिरता पाता और उस में आत्मा स्थिर होता है। इन तीनोंकी स्थिरता हुए

अपने आत्मा में जो अन्तर्यामी परमेश्वर वर्त्तमान है उस के स्वरूप में मग्न होजाना चाहिये वह परमानन्द का स्थान है।

इस उपासना योग के आठ अंग हैं कि जिनके ग्रहण करने से अज्ञान की हानि और ज्ञान की वृद्धि होती जाती है कि जिस से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है:—

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधियोऽष्टावंगानि

यो.अ.१पा.२सू.२६

अर्थ-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,समाधि ये आठ उपासना योग के अंग हैं।

१ यम-पांच प्रकार का है अर्थात् अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

२ नियम-यह भी पांच प्रकार का है अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान।

३ आसन-न ऊंचा हो न नीचा, स्थिर शुद्ध आसन होना चाहिये कि जिसमें शीत, उष्णा भी बाधा न करे और दृढ़ होवे।

४ प्राणायाम-पूर्व कहि चुके।

५ प्रत्याहार-मन और इन्द्रियों का जीतना।

६ धारणा-मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभके अग्रभाग आदिक स्थानों में स्थिर करके मन्त्र को मन से जपे और उसके अर्थ को विचारे।

७ ध्यान-पूर्वोक्त स्थानों में व्यापक अंतर्यामी परमात्मा के आनन्द स्वरूप को पूर्ण देखना।

८ समाधि-अपने आत्मा को प्रकाशस्वरूप परमात्माके आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।

बस पूर्वोक्त रीति से उपासना करता हुआ पुरुष अविद्या और अधर्माचरणसे छूट के शुद्ध ज्ञान और धर्म के अनुष्ठान से मुक्ति पद को प्राप्त होता है॥

प्र०—मुक्ति का अर्थ क्या और उस का स्वरूप क्या है?

उ०—व्याकरणकी रीतिसे 'मुचल्ट मोक्षणे' धातुसे मुक्ति पद सिद्धहो

ता है जिस का अर्थ छूटना है सो संपूर्ण दु:खों से छूटनो मुक्ति शब्द का अर्थ है।

प्र०—कर्म उपासनाको मैं ने सुना, अब वेदोक्त ज्ञानकांड का उपदेश कीजिये। प्रथम यह बताइये कि परम गति मुक्ति तो ज्ञान कांड से ही प्राप्त होती है फिर कर्म उपासनाको वेद ने क्यों विधान किया है? और फिर यह कहिये कि ज्ञान शब्द का अर्थ क्या है?

उ०—कर्म उपासना को वेद ने इस कारण विधान कियाहै कि सब किसी की बुद्धि ज्ञान की अधिकारिणी नहीं। प्रयोजन वेद का मनुष्य को पाप बचाने और पुण्य में लगाने का है। सो किसी को कर्म उपासना के बंधन में डालके पापसे बचाया, और पुण्य में लगाया, और किसीको ज्ञानके उपदेश से। फिर एक बात यह भी है कि कर्म उपासना द्वारा तो जीव प्रयत्नसे शुभ में प्रवृत्त और अशुभसे निवृत्त होता है, और ज्ञानकांडके बलसे जब शुभाशुभको जान लेताहै तो स्वभावत: शुभ में प्रवृत्ति और अशुभसे निवृत्ति होजातीहै जो मुक्तिमें मूल कारणहै। जो तुमने पूछा "ज्ञान" पद का अर्थ क्या है सो ज्ञान पद को अर्थ पृथिवीसे ले के ईश्वर पर्य्यन्त संपूर्ण पदार्थोंको जान लेना है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है एक ज्ञान, दूसरो विज्ञान। ज्ञान साधारण ज्ञान का नाम है जिसको अपरा विद्या कहिते हैं और विज्ञान विशेष ज्ञान का नामहै जिस को परा विद्या कहिते हैं।

प्र०—जब अति उत्तम पदार्थ परा विद्या है तो वेद ने सर्व लोगों को उसीका उपदेश क्यों न कियो? क्या कारण है कि पहिले लोगों को अपरा विद्याके झगड़े में डाला और पीछे पराका नाम लिया?

उ०—जगत् में चार प्रकारके जनहैं—एक निकृष्ट, दूसरे मध्यम, तीसरे उत्तम, चौथे परम उत्तम सो निकृष्ट और मध्यम तथा उत्तम कोटि के जीवोंकी बुद्धि जो पराविद्या की बात समझही नहीं सकती अत: उन के लिये अपरा विद्या रची, और जो परम उत्तम कोटि में प्रविष्ट हैं उनके लिये परा विद्या का उपदेश है।

प्र०—मैं सुनताहूं कि न्याय शास्त्रादि कई शास्त्र तो जीव ब्रह्मके भेद को ज्ञान कांड मानतेहैं, और वेदांत तथा सांख्य शास्त्र अभेद को ज्ञान कांड मानते हैं, परन्तु आप मुझे यह सुनाइये कि वेद का मुख्य

तात्पर्य्य क्या है ?

उ०–वेद के अक्षर कल्प तरु और काम धेनु के समान हैं. जिस की जो कामना और कल्पना है सो ही अर्थ उसमें से निकाल सकता है। परन्तु यदि पक्षपात को छोड़ के देखा जावे तो वेद का तात्पर्य्य अभेद ज्ञान के कथन में है।

प्र०–वेद में ईश्वर जीव और जगत् का निर्णय कैसे किया है ?

उ०–वेद में निर्णय किसी बात का नहीं किया केवल प्रतिज्ञा मात्र कथन है। जैसा कि वहां लिखा है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत्" नित्य २ सन्ध्या उपासना करो। परन्तु यह नहीं लिखा कि सन्ध्याको कैसे करे कहां करे। संध्या करने का निर्णय देखनाहो तो जैमिनी मुनिके रचे हुए मीमांसा शास्त्रमें देखो। तुमने जो ईश्वर जीव तथा जगत्का निर्णय सुनना चाहा इन का निर्णय वेद में नहीं है वेदके उपनिषदों अथवा व्यास कृत वेदांत सूत्रों में देखो जिस को हम संक्षेप से यहां लिख देते हैं।

प्रथम–एक अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म था, माया और अविद्या के सम्बन्ध से वही ईश्वर और जीव संज्ञा को प्राप्त होगया और वही जगत् का रूप है।

प्र०–माया क्या वस्तु है ?

उ०–सत्व गुण, रजो गुण, तमो गुण इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जिस को ब्रह्मका स्वभाव समझना चाहिये। जब वह प्रकृति केवल सत्व गुण वाली होती है उसका नाम माया है जिस में प्रतिबिंब पड़ने का नाम ईश्वर होगया। वह ईश्वर सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ और जगत् कर्ता माना जाता है।

जब वह प्रकृति रजो वाली होती है उस का नाम अविद्या है, जिस में प्रतिबिंबी होने से ब्रह्म का नाम जीव पड़ गया। वह जीव अल्पज्ञ और नाना देहों को धारण करता है।

जब वह प्रकृति तमो गुण प्रधाना होती है उस से यह स्थूल प्रपंच जगत् बन जाता है।

प्र०–देह में जीवात्मा क्या वस्तु है ?

उ०–स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से भिन्न, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन

तीनों अवस्था का साक्षी अज, अमर, सत्ता मात्र जीवात्माहै और वह पंचकोश से भी अतीत है ॥

प्र०-स्थूलादि तीन शरीर क्या हैं ?

उ०-वीर्य्य से बना हुआ अस्थि, मांसादि युक्त जो यह देह है इसी को स्थूल शरीर कहिते हैं। दश इन्द्रिय और पंच प्राण तथा मन और बुद्धि इन सतारह वस्तु के संघात का नाम सूक्ष्म शरीरहै, और अज्ञान का नाम कारण शरीर है ॥

प्र०-तीनों अवस्था क्या हैं ?

उ०-जब निद्रा प्रमाद कुछ न हो और सब कुछ स्पष्ट दिखाईदेवे उसका नाम जाग्रत है। जाग्रतके देखे सुने व्यवहार जब निद्रा में अस्पष्ट प्रतीत हों उसका नाम स्वप्नहै। जब निद्रा और मूर्छा में घोर अज्ञान हो उस का नाम सुषुप्ति है ।

प्र०-पांचों कोष कौन से हैं ?

उ०-देह में अन्न की कोठड़ीको नाम अन्नमय, और प्राणोंका नाम प्राणमय और मन का नाम मनोमय और बुद्धि का नाम विज्ञानमय और सुख को नाम आनन्दमय कोष है ।

प्र०-दशों इन्द्रिय और पांच प्राण तथा मन और बुद्धि क्या होते और कैसे बने हैं ?

उ०-नभ, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पंचतत्व के सत्व गुणसे पांच ज्ञान इन्द्रिय और मन बना है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण ये पंच ज्ञान इन्द्रियहैं और मनन कर्त्ताका नाम मनहै। वही वृत्ति भेदसे बुद्धि चित्त, अहंकार नाम से चतुष्टय अंतःकरण बोला जाता है। पांच तत्व के रजो अंशसे वाक्,पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्म इन्द्रिय और प्राण बनताहै, वह स्थान भेद से प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान इन पांच नाम से बोला जाताहै। पंचभूत के तमो अंश से पंची करण होताहै। बस इस पूर्वोक्त संघातसे भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माको परमात्मा से अभिन्न जानने का नाम वेद ने मोक्ष कहाहै ॥

प्र०-यह जगत प्रपंच सदा ऐसा ही रहिता है अथवा कभी मिट जाता है ?

उ०-जीवोंके पूर्व कर्मानुसार कई बार इसका तिरोभाव और कई

वार प्रादुर्भाव हुआ और आगे को भी सदा ऐसा ही होता रहेगा।

प्र०-जीव के कर्म क्या प्रलय में भी नष्ट नहीं होते ?

उ०-कर्म तीन प्रकार के हैं। संचित, प्रारब्ध और आगामी। संचित वे हैं जो अनेक जन्मों के एकट्ठे हो रहेहैं उनका ज्ञान विना नष्ट नहीं होता। प्रारब्ध वे हैं जो भोग देने के लिये शरीर को रचते हैं सो उन का भोगे विना नष्ट नहीं होता। आगामी वे हैं जिनका फल आगेको होवेगा। सो जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, जन्म, मरण, सुख, दुःख सब कर्म के आधीन है। और प्रलय काल में भी कर्म नाश नहीं होते।

प्र०-सृष्टि वर्ग में जो मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि अनेक योनियां देखी जाती हैं इन सब के आत्मा सदा उन ही में रहिते हैं अथ वा किसी अन्य योनि में भी आते हैं ?

उ०-कर्म के अनुसार सब आत्माओं को सब योनियोंमें आना पड़ता है। कर्म फल जो जीव को अवश्य भोगना पड़ताहै इसमें प्रमाणः-

असुर्य्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः तांस्तेप्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः। य० अ० ४० मं० ३

अर्थ इस का यह है कि—जो लोग आत्म घाती हैं वे मर के उन लोकों को जाते हैं जो अँधेरे अज्ञान से भरे हुए असुर लोक कहिलाते हैं।

यथर्तुलिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तु पर्य्यये, स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः मनु अ० १ श्लो० ३०

अर्थ इस का यह है—जिस ऋतु के जो चिन्ह होते हैं ऋतुके विपर्यय में जैसे उसी ऋतुमें अपने आप आ जातेहैं वैसे जो जो कर्म जिस जिस जीव ने किये होते हैं उसी २ को प्राप्त हो जाते हैं॥

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति यत्कर्मणा

करोति तदभि संपद्यते। यह शतपथ ब्राह्मण की श्रुतिहै अर्थ इस को यह है कि-यह जीव जो कुछ मन में विचारताहै वही वाणी से बोलताहै।जो कुछ वाणी से बोलताहै वही कर्मसे करता है। जो कर्म से करता है वह प्राप्त होताहै। इत्यादि पूर्वोक्त सारा कथन ज्ञान कांडहै। हमने कर्म उपासना ज्ञानको संक्षेपसे यहां लिख दियाहै अधिक सुनना चाहो तो वेद और शास्त्रों को पढ़ो।

प्र०-जिसको वेदोक्त ज्ञान प्राप्त हो गया वह कुछ कर्म और उपासना भी करता है वा नहीं?

उ०-हां करता है परन्तु उसके कर्म और उपासना वैसे नहीं जैसे कि निकृष्ट और मध्यम लोग करते हैं किन्तु कुछ अन्य हैं। जैसा उस का ज्ञान कांड निकृष्टों और मध्यमों से भिन्न है वैसे उसके कर्म उपासना भी उन से भिन्न हैं।

प्र०-मैं ने समझाथा निकृष्टों और मध्यमों का ज्ञान कांड कोई है ही नहीं किन्तु वे सदा कर्म और उपासना के ही अधिकारीहैं। अब जाना गया कि कुछ अंश ज्ञान की वे भी रखते हैं। सो बताइये कि उनके कर्म उपासना ज्ञान कौन से होते हैं?

उ०-निकृष्टों और मध्यमों के वे हैं जो पुराणों में लिखे और उत्तमों के वे हैं जो वेद और धर्म शास्त्र में लिखे हैं॥

प्र०-क्या पुराणों में उत्तमों के लिये कोई उपदेश नहीं लिखा?

उ०-लिखा तो है परन्तु पुराणों को जिस ने लिखा केवल निकृष्टों और मध्यमों के निमित्त ही लिखाहै कि जिनकी बुद्धि अत्यन्त स्थूल है। पुराणों में जो कर्म उपासना ज्ञान लिखे हैं यद्यपि वेदोक्त कर्मोपासना ज्ञान से बिलक्षण हैं तथापि प्रयोजन उनके स्थापनमें भी वही है कि जो वेदोक्त कथनमें है। बड़ा शोक उन लोगों पर होताहै जो वेदोक्त कथन समझनेके योग्य बुद्धि तो रखतेहैं परन्तु सारा आयु पुराणोक्त कर्मादि में समाप्त करलेते हैं कभी आगे नहीं चलते।

निकृष्टों का कर्म कांड यह है कि-पीपल, तुलसी तथा बिल्वादि वृक्षोंको को जल देना, और चौउंटों को त्रिचावल डालना, गंगादि तीर्थों के स्नानको पाप निवारक और संकट चतुर्थीको फल प्रदाचीजान के उन में श्रद्धा रखना, शनि, भौमादि ग्रहों को शांति करना इत्या-

दि कर्म कांड यद्यपि वेद में नहीं लिखा तथापि जो प्रयोजन वेदोक्त कर्म कांड से सिद्ध है परंपरा सम्बन्ध से वही यहां सिद्ध होता है । जैसा कि वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म कांडसे पुण्योत्पत्ति द्वारा अंतःकरणका पवित्र करना प्रयोजन है, वही फल परम्परा सम्बन्ध से पीपल सींचनेसे हो जाता है । जैसाकि पीपल के सींचनेसे उसकी छाया बढ़ैगी फिर उससे जीव सुख पावेंगे । जीवोंको सुखी करना एक प्रकार की दया है और दया से पुण्योत्पत्ति और पुण्योत्पत्ति से अंतःकरणकी शुद्धि । यद्यपि यह मार्ग है तो उसी नगर का जहां वेद शास्त्र पहुंचाते हैं। परंतु भेद इतना है कि यह दूर का मार्ग है कि जहां भूल के प्राणी कुछ और का और समझ बैठता है और दुःखी होता है और वह समीप का और सीधा है ।

निकृष्टों की उपासना कांड यह है कि--भूत, प्रेत, यक्ष, भैरव तथा गूगा, डाकिनी, शाकिनी, काली तथा किसी मृतक की समाधि आदिक का आराधन, तथा मारन, मोहन, उच्चाटन, वशीकरणादि मंत्रों का जपनो इत्यादि ।

मन की स्थिरता जो वेदोक्त उपासना का फल है फल तो इस पुराणोक्त उपासना का भी वही है परन्तु यह दूर का मार्ग है और वह निकट का ।

निकृष्टों का ज्ञान कांड यह है कि--परमेश्वरको अपने समान देहधारी और जन्म, मरण शील जानना अथवा उसको आकाश वा पाताल अथवा किसी एक देश में जानना । अथवा ऐसी बातों को सत्य जानना कि अमुक हनुमान वा भैरव की मूर्त्ति ने एक अश्रद्धक पुरुषको पृथिवी पर दे मारा । और अमुक महा पुरुष आकाश को उड़ गये [तथा अमुक योगीश्वर को योगबलसे अष्ट सिद्धि, नव निद्धि प्राप्त हैं ॥]

अब मध्यमों का कांड त्रय सुनोः—

उन का कर्म कांड यह है कि–संसार वा परलोक में नाना विधि फल प्राप्ति के निमित्त स्नान, सन्ध्या, वंदन, तर्पण, यज्ञ, श्राद्धादि में श्रद्धा रखना। गंगादि क्षेत्र और एकादश्यादि उपवासोंमें प्रीति रखना और वर्णाश्रम की मर्यादा को पालन करना और संक्रांति, अमावास्यादि तीथियोंमें यथाशक्ति स-काम दान करना और साधु ब्राह्मणों तथा

अतिथि अभ्यागतों की सेवा भी किसी कामना से करनी इत्यादि।

मध्यमों की उपासना यह है कि—शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य्य, शक्ति इन पंच देव तथा श्रीराम, श्रीकृष्ण चन्द्रादि अवतारोंका आराधन और इनही की मूर्त्तियों का काष्ट, पाषाणादि द्वारा पूजन करना और इनही के ध्यान में मन को जोड़ना इत्यादि।

इन का ज्ञान कांड यह है कि—ईश्वर को अयोध्या, मथुरा, काशी आदिक क्षेत्रोंमें जानना। सालोक, सामीप्य, सारूप्यादि मोक्षकी इच्छा रखना और नर्क, स्वर्ग का कोई स्थान मानना इत्यादि।

पूर्वोक्त कर्म उपासना ज्ञान विस्तार सहित पुराणों में कथन किया हुआ है तथापि बीज इस का वेद में विद्यमान है और बहुत अंशों में वेदोक्त मोक्ष का उपयोगी भी यह है।

अब हम उत्तमोंके कांड त्रय सुनातेहैं जो सर्वांश वेदके अनुसारहैं।

उत्तम दो प्रकार के होते हैं एक उत्तम जिस की संज्ञा हंसहै, दूसरा परमोत्तम जिस की संज्ञा परमहंस है। ये दोनों प्रकार के उत्तम गृहस्थाश्रम में ही हो सकते हैं किसी वेष को मुख्यता नहीं।

उत्तम का कर्म कांड यह है कि—लोकोपकार तथा अपने अंतःकरण की शुद्धि के निमित्त स्नान, सन्ध्या से ले कर पूर्वोक्त वेद शास्त्र विहित कर्मों को निष्कामता से करना।

उत्तम की उपासना वही है कि—जो इस ग्रंथ के पूर्व योग रीति से लिख आये अर्थात् एक अखंड अद्वितीय सच्चिदानन्द ईश्वर में मनसा वा वा कर्मणा लगे रहना।

उत्तम का ज्ञानकांड भी वहीहै—जो पूर्व इसग्रंथमें लिखआये अर्थात् जीव और ईश्वरका अभेद जानना और इस अभेद ज्ञान से मोक्ष मानना। यद्यपि किसी २ ने जीव ब्रह्म के भेद को भी सत्य समझा है और मोक्ष भी अभेदवादी से विलक्षण माना है तथापि वेद शास्त्र पुराण के अक्षर अधिकांश अभेदवाद कथन करते दिखाई देते हैं।

प्र॰—अब परमोत्तम पुरुष जिस का नाम आपने परमहंस बताया उसका कर्म उपासना ज्ञान मुझे सुनाइये और यह भी बताइये कि उस का कांड त्रय वेद में भी लिखा है वा नहीं?

उ॰—यदि उस के कांड त्रय वेदमें लिखे होते तो वह पराविद्या कैसे

गिनी जाती ? क्योंकि जो वेदादि में लिखा गया उस का नाम वेद ही अपरा विद्या बतलाता है । यद्यपि वेद का लिखने वाला पराविद्या को जानता तो था परंतु उसने उसे वेदमें लिखना योग्य न समझा क्यों कि उस के लिखने से वह मर्य्यादा और सीमा टूट जाती है कि जिसका उपदेश वेद करता है ।

प्र०—वह मर्य्यादा सीमा कौन सी है जिस की रक्षा अपरा विद्यासे होती है ?

उ०—संसार को राज धर्म, प्रजा धर्म, गृहस्थ धर्म, मनुष्य धर्म तथा कृषि, वाणिज्यादि आचार व्यवहारों में यथायोग्य स्थिर रखने के लिये अपराविद्या ईश्वर तथा नर्क स्वर्ग का भय और लालच दिखाती है। और पराविद्या उस भय और लालचसे छुड़ाके केवल ज्ञान द्वारा संसार को मर्य्यादा पर स्थिर रहिना सिखलाती है।

प्र०—यदि कहीं वेद में नहीं लिखी तो आपने कैसे समझ लिया कि यह पराविद्या है ?

उ०—वेदोक्त कथन में जो जिज्ञासु का पूरा परितोष नहीं होता किंतु ब्रह्म जीव और जगत की उत्पत्ति और बारंबार जन्म मरण तथा जन्मांतर में कर्म का फल भोगना आदिक व्यवहारों में सदा संदेह उठते रहितेहैं इस हेतुसे इधर उधर दृष्टि करनी पड़तीहै कि कोई ऐसीबात प्राप्तहो कि जहां मन को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो के कोई संदेह और आक्षेप मन को व्याकुल न करे । फिर वेद में ही जो यह बात लिखीहुई मिल गई कि:—"द्वविद्ये वेदितव्ये परा चैवा पराच" तो पराविद्याकी ढूंढ हुई सो जहां लों संदिग्ध ज्ञान होता गया वहां लों तो हमने अपराविद्या समझी जहां जाके संशय और संदेह कोई न रहा उस को पराविद्या समझ लिया ।

प्र०—आपने अपने संशयों की निवृति स्थानको पराविद्या माना और दशों उपनिषद् जीव ब्रह्म की एकता मानने को पराविद्या कहितेहैं फिर इस में हम किस का कहिनो सत्य मानें ?

उ०—यदि दशों उपनिषद् वेद रूप हैं तो प्रथम उनका, जीव ब्रह्म की एकता रूप कथन उनहीके वाक्य द्वारा पराविद्या नहीं बन सकता क्यों कि उसने आपही ऋग्वेदादि और शिक्षा कल्पादि को अपरा विद्या में

गिना है। और यदि दर्शौं उपनिषद् वेद रूप नहीं तो उनका कथन यु-क्ति से तौलना चाहिये । सो युक्ति बल से वह पूरा नहीं उतरता अ-र्थात् उपनिषदों में जीव ब्रह्म का अभेद तो कथन किया है परन्तु क्रिया के उसी और प्रकार का कर दिया कि जिस से यथार्थ सत्यपद की प्राप्ति नहीं होती।

प्र०-यदि उस कथन को ही पराविद्या समझना योग्य है जो वेदरूप न हो तो यवनादि कोई नवीन मत अपने ग्रन्थों को ही परा विद्या मान लेंगे जो वेद से भिन्न हैं ?

उ०-उन के ग्रन्थों में भी जो ईश्वर जीव नर्क, स्वर्ग, पाप, पुण्य वेद के ही तुल्य लिखा है इस हेतु से वे भी वेदमय अपरा विद्यारूप ही हैं परारूप नहीं होसकते। फिर इस हेतुसे भी वे प्रारूप नहीं, कि युक्ति को सहार के जिज्ञासु को निस्सन्देह और शांत नहीं कर सकते। परा विद्या वह हो सकती है कि जो सबसे परे हो और जिस पर कोई स-न्देह न खड़ा हो सके।

प्र०-जब आप कहिते हैं कि वेद में पराविद्या का उपदेश इसहेतु से नहीं लिखा कि उसके लिखने से वह मर्य्यादा और सीमा टूट जा ती है कि जहां का उपदेश वेद करता है। तो बस परा विद्या चाहे कैसी ही श्रेष्ठ हो परन्तु जिससे मर्य्यादा और सीमा टूट जावे हम उस को कवी ग्रहण करना नहीं चाहते हम अपना आयु अपरा विद्या में ही समाप्त करेंगे ?

उ०-समाप्त तो करो परंतु तुम्हारा मन सदा संशयों में ग्रस्त रहेगा क्योंकि वेद केवल निकृष्ट, मध्यम, उत्तम अधिकारी प्रति उपदेश क-रता है जिस में परम उत्तम पुरुषों को बहुत संदेह खड़े होते हैं। सो जो जन निकृष्ट, मध्यम और उत्तमों की मंडली में स्थित है उसको ह म कवी पराविद्या की बात सुनानी नहीं चाहते परन्तु जो परम उत्तम बुद्धि रखता है पराविद्या सुनाने का उद्यम हम उसके लिये करते हैं। इसी हेतुसे हम यहां एक प्रतिबंध लिखते हैं कि जिसके हाथ हमारा य ह ग्रन्थ आवे वह जहां से चाहे पढ़ने न लग जावे किंतु क्रम पूर्वक प्रथम पहिला भाग और फिर दूसरा भाग पढ़े कि जिस के पढ़ने से वह परम उत्तम बन सकता है। यदि क्रम विरुद्ध पढ़ेगा तो उभय तो भ्रष्ट हो

जावेगा और कभी शांत नहीं होवेगा किंतु संशयों में व्याकुल रहेगा।

प्र०-जब अपराविद्या अर्थात् वेद शास्त्र के अनुसार यह निश्चय हो गया कि ईश्वर सत्य है और वेद सत्य तथा पाप, पुण्य के अनुसार जीव को अनेक प्रकार के दुःख और सुख भोगने पड़ते हैं तो इस में किसी को क्या संशय हो सकता है?

उ०-संशय की निवृत्ति केवल इतना ही जान लेने से नहीं होती जितना तुमने कथन किया किंतु पराविद्या के उपदेश से संशय की निवृत्ति होती है। जैसा कि देखो हम तुम्हारे इस कथन पर प्रथम भागके प्रथम तरंग में अनेक संशय खड़े कर आए हैं॥

जिसने पराविद्या को ग्रहण किया वही परमहंस और पुरुषोत्तम तथा परमानन्द पद में आरूढ़ है और कोई नहीं॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम बिरचित सत्यामृत प्रवाहोत्तर भागे वेद शास्त्रोक्त धर्म निर्णये प्रथमस्तरङ्गः ॥

ओ३म्

॥ श्री परम गुरवे नमः ॥

॥अथ सत्यामृतप्रवाहनामग्रंथस्य उत्तरभागः॥

अथ द्वितीयतरङ्गस्यारम्भः क्रियते

॥ अथ विज्ञान काण्डे व्याख्यायते ॥

॥ श्लोक ॥

युक्त्या युक्तं वाक्यं बाले नापि प्रभाषितं
ग्राह्यं, त्याज्यं युक्ति विहीनं श्रौतं
स्यात्स्मार्त्तं कवा स्यात् ॥१॥

प्रश्न-हे गुरो आपने पीछे विज्ञानपदकी महिमा सुनाई अब प्रथम यह बात कथन कीजिये कि विज्ञान किस को कहिते हैं ?

उत्तर-विशेष ज्ञान का नाम विज्ञान है। सो ज्ञानका वर्णन तो पूर्व भागमें होचुका कि जिसमें सत्वादि तीनों गुणका निर्णय हुआ, और जिसकी धारणासे आनंदकी प्राप्ति होतीहै, और विज्ञान का वर्णन अब इस दूसरे भागमें होवेगा कि जिसमें पराविद्या के अनुसारब्रह्म वेद, जीव तथा आचारका निर्णयहै कि जिसकी धारणासे परमानंद स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अथेश्वर निर्णयः—

प्र०-ब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, नारायण आदिकनाम जो मैं बहुतकाल से सुनताहूं बताइये तो सही इनके अर्थ क्या हैं ?

उ०-"बृहवृहो" धातु से ब्रह्म शब्द सिद्ध होताहै। बृहति महान् शक्ति

मानिति ब्रह्म, इस ब्रह्म शब्द का अर्थ महान् है।

"ईश ऐश्वर्य्ये" से ईश्वर शब्द सिद्ध होता है। ईष्टे असाविस्यीश्वरः, इस ईश्वर शब्दका अर्थ प्रेरक और ऐश्वर्य्यवान है।

"विषॢव्याप्तौ" धातुसे विष्णु शब्द बनता है, विवेष्टि व्याप्नोति सर्वमिति विष्णुः, इस विष्णु शब्द का अर्थ व्याप्त होने वाला है।

नार नाम जल का और नरों का है और अयन नाम स्थानका है। इनदोनों को मिलाके नारायण शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि नरों का स्थान अर्थात् जिस में समस्त नर निवास करते हैं वह नारायण है। इन संपूर्ण नामोंका अर्थ जो वास्तवसे एक है इसकारण ये ईश्वरादिक सब नाम उस ब्रह्म के ही हैं जो सब से महान् है॥

प्र०-ब्रह्म का लक्षण क्या है?

उ०-"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" यह तैत्तिरीय उपनिषत् की श्रुति, और अर्थ इसका यह है कि-वह ब्रह्म सत्य है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालमें नाश नहीं होता। वह ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है अर्थात् सबको जानना उसका स्वरूप है। वह ब्रह्म अनंत है अर्थात् नाशवान् और परमित् नहीं।

प्र०-वह ब्रह्म एक है वा अनेक है?

उ०-"एक मेवा द्वितीयं ब्रह्म" यह छांदोग्य उपनिषत् की श्रुति है अर्थ इसका यह है कि-वह ब्रह्म एक है। कैसा एक है जो अद्वितीय होवे अर्थात् जिसके साथ दूसरा कोई वस्तु नहीं।

प्र०-आप कहिते हैं वह ब्रह्म एक है सो मैं पूछताहूं वह शब्द का निर्दिष्ट ब्रह्म कौनसा है और कहां है?

उ०-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह की श्रुति है अर्थ इस का यह है कि--यह सब कुछ जो देखने सुनने और समझने में आता है सब ब्रह्म ही है। इससे भिन्न और कोई पदार्थ ब्रह्म नहीं।

प्र०--देखने सुनने में तो यह जगत प्रपंच ही आता है क्या इसी को ब्रह्म मान लेना चाहिये?

उ०-जब श्रुति ने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कहा और इस जगत् प्रपंच के बाहर बुद्धि द्वारा भी कोई ब्रह्म सिद्ध नहीं होता तो इसके न मानने में क्या कारण है।

प्र०-यदि जगत् का नाम ही ब्रह्म है तो पूर्व श्रुतियोंका वह कहिना कैसे सिद्ध होवेगा जहां ब्रह्मको एक अद्वितीय और त्रिकाल अवाधी और ज्ञान स्वरूप कहा है। क्योंकि यह जगत उन लक्षणोंसे विलक्षण दिखाई देताहै। जैसा कि श्रुतिने इस को एक कहा और यह पृथिवी जलादि तथा मनुष्य पशु आदिक भेदसे अनेक प्रकारका देखा जाता है। फिर श्रुतिने इस को त्रिकाल अवाधी नित्य कहा और यह हमको उपजता मिटता दिखाई देताहै जैसा कि अमुक कूप तथा वृक्ष तथा पुरुष कल नहीं थे आज हैं और कल को फिर नहीं रहेंगे। फिर श्रुति ने इस को ज्ञान स्वरूप कहा और यहां काष्ट पाषाणादि पदार्थ सब जड़ दिखाई देते हैं?

उ०-पूर्वोक्त श्रुतियों का यह कहिना कि ब्रह्म एक और सत्य तथा ज्ञान स्वरूपहै झूठा नहीं किंतु तुम्हारे समझने में हानि है। जैसाकि देखो जहां श्रुतिने ब्रह्म को एकता कही वहां समष्टिरूप से एकता कही है व्यष्टिरूपसे नहीं कही जैसा कि कोई शकट को देखके कहै यह एक शकट खड़ाहै तो वह समष्टिरूपसे ठीक एकहै और यदि व्यष्टिरूप से उस के अंगोपांग गिनने लगें तो कोई धुर कोई चक्र कोई कील कोई काष्ट के नाम से अनेक पदार्थ निकलेंगे और शकट पदार्थ कोई हाथ नहीं आवेगा। इसी प्रकार समष्टि दृष्टिमें तो यह सब प्रपंच एक और अद्वितीय पदार्थ है और व्यष्टि दृष्टिमें पृथिवी जल तथा मनुष्य पश्वादि अनेक नाम समझ में आतेहैं फिर श्रुतिने जो ब्रह्म को त्रिकाल-अवाधी सत्य पदार्थ कथन कियाहै इसकी इस बातमें हानि नहीं होती कि एक मनुष्य कल नहींथो आज है और कलको फिर नहीं रहैगा। क्यों कि मनुष्यकी व्यक्ति चाहे आदि अंतवाली है परंतु जाति अनादि पदार्थ है कि जिसकी उत्पत्ति विनाश कबी नहीं होता। प्रयोजन हमारेकथन का यह है कि मनुष्य की कोई व्यक्ति विशेष तो चाहे कबी होती है कबी नहीं होती परंतु ऐसा समय कबी नहीं समझ में आसकता कि जब मनुष्य की जाति जगत में न हो। तुमको स्मृत रखना चाहिये कि यह सारा प्रपंच पंचतत्व का गोलाहै जिनका नाम आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवीहै सो ये पंच भूत का गोला जो एक अनादिपदार्थ है इसी कारण इस का नाम ब्रह्म है॥

प्र०-इस जगत प्रपंच में तो कई पदार्थ सादि और सांतहैं ब्रह्म जो अनादि पदार्थहै उसके साथ इसका अभेद कैसे मान लिया जावे ?

उ०-ये जो पदार्थ ऊपर गिने इनमें सादि सांत कोई नहीं सब अनादि अनंतहैं हां इतना सत्य है कि ये सब कारण दशामें अनादि अनंतहैं और कार्य्य दशामें सादि सांतहैं जैसा कि मृतका अनादि अनंत और घट सादि सांत है ॥

प्र०-यदि जगत् से भिन्न ब्रह्म कुछ वस्तु नहीं तो उपासना और आराधन किस का करना चाहिये क्योंकि जैसे पटका एक तंतु भी गंभीर दृष्टिसे पट का रूपही होता है । वैसे एक मनुष्य भी सारे जगत् का रूपहै फिर उपासना किसकी करे और कौन करे ?

उ०-उपासना इस जगतरूप ब्रह्म की ही करनी श्रेष्ठ है इससे भिन्न और कोई उपास्य नहींहै । जो तुमने पूछा जब व्यष्टि समष्टिरूपसे तंतु की नाईं आपही ब्रह्म का रूपहै तो उपासना कौन करे और किसकी करे इसका उत्तर यहहै कि यद्यपि हाथ देह से कुछ भिन्न पदार्थ नहीं तौ भी सारे देह का पालन पोषण करता है इस प्रकार चाहे एक मनुष्य जगत् से कुछ भिन्न पदार्थ नहीं तौ भी अपनी उपासना आप करता है अर्थात् व्यष्टि रूप से आप ही उपासक और समष्टि रूप से आप ही अपना उपास्य है ॥

प्र०-उपासना किसको कहिते हैं ?

उ०-"तस्मिन्प्रीति स्तत्प्रिय कार्य्य साधनञ्चतदु पासना मेव" यह की श्रुति है । अर्थ इसका यहहै ब्रह्म में प्रीति और ब्रह्म के प्रिय कार्य्योंके सिद्ध करनेका नामही उपासनाहै अर्थात् जो कार्य ब्रह्म को प्रियलगें उनको करे और जो अप्रियहों उन को कबी न करे। प्रिय और अप्रिय कार्य्यों की पहिचान अपने आत्मा से सीखे, अर्थात् जो अपने को प्रिय वह दूसरे को प्रिय समझे और जो अपने को अप्रिय वह दूसरे को अप्रिय समझे ॥

प्र०-इस अपने आप की उपासना से अपने को क्या फ़ल होताहै ?

उ०-सारे देह के भरण पोषण और प्रसन्नतासे जो एक अंगको फल होता है वही फ़ल जगत् की सेवा उपासना के करने से अपने को होता है और न करने से विरुद्ध फ़ल होता है ॥

॥ अथ वेद निर्णय ॥

प्र०–आप जो बारंबार वेद के प्रमाण देतेहो मुझे प्रथम यह बताइये कि वेद क्या और किसका रचा हुआ है ?

उ०–विद्ज्ञाने, धातु से वेद शब्द सिद्ध होताहै विदन्तियैरितिवेदाः अर्थ इसका यहहै कि जिसके साथ मनुष्य सब कुछ जानते हैं उनका नाम वेद है तात्पर्य्य यह कि वेद नाम ज्ञानका है सो चाहे ज्ञाननाम वेद सबके हृदयमें भराहुआ होनेसे अनादि और सनातन है परंतु उसी ज्ञानको जो विद्वान् लोगों ने पुस्तकों में भी लिख रखा है इस कारण किसी २ पुस्तक का नाम भी वेद प्रसिद्ध होरहा है। जैसा कि भारत खंड में तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद ये चार पुस्तक वेदके नामसे प्रसिद्धहैं और अन्य देशों और द्वीपोंमें अन्य पुस्तक वेद नामसे प्रसिद्ध हैं। इन सब को मानने वाले लोग अपने अपने वेद को ईश्वर की वाणी मानतेहैं इससमय जितनेग्रन्थ जगतमें ईश्वरीय वाणीगिने जातेहैं कोई अठारह सौ और कोई बारह सौ वर्षकी रचना होने के कारण ऋग्वेदादि चारों वेद उन सबसे पुरातन जाने जाते हैं। यदि किसी ने किसी पुस्तक को वेद वा धर्म शास्त्र मानना हो तो ऋग्वेदादि बहुत श्रेष्टहैं क्योंकि उनमें जो बात झूठ और श्रेष्ट बुद्धिके विरुद्ध भी देखी जाती है वह भी किसी कार्य्यके निमित्तहै। चाहे लिखे तो सब ग्रन्थ मनुष्योंके ही हैं परंतु वे मनुष्य जो इन साधारण मनुष्योंसे बुद्धि और विचारमें बहुत श्रेष्ट थे इस हेतु से उनके लेखों पर अपने अधिकार अनुसार जीवों को अवश्यश्रद्धा रखनी चाहिये। यदि वेदको हम भी ईश्वर की वाणी मान लें तो कुछ आश्चर्य्य नहीं क्योंकि सब ग्रन्थ मनुष्यके रचे और लिखे हुएहैं और मनुष्य से भिन्न कोई और ईश्वर युक्ति से सिद्ध नहीं होता। हां इतना सत्य है कि पुस्तकों में आके वेद सर्वांश सच्चा नहीं रहा स्वार्थ साधक लोगों ने कई बातें उस में झूठी भी लिख दी हैं सच्चा वेद और सच्चा धर्म्म शास्त्र समस्तजनों के हृदय में लिखा हुआ है जिस को शुभाशुभ का तथा सत्यासत्य का विवेक कहिते हैं॥

प्र०–धर्म किसका नाम है। और अधर्म किस को कहिते हैं ?

उ०-मनुष्य को मनुष्य धर्म में स्थिर रहिनो धर्म है और मनुष्यको पशु धर्म में चलना अधर्म है। मनुष्य का धर्म यह है कि वह ज्ञान,विवेक और विचार पूर्वक संपूर्ण कार्य्यों को सिद्ध करे और जहां लों हो सके अपने पराये सुख दुःख की वृद्धि और हानि में यत्न करता रहे। । और पशु का यह धर्म है कि वह खाने और भोगनेके विना और कुछ कर ही नहीं सकता ॥

प्र०-नर्क किस को कहिते और स्वर्ग किस का नाम है?

उ०-दुःख का नाम नर्क और सुख का नाम स्वर्ग है सो पाप और पुण्य के प्रताप से प्राप्त होता है ॥

प्र०-पुण्य और पाप किस को कहिते हो?

उ०-ज्ञान विचारके अनुसार चलना स्वोपकार और परोपकार में लगे रहिना पुण्यहैइससे विरुद्ध वर्त्ती होना पाप है अर्थात् मनुष्य धर्म में स्थिर रहिना पुण्य और पशुचर्य्या से चलना पाप है ॥

प्र०-सत्य क्या है और असत्य किस को कहिते हैं?

उ०-सम्यक बुद्धि और लौकिक नियमोंके अनुसार जानना मानना और बरतना सत्य है और उसके विरुद्ध जानना मानना बरतना असत्य है जैसा कि दो और दो को चार जानना और मनुष्यको दो हाथ और एक मुख और दो नेत्र एक सिर वाले लौकिक नियम के अनुकूल मानना तथा सत्पुरुषों की मर्य्यादा के अनुसार वरतना सत्य है और इस से विरुद्ध दो और दो को सात जानना और मनुष्य को चतुरभुज चतुर्मुख और त्रिनेत्र तथा दश शिर वाले मानना और मूर्खों धूर्तों मन मतियों की रीति को वरतना असत्य है ॥

प्र०-गुरु किस का नाम है और सद्गुरु किस को कहिते हैं?

उ०-माता,पिता,ज्येष्ट बांधव और अध्यापक ये सब गुरु हैं और जो सत्य का उपदेश करे वह सद्गुरु है। इन सबकी सेवा और सहायता करनी जीव को तन,मन,धन से अत्यंत आवश्यक है ॥

॥ अथ जीव निर्णय ॥

प्र०-जीव क्या वस्तु है?

उ०-नख से शिख पर्य्यंत यद्यपि समष्टि दृष्टि में सारे देह का नाम

जीव है परंतु व्यष्टि दृष्टि से देह में से हृदय खंड का नाम हम जीव मानते हैं कि जिसमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छे गुण विद्यमान हैं। इस हृदय खंड का नाम ही आत्मा है तथा जीव और मन है। नख से शिखा पर्यंत जो वह अपने ज्ञान धर्म द्वारा व्याप्त है इस कारण उसका नाम आत्माहै और जीवित व्यवहारको देखके उस का नाम जीव है। पदार्थों के मनन करने से उसी का नाम मन है ॥

प्र०-देह का अंग होने से वह जड़ पदार्थ है उस में इच्छा द्वेषादि गुण कहांसे आ-गये ?

उ०-उसके मूलकारण पितृ देहमें जो इच्छा द्वेषादि षट् गुण दिखा ई देतेहैं उसके कार्य्य पुत्र देहमें क्यों न आ जायें। इसका विस्तार आ गे लिखेंगे ॥

प्र०-क्या जीव को नाना योनियों में घूमना जो वेदमें लिखाहै वह भी सत्यहै वो नहीं ?

उ०-यह तो सत्य नहीं कि मनुष्यका चेतन मात्र जीव निकल के अपने कर्मके अनुसार किसी पंछी वा पशुके देह में जा पड़ता है परंतु यह सत्य है कि मनुष्य का सारा देह कृमि होगया अथवा श्वान शृगाल काक आदिक ने खाया तो उन में वीर्य रूप होके श्वान शृगाल बन गया। अथवा राख वा धूलि वा धूम बन के नाना विधि की जड़ चेतन व्यक्तियोंमें मिल गया। अथवा देह के परमाणु वा रस पंचभूत में मिल गये उनसे नाना वनस्पत्तियां पुष्ट हुईं उन को जिन जीवों ने खाया उनसे वेही जीव उत्पन्न होगये। इसीका नाम संसृति चक्रहै और यह सदा चलता रहता है ॥

प्र०-संचित, प्रारब्ध, आगामी ये तीन प्रकार के कर्म जो शास्त्र में सुने जाते हैं सत्यहैं वा झूठ ?

उ०-सत्य हैं परंतु इन का स्वरूप यह है। पितामह आदिक वृद्धों के सुकृत दुःकृत कर्मका फल जो जीव भोगताहै वह संचित कर्म है क्यों कि उनके देह में पीछे वह कर्म आपही किया था। सुकृत यह है कि उनका धनादि संचय वा यश पौत्र को मिलना। दुःकृत यहहै कि उन के कुपथ्य सेवनसे जो कुष्टादि रोग तथा अनाचार की निंदा का दुःख पौत्र को भोगना पड़ताहै। प्रारब्ध कर्म यहहै कि जो सवेरे किया और

सांभ को भोगा। आगामी यह है जो अब किया और कालांतर में भोगेंगे॥

प्र०-मुक्ति किसको कहिते हैं ?

उ०-ज्ञान के बल से यह समझ लेना कि मैं यह एक देह नहीं कि इसकी उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति वा इसके मरण से अपना मरण समझूं मैं सर्व संघात हूं जो अज और अमर है इसी का नाम मोक्ष है जैसा कि लिखा है:—

सयोहवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्या ब्रह्म वित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तो ऽमृतो भवति ॥

यह आथर्वणवेद की मुंडक उपनिषत् का वाक्य है अर्थ इस का यह है कि—जो कोई उस परम ब्रह्म को जानताहै वह ब्रह्मही होजाता है अर्थात् वह जान लेताहै कि चाहे मैं व्यष्टि रूप से जीव हूं परंतु समष्टि रूपसे ब्रह्मही हूं। इस ब्रह्म वेत्ता के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता क्योंकि वह सब को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करता रहिताहै। वह शोक और पाप को तर जाता और हृदय की ग्रंथि अर्थात् बंधनों से विमुक्त हो जाता और अमर हो जाता है अर्थात् वह अपने एक देह को मिटते देखके अपना मरना नहीं समझता किंतु पीछे जो जगत् प्रपंच खड़ा है उस को अपना आप स्थिर समझ के अमर होजाता है॥

प्र०-क्या यह सब जीव एक ही हैं वा अनेक हैं ?

उ०-एक जाति के सब जीव द्रव्य में एक और गणना में अनेक हैं जैसाकि बर्षा का जल द्रव्य में एक है और बूंदों की गणनामें अनेकहै॥

प्र०-ब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, नारायण शब्दों के अर्थ जो पीछे आपने सुनाये जगत् प्रपंच के साथ उन की एकता कैसे पाई जाती है ?

उ०—ब्रह्म शब्द का अर्थ महान् है अर्थात् सबसे बड़ा। सो इस जगत् प्रपंच से बड़ा जो कोई पदार्थ नहीं अतः यह सबसे महान् है॥

ईश्वर शब्द का अर्थ ऐश्वर्य्यवान् और प्रेरक है सो जितने ऐश्वर्य्य हैं सब जगत् में ही हैं इससे बाहर और कुछ नहीं। और चेतन भागसे आप ही प्रेरक और जड़ भाग से आप ही प्रेर्य्य है॥

विष्णु शब्द का अर्थ व्यापी है सो कौन ऐसा स्थान है जहां सप्त पदार्थोंमें से कोई पदार्थ विद्यमान न हो जो जगत् का रूप हैं॥

नारायण शब्द का अर्थ नरों के निवास का स्थानहै सो समस्त नर इस जगत् में ही निवास करते हैं अन्यत्र नहीं॥

प्र०-यह तो आपने वेदांत मत कथन किया कि जो व्यासादि का सिद्धांत है?

उ०-हां वेद का अंत तो यही है कि जो हमने कथन किया परंतु व्यासादिकों ने हमारे कथनको स्पष्ट करके नहीं लिखा। यद्यपि सूक्ष्म आशय तो उनका उनके वचनों से यही पाया जाताहै जो हमने कहा परंतु उन्हों ने किसी हेतु से सत्य को छिपाना बहुत चाहा है क्योंकि सत्य कहिते २ कुछ और कहिने लग जाते हैं कि जिस से सत्य का झूठ में तिरोभाव होजाता है जैसा कि उन्होंने कहीं तो यह स्पष्ट सत्य लिखा कि यह सब कुछ जो चराचर नाम,रूप देखने सुननेमें आताहै ब्रह्म है कहीं लिखा यह सब कुछ अज्ञान से प्रतीत होताहै वास्तव में कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार संपूर्ण वेदों तथा उपनिषदों में बहुतसे संदिग्ध वाक्य लिखे हैं। जैसा कि कहीं तो यह लिखा:—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमा।
तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म ता अपः स प्रजापतिः" ॥

यह यजुर्वेद अध्याय ३१ का प्रथम मंत्र है अर्थ इसका यह है कि—यह ब्रह्मही अग्नि तथा सूर्य्य और वायु और चंद्रमाहै। वह ब्रह्मही शुक्र तथा प्रजापतिहै अन्य कोई नहीं। इस मंत्र से तो प्रत्यक्ष अग्नि सूर्य्यादि को ब्रह्म कहा कि जो ठीक सच्ची बात है। और फिर डराने के लिये इन अग्नि सूर्य्यादि का प्रेरक कोई परोक्ष ब्रह्म भी कथन किया कि जिस की ढूंढ़ में लोग मर रहिते हैं। जैसा कि:—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।

भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्यु र्द्धावति पञ्चमः ॥

यह कठोपनिषत् वल्ली ६ का मंत्र २ है अर्थ इस का यह है कि--इस ईश्वर के भय से अग्नि और सूर्य्य तपते और इसी के भयसे इन्द्र और वायु चलते तथा इसी के भय से जगत् में पांचवां मृत्यु चलता है। अब विचारिये कि यदि प्रथम मंत्रानुसार अग्नि सूर्य्यादि को अपरोक्ष ब्रह्म कहि चुके थे तो अब अग्नि सूर्य्यादिकों को भय देनेहार परोक्ष ब्रह्म और कौन सा कह दिया ॥

हम तो बारंबार इन पांच सिद्धांत का ही उपदेश करते हैं:--

॥ सत्य धारी के पांच सिद्धांत ॥

प्रथम-प्रथम सत्य का जानना और सत्य का मानना और सत्य का बखानना परम धर्म्म है ॥

द्वितीय-यह जगत् स्वतः सिद्ध है इस का कोई कर्त्ता हर्त्ता नहीं, ब्रह्म है तो यही है ॥

तृतीय-जितने ग्रन्थ जगत में विद्यमान हैं सब मनुष्य कृत हैं और सच्चा वेद शास्त्र सबके हृदयमें लिखा हुआहै जिसको विचारकहितेहैं॥

चतुर्थ-देह से भिन्न जीव कुछ वस्तु नहीं व्यष्टि रूप से इसी का नाम जीव और समष्टि रूप से इसी का नाम ब्रह्म है ॥

पंचम-शुभाचार सुख का हेतु और अशुभाचार दुःख का हेतु है। जो व्यवहार अन्य का किया हुआ अपने को भावे वही औरों से बरतना शुभाचारहै। जो अन्यका किया हुआ अपने को न भावे वह औरों से बरतना अशुभाचार है ॥

प्र०-आपने जो ब्रह्म, वेद तथा जीव का स्वरूप कहा यह प्रत्यक्ष है कि जिस पर कोई संदेह नहीं उठता परंतु पूर्वाचार्य्यों ने जो कोई परोक्ष परमेश्वर जानाया है उस का क्या प्रयोजन है ?

उ०-संसार की मर्यादा स्थिर रखने के लिये परोक्ष परमेश्वर का भय और लालच जगत् के सिर पर ठहिराया हुआ है सो उस का खंडन तुम अगले तरंग में देखोगे ॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम बिरचित सत्या-

मृत प्रवाहोत्तर भागे परा विद्याया सत्य सिद्धान्त वर्णनं द्वितीयस्तरङ्गः ॥

ओ३म्

॥ श्री परम गुरवे नमः ॥

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नामग्रंथस्य उत्तरभागः ॥

अथ तृतीयतरङ्गस्यारम्भः क्रियते

॥ अथेश्वर निर्णयो व्याख्यायते ॥

प्रश्न-आप के कथन से जाना गया कि इस ब्रह्माण्ड गोल से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है। परंतु यह आप का प्रतिज्ञा मात्र कथन है कि जिस में आपने कोई युक्ति नहीं दिखाई। सो योग्य है कि आप अपने इस प्रतिज्ञामात्र कथन को लक्षण और प्रमाणसे सिद्ध करके दिखावें कि जिस को सुन के मूलत: भ्रम का उच्छेद होजावे ?

उ०-बड़ी युक्ति हमारे पास यह है कि तुम जो ब्रह्मांड से भिन्न ईश्वर का होना किसी दृढ़ युक्ति से सिद्ध नहीं कर सकते और न कभी हम को उसका प्रत्यक्ष हुआ है फिर उस अन हुई बात का होना हम कैसे मान लें जिस को तुम इस ब्रह्माण्ड से अतिरिक्त कहिते हो ॥

प्र०-ईश्वर क्या घट पट की नाईं कोई भौतिक पदार्थ है जिसका तुम प्रत्यक्ष चाहते हो। उस का प्रत्यक्ष इंद्रिय से नहीं होता किंतु ज्ञान द्वारा उस का प्रत्यक्ष होता है। जैसा कि वायु के स्वरूप का प्रत्यक्ष चाहे हम को किसी इंद्रिय से नहीं होता परंतु उस के स्पर्श गुण के प्रत्यक्ष से तद्वान वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा होता है वैसे ही ईश्वर के कर्तृत्वादि गुणोंसे ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञानद्वारा हमको होता है क्योंकि स्वाभाविक गुण के प्रत्यक्ष से गुणी का प्रत्यक्ष होजाना युक्ति सिद्ध है ?

उ०-स्वाभाविक गुण के प्रत्यक्ष से गुणी का प्रत्यक्ष युक्ति सिद्ध ठीक

है परंतु ईश्वरके कर्त्तृत्वादि गुणों का प्रत्यक्ष हम को कभी नहीं हुआ जिनसे ईश्वर का प्रत्यक्ष मान लियाजावे। जिस संसार का तुम ईश्वर को कर्त्ता समझतेहो यह अनादि अनंतहै फिर उसका कर्त्ता हर्त्ता कोई कैसे बन सकता है। हम पीछे पंच भूत के गोले को स्वरूप से वा प्रवाह से अनादि, अनंत कहि चुकेहैं और इस गोले का नाम ही ब्रह्मांड वा जगत वा संसार और प्रपंच है ॥

प्र०-अच्छा प्रत्यक्ष नहीं तो अनुमान प्रमाण तो ईश्वर के सद्भाव में मानों क्योंकि कर्त्ता विना कोई कार्य्य उत्पन्न नहीं होता और कार्य्यसे कारण का अनुमान होजाता है। सो हम अनुमान करते हैं कि यह जगत जो कार्य्य रूप है तो इसका कारणभी कोई अवश्य होना चाहिये और उसी का नाम ईश्वर है ?

उ०-प्रथम तो हम यह कहि चुके कि जगत अनादि अनंत है कार्य्य रूप नहीं। फिर यह कहेंगे कि अनुमान, उपमान, शब्द आदिक प्रमाण वहां मानने चाहिये कि जहां प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय न हो यहां जगत में तो प्रत्यक्ष अनादिता दिखाई देती है अनुमानादि प्रमाणों का क्या प्रयोजन। सच पूछो तो अनुमान,उपमान,शब्द प्रमाणभी प्रत्यक्ष प्रमाण विना सिद्ध नहीं होते जैसा कि धूमको प्रत्यक्ष जहां देखा हो अग्नि का अनुमान वहां ही हो सकता है। और गौ को प्रत्यक्ष देखे विना गवय का उपमान सिद्ध नहीं होता। शब्द प्रमाण वही माना जाता है जिस के विषय का प्रत्यक्ष वक्ता को हुआ हो। सो बस इस रीति से जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रधानता आई इस कारण हम उसी बात को सत्य मानते हैं जो प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होवे। और तीसरा हम यह पूछते हैं कि आप जगत मानते किस बात को हो। यदि नभ, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पंचभूतको जगत मानते हो तो ये स्वरूप से अनादि सिद्ध पदार्थ पड़े हैं किसी के किये हुए नहीं। यदि मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक देहों को जगत मानते हो तो ये भी अपने माता पिता से प्रकट होते हैं और प्रवाह रूपसे अनादि हैं किसी के किये हुए नहीं। यदि वृक्ष, घासादि को जगत मानते हो तो वे अपने बीजों से प्रकट होते और प्रवाह से अनादि हैं। और यदि कोष्ट, कूप, घट, पटादि को जगत मानते हो तो इन का कर्त्ता मनुष्य है। अब

विचारना चाहिये कि जब सारा जगत कोई स्वरूप से कोई प्रवाह से अनादि है तो कार्य्य रूप कैसे हुआ। जब कार्य्य रूप न ठहिरा तो इस का कर्त्तृत्व ईश्वर को कैसे आया॥

यदि कहो सूर्य्य, चंद्र, तारागण का कर्त्ता ईश्वर है अथवा मेघ वृष्टि इंद्र, धनुष, आदि का कर्त्ता ईश्वर है तो ज्योतिष विद्या वा पदार्थ विद्या को पढ़ो जिस के पढ़नेसे स्पष्ट प्रतीत होजावेगा कि ये क्या और किस के बनाये हुए हैं वा स्वतः सिद्ध हैं॥

प्र०-ज्योतिर्विद्या पढ़ने का अवसर अब कहां है यह बात भी संक्षेप से आप ही सुनाइये कि सूर्य्य चंद्रादि क्या पदार्थ और किस के बनाये हुए हैं?

उ०-जब लों ज्योतिर्विद्या को न पढ़ लो हमारे संक्षिप्तकथनसे भ्रम की निवृत्ति नहीं होवेगी परंतु इस समय हम थोड़ा सा कहि छोड़ते हैं। ये सूर्य्यादि पदार्थ भी किसी के बनाये हुए नहीं किंतु अनादि हैं। यदि अनादि नहीं हैं तो बताओ कब बनाये। यदि कहो जगत् की आदि में बनाये तो बताओ काहे से से बनाये क्योंकि जगत से पहिले कुछ वर्त्तमान नहीं था जो इन का उपादान ठहिराया जावे। यदि कहो जगतके आरंभसे कुछ काल पीछे बनाये तो बताओ कितना काल पीछे और सूर्य्यके बिना दिन मास वर्षादि कालका निश्चय कैसे हुआ। और उतना काल क्यों न बनाये क्या उतना काल ईश्वर उनके उपादान की प्रतीक्षामें रहा कि जिसके बिना सूर्य्यादिको बना न सका अथवा बनाना आवश्यक न समझा। यदि बना न सका तो इन से पहिला जगत उपादान के बिना कैसे बना लिया और उस जगतका अँधेरे में निर्वाह कैसे हुआ। यदि आवश्यक न समझा तो फिर पीछे से क्या आवश्यकता पड़ गई इत्यादि॥

सुनो सूर्य्य भी इस पृथिवी के समान एक पृथिवी है और वह ऐसी चमकीली है कि यह हमारीपृथिवी उसीकीचमकसे प्रकाशितहोरही है। वह स्थिर है और पृथिवी समेत मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदिक कई गृह उसके चारोंओर घूमतेहैं। वह सूर्य्य पृथिवीसे इतना दूर है कि जो घोड़ा एक दिन रात में सात सौ बीस कोस चले वह रात्रि दिन चलता रहे तो पृथिवी से ले के सूर्य्य लों दो सौ चौहत्तर

वर्ष में पहुंचे। सूर्य्य संपूर्ण गृहों में बड़ा गृह है और इस पृथिवी से भी बहुत बड़ा है अर्थात् पृथिवी के गोले का विस्तार तो चार सहस्र सात सौ पंचास कोस का है और सूर्य्य का गोला पाँचलक्ष तीस सहस्र चार सौ कोस का है। तुमको यह भी स्मृत रखनी चाहिये कि पृथिवीऔर सूर्य्य दोनों गोल हैं शास्त्रीय लोग सूर्य्य को चलता मानते औरइतर विद्वान् पृथिवी को चलती मानते हैं। दिन रात का होना तथा गृहण का लगना सूर्य्य का पृथिवी के आगे पीछे होजाना है। बुद्धिमानों ने पृथिवी की चाल का निश्चय किया हुवा है इसी हेतुसे आज गिना जा सकता है कि इतने दिनों में सूर्य्य पृथिवीकी आड़में आजायेगा और गृहण लगेगा। जो लोग सूर्य्य का चलना मानते हैं गृहण और दिन रात उनकी गिनतीमें भी उसी समय होताहै क्योंकि जैसे नौका पर बैठे लोग तट को चलता देखते हैं और तटस्थ लोग नौका को चलती देखतेहैं तो भी यह बात दोनोंकी ठीक उतरतीहै कि नौका तटसे एक कोस इतने कालमें जावेगी अथवा नौका से तट एक कोस इतने काल में चलाजावेगा। तुमको यह भी समझना चाहिये कि इस पृथिवी पर सूर्य्यकी उष्णता और प्रकाशका फल तो होताहै परंतु और कोई फल नहीं होता जैसाकि जन्म पत्र लिखने वाले अज्ञानीजन बतलाते हैं॥

प्र०—मैंने कईबार देखा कि जन्म पत्र तथा वर्ष फलके गृहों के अनुसार जब ज्योतिषी लोगों ने सुख दुःखका होना कहा ठीक उस समय पर वैसा ही हुआ फिर गृहों का फल क्यों न मानना चाहिये?

उ०—प्रथम तो यह बात सच नहीं कि जिस समय जैसे सुख दुःख लाभ हानि का होना ज्योतिषी बतावे उस समय ठीक वैसा ही होवे भला यदि कोई एक आधी बात मिल भी गई तो वह अचानक हुई माननी चाहिये। हमने कईबार देखाहै कि आज किसी ऐसे मित्रको स्मरण किया कि जो दूर रहता है कल को वा उसी दिन वह हमारे पास आनिकला क्या उसको आप यह समझोंगे कि वह हमारी स्मृति उसे खेंच लाई। नहीं २! यह व्यवहार अचानक होगया कोई इस का नियामक नहीं॥

यदि गृहों के अनुसार सुख दुःख और हानि लाभ होताहो तो हमारे निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर दो॥

यह बात संभव है कि जिस समय के जिस लग्न की जिस अंश में कोई एक पुरुष किसी नगर में उत्पन्न हुवा हो उसी अंशमें कोई अन्य पुरुष भी कहीं अवश्य उत्पन्न हुआ होवेगा फिर क्या कारणहै कि दो नोंके लग्न और गृह तो समानहों और फल भिन्न२ हों। जैसाकि एक गौर दूसरा श्याम तथा एक सुखी दूसरा दुःखी देखा जाता है। यदि फिरभी कहो कि उनमें कुछ वैलक्षण्य कभी नहींरहेगा तो देखो कित ना वैलक्षण्य दिखाई देताहै। एकका माता पिता अन्य और दूसरे का अन्यहै। एकके भाई बहिन भिन्नतथा दूसरेके भिन्न हैं। एक अन्य ग्राम के अन्य कूप का जल पीता और दूसरा अन्य का। एक ने किसी अन्य क्षेत्रके अन्नसे वृद्धि पाई और दूसरेने अन्यसे। फिर एकका विवाह और स्त्रीसे हुआ दूसरे का औरसे। फिर हम यह भी कह सकते हैं कि उनके रोग शोक तथा मृत्यु भी अवश्य भिन्न२ होंगे॥

एक बात हम और पूछते हैं कि सुख दुःख हानि लाभ जीव को गृहोंसे होताहै वा पूर्व कर्मसे अथवा ईश्वरकी इच्छासे होता है, यदि गृहोंसे तो दूसरे को वैसाही क्यों नहीं होता जिसके गृह समान पड़ेहैं यदि कहो पूर्व कर्मसे, तो उन दोनोंके कर्म तो भिन्न२ थे जिनके यहां माता पिता और स्थान जल अन्नादि पदार्थ पीछे भिन्न२ सिद्ध करचुके हैं फिर लग्न और गृह दोनोंके एक समान क्यों पड़े कि जिनके पड़ने से संवत, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, लग्न, गृहादि की अवश्य एकता पड़ेगी क्योंकि जब सूर्य्य सिंह का और चंद्रमा वृष का और गुरु मकर का तथा शनि कर्क का एक के पड़ा तो अवश्य एकही संवत मासादि दोनों के होंगे। अब इस कथनसे यह बात लब्धहुई कि जो सिंह के सूर्य्यमें जन्मा वह भादोंके महीनेमें जन्मा होताहै जब अत्यंत घर्म पड़के जातको कष्ट होता है। अथवा जो कुंभ मीन के सूर्य्य में जन्म ले वह फागुन चैत्र में जन्म लेनेके कारण भादोंकी अपेक्षा कुछ सुखी होता है। और दोनों मास में उत्पत्ति होने के कारण सारा आयु ही काल जन्य शीत उष्ण तथा फल पुष्पादिका सुख दुःख उनको समान होगा फिर पूर्व कर्म की विलक्षणता ने वह सुख दुःख समान क्यों होने दिया॥

यदि कहो ईश्वर की इच्छा से सुख, दुःख, हानि, लाभ होता है तो

पहिले हम यह पूछतेहैं तुम्हारा वह पक्ष कहां गया कि जो सुख दुःखा दि का कारण ग्रहोंको मानाथा। फिर हम यह पूछतेहैं कि जिस को ईश्वरने दुःखदेने वा हानि पहुंचानेकी इच्छाकी उसने ईश्वर का क्या अपराध किया था और जिसको सुख वा लाभ दिया उसने ईश्वर पर उपकार क्या किया मानोगे। हम सच कहिते हैं ग्रहादिकों का फल जीव को हानि, लाभ, सुख, दुःख पर कुछ नहीं होता यह सब अचानक व्यवहार है॥

प्र०—तव तो आप भू कंप तथा परिवेषादिका फल भी प्रजा पर कुछ नहीं मानते होगे?

उ०-जीव के हानि, लाभको हम उन के आधीन कैसे मान लें जो युक्ति से हीन व्यवहार है परंतु हम और प्रकार से प्रजा पर उनकाफल कुछ मानभी लेते हैं। जैसा कि भू कंप जिस पवन के वल से होता और जो वायु चंद्रमा और सूर्य के ऊपर परिवेष बना देताहै उसका बनस्पति और वर्षादि पर कुछ फल होताहो तो कुछ आश्चर्य्य नहीं॥

प्र०—क्या भू कंप किसी पवन के संबंध से होता और परिवेष भी किसी वायु के वलसे होता है। हम तो यह सुनते हैं कि जब पृथिवी पर गोघात तथा कन्याघात आदिक महा पाप होते हैं तब पृथिवीके नीचे जो एक बैल तथा शेष नाग है वह कांप जाता है और उसके कांपने से पृथिवी कांप जाती है?

उ०-यह तुम्हारी बड़ी भूल है कि प्रत्यक्ष पड़ी बात को छोड़ के परोक्ष पर विश्वास कर लेते हो भू कंप का यही कारण है कि जैसे प्राण वायु के प्रकोपसे कभी २ सारे शरीर अथवा किसी एक अंग में अचानक कंप अथवा फरकना होजाता है वैसे वायु वेग से सारी पृथिवी कभी एक देश उसका कंप में आ जाता है। जो तुमने पृथिवी के नीचे बैल वा नाग माना और उसका पापके बोझसे कांपना सत्य जाना इसमें हम कई एक प्रश्न करते हैं:—

१—यदि पृथिवी के नीचे बैल है तो कूप खोदने से दिखाई क्यों नहीं देता?

२—जब बैल बिना पृथिवी न ठहिरसकी तो आश्रय बिना बैल काहे पर खड़ा है। यदि बैल परमेश्वर की शक्ति के आश्रय खड़ा है तो

पृथिवी को ही शक्ति के आश्रय क्यों नहीं मान लेते क्यो उस शक्तिसे अकेली पृथिवीका बोझ न उठाया गया और बैल समेत उठा लिया। इत्यादि

यदि वह कन्यादि घातसे कांपताहै तो भू कंप सहस्रों नगर में एक ही समय होता देखतेहैं क्या कारण कि कन्यादिघात किसी एक नगर में हुआ और भू कंप अनेक नगरों में होगया। यदि कहो उन समस्त नगरों में जो कन्यादि घात होते रहे इस हेतु से सब में भूचाल हुआ तो निर्ज्जन जंगलों तथा पर्वतोंमें भूकंप होनेका क्याकारण। फिर एक बात हम और पूछतेहैं कि पापका बोझ उस बैल वा शेष और कच्छप की पृष्टि पर जब पड़ा तो उस का सारा देह कांप पड़ा होगा जिस पर तुम पृथिवी को रखी हुई मानते हो फिर इस का क्या हेतु कि कबी २ हम भू कंप किसी एक ही देश में हुआ सुनते हैं। क्या यह बात संभव है कि आधार सारा हिले और आधेय का एक देश हिले! बड़ा आश्चर्य्य है कि आप भू कंप का कारण किसी पाप विशेष को मानते हो॥

॥ अब चंद्रमा की सुनिये ॥

चांद भी एक पृथिवी है और वह अन्य गृहों के नाई सूर्यके गिरद नहीं घूमता परंतु अपने नक्षत्रों और पृथिवीके गिरदे घूमता हुआसूर्य के इरद गिरद भी आजाता है। चांद और तारे स्वयं प्रकाशित नहीं किंतु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अन्य तारे तो सब स्थिर हैं परंतु पुच्छवान तारे अन्य गृहोंकी नाईं सदा घूमते रहितेहैं। चांद इस पृथिवीसे एक लच्च बीस सहस्र कोस दूर है। पृथिवी, सूर्य, चंद्र, तारे ये सब किसीके बनाये हुए नहीं सनातन से ऐसे ही एक दूसरे के आश्रय स्थित हैं परंतु यह संदेह तुम्हारा तब निवृत्त होगा कि जब तुम पदार्थ विद्याको पढ़ोगे॥

॥ अब वर्षा की सुनो ॥

वह भी ईश्वर कृत नहीं किंतु समुद्र और अन्य नदी नालोंका जल सूर्य की किरण द्वारा उद्दान वायुके वेग में ऊपर खैंचा जाता है और

सूर्य की तप्त से पिघलता २ अति सूक्ष्म होके आकाशमें मेघाकार दिखाई देताहै। जब उसको ऊपर शीतल वायु मिले तो घृत की नाईं जमके भारी होजाता और अपान वायुके वेगसे नीचे गिरने लगताहै। यदि ऊपर शीतल वायु बहुत लगे तो अत्यंत गरिष्ट होके ओलेबरसने लगते हैं और यदि शीतल वायु थोड़ा मिले तो बूंदें होकर बरसताहै यदि शीतल वायु ऊपर किंचित भी न मिले तो सूर्यकी तप्तसे अत्यंत पतला और सूक्ष्म होके उदान वायु के वेग से जब कुछ अधिक ऊपर गया तो वायु में मिलगया और वहांसे उड़के किसी अन्य देशमें जा बरसा। इस हेतु से न वर्षा होती और न मेघ दिखाई देताहै। इसमें ईश्वर का कर्तृत्व तब मान लें यदि कोई प्रत्यक्ष हेतु दिखाई न देवे॥

प्र०-यहां यदि हम यह मानें कि सूर्यकी किरणोंको जलका खेंचना और उदान वायु को ऊपर और अपान वायुको नीचे गिराना इत्यादि सब व्यवहार ईश्वर ने दिये हुए हैं स्वतः नहीं तो आप क्या उत्तर देते हो?

उ०-वाह को यदि आप कहोगे कीकर के कांटे का मुख ईश्वर ती क्ष्ण करताहै तो इसके बिना हम और क्या कहेंगे कि क्यों और कहां और कैसे ईश्वर करता है। जैसे कीकर के बीज का स्वभाव ही यहहै कि उसके कांटे तीक्ष्ण मुखके निकला करें वैसे सूर्य की किरणों का स्वभाव ही यहहै कि वे पानी को खेंचके वायु में मिलादें। फिर उदा न वायु ने पदार्थों को ऊपर ले जाना अपान वायु ने पदार्थों को नीचे पटकाना यह भी उनका स्वतः स्वभावहै। यदि इन बातोंका स्थापक और नियामक ईश्वर को मानोगे तो उस पर बड़े भारी दोष लगेंगे कि जिन का उद्धार कठिन है॥

॥ अब गर्ज और बिजली को सुनो ॥

मेघों के पुट में जो उदान वायु की धारणा शक्तिसे आकाश में ऊप र नीचे आच्छादित होरहे हैं उनमें दो पदार्थ का संयोग है। एक सू क्ष्म अंश जल के मिल रहेहैं दूसरा पृथिवी के जो सूर्यकी तप्त और उ दान वायु के बल से ऊपर गये हुएहैं। उन मेघों की संधि और अव काशमें जब विशेष पवन प्रवेश करे तो मेघ बलात्कार से फटकाते हैं

उस का नाम गर्ज है। पृथिवी और जलांश के कोनों में विशेष पवनके स्पर्श से उष्णता होकर जो अग्नि प्रकाशित होता है उस का नाम बिजली है। यदि कहो वहां जलांशमें मिलकर अग्नि बुझ क्यों नहींजाता तो सुनों जैसे बड़वाग्निको समुद्र का जल बुझा नहीं सकता वैसे इस आकाश की अग्नि को आकाशस्थ जलांश नहीं बुझा सकते। विद्युत की चमक शब्द से कुछ काल पूर्व होनेका यह तात्पर्य्य है कि प्रकाश शीघ्र चलताहै और शब्द उससे मंद चलताहै। विद्युतका अग्नि पृथिवी के बहुत निकटहो तो आध कोसतक होताहै इससे नीचे उतरे तो पृथिवी पर गिरके उस स्थलके पदार्थों को दग्धकर देताहै। विद्युत समय ऊंचे वृक्ष तथा लोहे के खंभके नीचे न ठहिरना चाहिये क्योंकि वहां बिजली बहुत गिरती है। जैसे बन में दो बांसकी रगड़से तथा दो पत्थर की टक्कर से आग और शब्द प्रकट होजाता है वैसा ही बिजली को समझो इसका कर्त्ता ईश्वर नहीं किंतु जल पवन और मृतका का संयोग है॥

बस इसी प्रकार सर्व कार्य्यों के भाव अभावको मुख्य कारण न समझने से तुमने ईश्वर का कर्तृत्व माना हुआहै॥

प्र०—इस काल में चाहे संपूर्ण कार्यों के कारण यहां जगत में ही दिखाई देते हैं जैसा कि पुत्र की देहका कारण उसके पिताकी देहहै परंतु पिता की देह फिर अपने पिता से और उसका पिता फिर अपने पिता से दिखाई देता है। इसी प्रकार पीछे को चलते २ सब से पीछे कोई एक देह ऐसा मानना पड़ेगा कि जिस से पूर्व कोई और देह न हो। यदि कहो वह आदिम देह कहां से आया तो सुनों। जिन स्थूल पंच भूत को तुम ज्यों के त्यों अनादि मानते हो वे ज्यों के त्यों अनादि नहीं किंतु अपने परमाणुओं के संयोग से बनेहैं। पहिले बहुत काल से परमाणु समूह वर्त्तमान था जब ईश्वर ने जगत रचना चाहा तो एक २ परमाणु को मिला के द्व्यणुक त्रस रेणु किया। फिर और मोटे होते २ स्थूल महा भूत बनगए। फिर इन महा भूतों से ईश्वरने अपनी सामर्थ्य द्वारा दो प्रकारका देह रचा एक नर दूसरा नारी। फिर उन में जीवात्माओं का संबंध किया जो परमाणुओं के समान पहिले ही से वर्त्तमान थे। सो वे प्रथम नर नारी देह

तो ईश्वर ने पंचभूत में से बनाये और फिर उन के संयोगसे आगेको रचना का क्रम बांधा। और इसी प्रकार पहिले ईश्वरने बीज बनाये और फिर उनसे वृक्ष होते चले आते हैं और वैसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि के बीज पहिले रच लिये और फिर एक से दूसरेकी उत्पत्ति का क्रम बांधा जो आज लों अनायास चला आता है। इस हेतु से आदि कारण सब का ईश्वर है?

ज०-जगत के आरंभ में किसी आदिम देह का होना तो हम भी स्वीकार करते हैं परंतु हम यह नहीं मानते कि उस आदिम देह को किसी ईश्वर ने रचा है। हम तो यह मानते हैं कि पंचभूत से जगत का बन जाना और मिट जाना स्वतः स्वभाव है इस का कोई नियाम क नहीं जैसा कि देखो यहां हम उत्पत्ति और प्रलय का प्रकार लिख ते हैं जो युक्ति के विरुद्ध नहीं॥

आदि काल में जो जो प्रमाणुओं का संयोग तुमने ईश्वरीय इच्छासे माना इस में अनेक दोष हैं जो आगे कथन होंगे इस हेतुसे तुम ऐसा क्यों नहीं मानते कि जैसे वे आज दिखाई देते हैं सदा से ऐसेही स्थि त हैं। यदि कहो कहीं २ जाल रंध्रों में जो द्व्यणुक त्रसरेणु दिखाई दे तेहैं इस हेतुसे उनके पूर्व परमाणुओं के होने का हम अनुमान करतेहैं क्योंकि सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति युक्ति सिद्ध है तो सुनो केवल सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति ही युक्ति सिद्ध नहीं किंतु स्थूल से सूक्ष्म की उ-त्पत्ति भी युक्ति सिद्ध है। जैसा किसी स्थूल वृक्ष से एक सूक्ष्म पत्रटूट के पवन वो पृथिवी में पड़ा रहिताहै वैसे स्थूल भूतों में से टूटके सूक्ष्म त्रसरेणु और द्व्यणुक तथा परमाणु प्रतीत होने लग जाते हैं क्योंकि इन पंचभूत का स्वभाव है कि कहीं तो ज्यों के त्यों स्थूल पड़े रहितेहैं और कहीं कुछ परमाणु भिन्न होके फिर अपने आप एकत्र हो जाते हैं। य दि कहो वे जड़हैं किसी चेतनके किये बिना स्वतः न तो भिन्न ही हो सकते हैं और न मिल सकते हैं तो सुनों एक पृथिवी मात्र के परमाणु तो चाहे स्वतः क्रिया करते दिखाई नहीं देते परंतु वायु जल और अ ग्नि में हम चलन और चालन शक्ति प्रत्यक्ष देखते हैं। सो प्रथम वायु ने पार्थिव परमाणुओं को एकट्ठा वा भिन्न कियो फिर जलके परमाणु ओंको हिलाया। फिर अग्नि का स्वभाव है कि अपने स्थान को छोड़

के सदा पार्श्ववर्त्ती पदार्थों की ओर प्रवृत्ति करना। वायुकी प्रेरणा से जल और पृथिवी को पहिले अग्नि ने भिन्न२ कर के परमाणु रूप कर दिया। फिर वायु की प्रेरणा से जल और पृथिवी के परमाणुओं में प्रविष्ट होके उनको भी पक्का कर दिया और आप भी उनके आश्रय एकट्ठा होगया। तदनंतर वह स्थूल पंचभूत का ढेर गरिष्ट और भारी हो जाने के कारण वायुकी प्रेरणा से आगे न सरका। फिर उसके सूक्ष्म छिद्रों और अवकाशों में वायु रुक के एक स्थूल वायु बन गया इस रीति मिलना बिछुड़ना इनका स्वभावक धर्म है ईश्वर की चिकीर्षा मानने की क्या आवश्यकता है॥

प्र०–अग्नि, वायु, जल, पृथिवी ये चारों भूत विरुद्ध धर्मी हैं एक स्थान में होने से एकने दूसरे का नाश क्यों न कर दिया इस बात से प्रकट है कि किसी अन्य की इच्छा वा शक्ति से इन का एकी भाव हो रहा है स्वत: नहीं ?

उ०-नाश तो इन का कभी होता ही नहीं किंतु अवस्थांतर हो जाता है जैसा कि जल पर जब उस से अधिक अग्नि पड़े तो अग्नि की उष्णता से जल पिघल कर सूक्ष्म भाफरूप होकर उदान वायु द्वारा ऊपर को उड़ जाता है फिर ऊपर का शीतल वायु लगने से वृष्टि बनके नीचे ही फिर गिर पड़ता है। ऐसे ही अग्नि पर अधिक जल पड़ने से अग्नि उस की शीतलता में प्रविष्ट होके अपने स्वरूप को छिपा देता है यही कारण है कि जल अपने प्रथम स्वभाव से कुछ उष्ण होजाता है। फिर वह उष्णता शनैः२ वहां से निकल के कहीं आगे को प्रवृत्त हो जाती है परंतु नष्ट नहीं होती। जो तुमने किसी अन्य की इच्छा बिना इन का एकी भाव कठिन माना यह कथन भी तुम्हारा समीचीन नहीं क्योंकि अन्य की इच्छा से बिना भी हम इन का एकीभाव एक ही स्थान में देखते हैं। जैसा कि पृथिवी में एक गर्त्त है उस में वृष्टि का जल भर गया। फिर सूर्य्य किरणों द्वारा उस में अग्नि आया और इन सब के छिद्रों और अवकाशों में वायु भरा और उस अवकाश को तुम आकाश समझो। सो बस हम यह कहेंगे कि जब लों वायु के प्रेरित परमाणु समभाव पर एकट्ठे न हुए तबलों उनका एकी भाव न हुआ जब समभाव पर ठीक परिमाण से मिल जायें तो उन का एकीभाव

एक ही स्थान में होजाता हैं॥

यद्यपि हम यह नहीं कहि सकते कि पंचभूत से जगत किस समय हुआ है और कब मिट जायेगा परंतु यह बात प्रत्यक्षहै कि ये सब प्र पंच पंचतत्वसे हुआ है। पहिले ये पंचभूत आपस के तारतम्य से अने क भांति के अंकुरित हुए और वृक्ष, पात, फूल, फल, बीज रूप हुए फिर मनुष्य,पशु,पक्षी,कीट रूप सूक्ष्म देहाकार बने। वे देहें नर नारी भेद से दो भाँति के जो पहिले अत्यंत सूक्ष्म थे प्रथम जल मृत्तिका औ र घास पात फल फूलादिको चाट के निर्वाह करतेरहे जब कुछ उनके देह बढ़े तो बुद्धि विचारादिके बलसे अन्य औषधियोंका खानपान क रने लगगये कि जिससे उनमें वीर्य और वीर्य से उत्साह और उत्साह से इच्छा और इच्छा से प्रयत्न और प्रयत्न से स्त्री संगादि व्यवहारमें प्र वृत्त हुए कि जिस से यह सारा संसार भर गया। आदि काल में जो मनुष्य पंचभूत से बना था उस का नाम स्वयम्भू है अर्थात् अपनेआप उत्पन्न हुवा २ इस के विषय में मनु० अ० १ श्लो० ५-६ में लिखाहै—

आसीदिदं तमो भूतम ऽप्रज्ञात मलक्षणं।
अप्रतर्क्य मऽविज्ञेयं प्रसुप्त मिव सर्व सः॥
ततः स्वयंभूर्भगवान व्यक्तो व्यंजयन् प्रजाः।
महा भूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

अर्थ-यह जगत आदि में कुछ नहीं था केवल अज्ञात अलक्षण अंध कार रूप था वह अँधेरा तर्क रहित और अविज्ञेय और चारों ओर से प्रसुप्तके समान था। उस अँधेरे से वह स्वयंभू भगवान प्रजा को भिन्न२ करता हुआ तमको दूर करके प्रकट हुआ जिस का बल महा भूतोंसे घेरा हुआ है॥

प्र०-स्वयंभू की उत्पत्ति आदि काल में कहां हुई थी?

उ०-यद्यपि हम यह तो कहि सकते हैं कि जहां नाना विधि वन- स्पति होती थी और जहां का जल पवन अनुकूल और देश न अति शीतल और न अति उष्ण न ऊंचा न नीचा था वहां मनुष्य, पशु,

पची, कीट, पतंग की उत्पत्ति प्रथम हुईथी परंतु यह नहीं कहि सकते कि वह कौन सा देश है। ये जितने मनुष्य आज दिखाई देते हैं एक मनुष्यसे हुएहैं जिसका नाम स्वयंभूहै। पहिले कुछ काल सब मनुष्य पशुओंके समान आकृति और प्रकृति रखते थे जिस स्त्री को पाते भोगते अपनी पराई का विचार न था और न कोई वर्ण आश्रम जाति पाति का भेद था ज्यों २ बुद्धि, विवेक, विद्या बढ़ती गई बड़ाई छोटाई, स्वत्व, परत्व, लज्जा, भय मन में भरतागया। फिर खान, पान, पहिरान, स्थान, यानादि पदार्थ सुधारने और अपनी देह आदिक को सजानेलगे। फिर बैर प्रेमादि और व्यापारफैले कि जिनके लिये राजा और राज नीति तथा कई प्रकार के प्रबंध और निबंध रचेगये। प्रकट में तो राज भय से उपद्रव और उत्पात रुक गये परंतु जब गुप्तदेशमें लोग यथेच्छाचार के प्रताप से एक दूसरे को सताने लगे तो ईश्वर का भय उन के सिर पर बुद्धिमानोंने छोड़ा कि जिसका विशेषण सर्वव्यापी सर्वज्ञ और सर्व द्रष्टा लोगों के कान में डाला। फिर नाना विधि के वेद शास्त्र लिखे गये कि जिन में करणीय और अकरणीय व्यवहारों की मर्य्यादा बांधी ॥

प्र०-यह कैसे माना जावे कि पहिले एक २ ही नर नारी मनुष्य और पशु पची आदि देहों का जोड़ा किसी मुख्य देश में हुआ था हम कहिते हैं सर्व देशों में अनेक २ जोड़े एक २ जाति के प्रकट हुए कि जिन से यह सारा ब्रह्मांड भर गया ?

उ०-यद्यपि इस समय जगतमें अनेक मनुष्य दिखाई देते और पिता सब के भिन्न२ प्रतीत होते हैं परंतु यदि पीछे को हट के देखाजावे तो सब एक पिता से प्रकट हुए निश्चित होते हैं फिर यह कैसे मान लिया जावे कि आदि में अनेक पिता थे कि जिन की प्रनालियां अनेक चली आती हैं। जैसे कि देखो यह दृष्टांत इस बात को सिद्ध करता है। "दृष्टांत"-किसी ने लव और कुश नाम दो मनुष्यको देखा तो यह नहीं कहेगा कि ये दोनों दो पिता से उत्पन्न हुए हैं क्योंकि वे दोनों श्री राम नाम एक पिता से हुए हैं। फिर श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चाहे ये चारो मूर्त्तियां भिन्न २ हैं और तुम इन चारों के बीजअर्थात् पिता भिन्न२ चार मानोंगे परंतु वे चारो दशरथ में जाके

एक बीजकी उत्पत्ति दिखाई देते हैं। इसी प्रकार अनुरुद्ध, सांव आदिक से लेके श्री कृष्ण की संतान गिनने लगें तो अनंत यादव होजाते हैं। सो बस जैसे यह राघवों और यादवों तथा कौरवों और पांडवोंके वंश एक रघु और यदु तथा कुरु, और पंडु से हुए वैसे पीछे को चलते चलते ये रघु, यदु, कुरु, पंडु ये चारों मनुष्य भी किसी स्थान में जाके एक की संतान निकलेंगे। फिर जिन को तुम अब ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, नीच, ऊँच गिनते हो वे सब एक स्वयंभू की संतान हैं। आदि बीज सभ का एक और सब सके भाई हैं परंतु ज्यों २ बहुत होते गये त्यों २ दूर दूर और भिन्न २ होते गये। आदि काल में रूप आकृति भाषा भी सबकी एक थी परंतु बहुत फैल जाने से जो देशांतर में रहिना पड़ा वहां के जल, पवन, अन्नादि के सेवन से रूप आकृति में भेद आ गया और भाषा भी पलट गई॥

प्र०-जिस को आप स्वयंभू कहिते हैं यदि उसको भी हम उस के पिता से हुआ मान के अनवस्थाको सिद्ध करें तो क्या दोष आताहै?

उ०-यह दोष आता है कि अनवस्था किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होती। जैसा कि देखो हम प्रश्न करते हैं कि स्वयंभू का पिता, पितामह, प्रपितामह आदिक वृद्धजन सब एक से एक होते चले आये वा इसी प्रकार का संसार उन के साथ था जैसा अबहै। यदि कहो एकसे एक ही होता आयाथा तो स्वयंभू के आगे एकसे अनेक होनेकी चाल क्रम विरुद्ध क्यों चल पड़ी जैसा कि आज देवदत्त के चार पुत्र और उन चारों के कोई दो पुत्र रखता और किसी के तीन तथा एक है और किसी के एक भी नहीं। क्या आपने कभी देखा है कि जिस बिल्व के सनातन से तीन पत्र चले आतेहैं कभी उस को एक दो या पांचसात लगे हों। यदि स्वयंभू के पूर्व भी आज के समानही संसारथा तो रघु यदुके दृष्टांतकी नाईं उस संसार का बीज फिर एकही सिद्ध होवेगा। इस युक्ति से संसार की अनेकता नहीं बनेगी। जब अनेकता न बनी तो एक बीज पर जगत की स्थिति हो गई फिर आप अनवस्था को कैसे मानते हो जिस का अर्थ अन-अवस्था अर्थात् कहीं स्थिति न होना है॥

प्र०-अच्छा स्थितिही सही परंतु हम ऐसा स्वयंभू नहीं मानते जैसा

आप पंचभूत से अपने आप हो गया मानते हो किंतु हम यह मान ते हैं कि जगत के आरंभ में संसार और पंचभूत कुछ नहीं था केवल एक अद्वितीय सर्व शक्तिमान परमेश्वर था उस ने जब जगत रचने की इच्छा की तो उस की इच्छा पुरुषाकार हो गई वह पुरुष स्वयंभू है जैसे ईश्वर सर्व शक्तिमान और निराकार है वैसा ही वह पुरुष निराकार हुआ उस से आकाश होगया आकाशसे वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी। फिर उस स्वयंभू ने इस पंचभूत से मनुष्य, पशु आदि देहों को रचा। इन सबकी उत्तरोत्तर उत्पत्ति मानने में यहि युक्ति है कि कार्य्य में कारण के गुण विद्यमान होतेहैं जैसाकि कारण रूप ईश्वर निराकार और सर्व शक्तिमान था तो उस कार्य्य रूप स्वयंभू में भी वैसे ही गुण प्रकट हुए। फिर उस का कार्य आकाश को इस हेतु से माना कि निराकारता तो उस में स्वयंभू की है और शब्द गुण अपना है। फिर वायु में निराकारता और शब्द तो आकाश का और स्पर्श गुण अपना है। अग्नि में शब्द स्पर्श तो नभ, वायु का और रूप अपना। जल में शब्द, स्पर्श, रूप तो नभ, वायु, तेज का और रस अपना है। फिर पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तो नभ, वायु, तेज, जल का और गंध गुण अपना है?

उ०-परमेश्वर ने क्यों इच्छा की यदि जगत को न रचता तो उस की क्या हानि थी उस ने पहिले जगत रचने की इच्छा क्यों न की इत्यादि शंका तो हम पीछे भी कई वार लिख चुके हैं। परंतु अब हम यह कहते हैं कि स्वयंभू तो सर्व शक्तिमान और ज्ञान युक्त था उसके कार्य्यरूप आकाश में ये गुण क्यों न आये। फिर वायु में शब्द तो आकाश से आया चंचलता कहां से आगई जो आकाश में नहीं थी। फिर अग्नि में शब्द स्पर्श तो नभ वायु का आया उनके पूर्ववर्त्ती स्वयंभू का ज्ञान और शक्ति क्यों न आई। इसी प्रकार जल और पृथिवी में भी हम पूर्व कारणों से व्यत्तिक्रम देखतेहैं। इन हेतुओंसे सिद्धहै कि पंचभूत किसीसे उत्पन्न नहींहुए किंतुअनादीसिद्ध ज्योंके त्यों पड़ेहैं और जोर गुण स्वभाव जिस भूतमें है वह उसीकाहै किसी दूसरेका नहीं॥

प्र०-जैसे पंचभूत अनादि और स्वतंत्र पदार्थ हैं वैसे देह को भी अनादि और स्वतंत्र पदार्थ ही मान लो इस को पंचभूत रूप मानने

में क्या हेतु है क्योंकि इस को हम पृथिवी जल तेज वायु से बनता कभी नहीं देखते किंतु माता पिताके वीर्य रुधिरसे बनता देखतेहैं?

उ०-यदि देह को पंचभूतसे स्वतंत्र पदार्थ मानते हो तो हमारे जल, पवन, अग्नि, आकाश, पृथिवी को न्यारा करके दिखाओ पीछे देह पदार्थ क्या रहिता है जिसको तुम स्वतंत्र पदार्थ मानते हो। जैसा कि देखो पोलाट देह में आकाश का और प्राण और चंचलता वायु की भूख प्यास अग्नि की वीर्य रुधिर पसीना जल का और हाड़ मास पृथिवी का है। फिर पंचभूत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांचगुण के ग्राहक कान, त्वचा, दृग, रसना, घ्राण ये पंच ज्ञानेंद्रिय पंचतत्व का रूप देह में वसते हैं। फिर जैसे कारण रूप पंचतत्वकी शब्द, स्पर्श, रूप रस, गंध, क्रिया ये छे गुण देह में रहिते हैं वैसे कार्य रूप पंचतत्व की इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छे गुण देह में रहितेहैं। फिर इस पंचभूत के संघात देहको तुम पंचभूत से स्वतंत्र पदार्थ कैसे मानतेहो॥

प्र०-वीर्य्य को आप पंचभूत का रूप कैसे मानते हो?

उ०-सब बनस्पतियों और औषधियों को पीछे हम पंचभूत रूप कहि चुके हैं। सो अन्न भी एक औषधि है जिस के खाने से रस, रुधिर, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा बन के इस छे धातु की परिपाक दशा में सप्तमधातु वीर्य्य बनताहै। यद्यपि द्रवत्व धर्मको देख के वीर्यको जलका अंश माना गया है परंतु सूक्ष्म विचार से देखो तो वह पंचों तत्व का अंश है॥

प्र०-पंचतत्वमें शब्दादि छे गुण तो दिखाई देते हैं परंतु हम यह कैसे मान लें कि इच्छा द्वेषादि छे गुण भी इन जड़ पंच भूत के ही हैं। ये छे हो गुण तो किसी चेतन पदार्थ के हैं जिस को आत्मा कहिते हैं?

उ०-पंचभूत जड़ नहीं किंतु चेतन हैं परंतु इस में इतना भेद है कि चाहे इच्छा द्वेषादि छे गुण गुप्त रूप से तो कारण रूप पंच तत्व में भी रहिते हैं परंतु प्रतीति उन की कार्य्य रूप में जा के होती है जब वह शरीर रूप बनते हैं। जैसा कि जो गंध पुष्प में है वह गुप्त रूप से विद्यमान तो बीज में भी है परंतु प्रतीति उस की पुष्प दशामें जाके होती है। यदि बीज में न होती तो पुष्पमें कहांसे आ जाती। हम देख

ते हैं कि गोधूम में जंतु और काष्ट में से कीट निकलते हैं यदि कारण रूप गोधूम और काष्ट में चेतनता न होती तो कार्यरूप कीटों में कहां से आ जाती ॥

प्र०-जो चेतनता आप पंचभूत में पूरण मानते हो उस को स्वतंत्र द्रव्य क्यों नहीं मानते क्या कारण कि आप उस को पंचभूत का गुण समझ रहे हो ?

उ०-इस को स्वतंत्र द्रव्य इस हेतु से नहीं मानते कि वह पंचभूत से भिन्न कहीं देखा नहीं जाता। जैसे जलसे भिन्न अग्नि, भिन्न पदार्थ है तो जल से न्यारा किसी अन्य देश में दिखाई भी देता है वैसे यदि चेतन पदार्थ कोई भिन्न वस्तु हो तो पंचभूत से अन्य देशमें कहीं अव श्य दिखाई देना चाहिये। इस हेतु से हम चेतनता को पंचभूत का गु ण मानते हैं। द्रव्य वह होता है कि जिसमें गुण कर्म सामान्य विशे- ष समवाय अभाव इन पंच पदार्थ में से कोई न कोई पदार्थ अवश्य र- हिता हो सो चेतनता अर्थात् ज्ञान और क्रिया जो हृदय खंडका गुण है इस हेतु से उस में कोई गुण और सामान्यादि नहीं रहिते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, क्रिया, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,सुख,दुःख, ज्ञान, संख्या, परिमाण, पृथक्त, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरत्व, द्रवत्व, स्नेह, ये वाईस गुण हैं जो पंचभूत और उस के कार्य्य देहमें रहिते हैं। जा- ति का नाम सामान्य है जो एक द्रव्यको दूसरे से न्यारा करती है। विशेष अनंत हैं जो सजातीय भेद को दिखाते हैं और द्रव्यों में र- हिते हैं। समवाय नित्य संबंध का नामहै जैसा कि द्रव्य और गुणका है। अभाव न होने का नाम है जो सव द्रव्यों में रहिता है। इन पदा र्थों का आधार जो पंचभूत से भिन्न कोई और पदार्थ समझ में नहीं आता इस कारण हम उस का सद्भाव नहीं मानते ॥

प्र०-देश और काल को आप क्या मानते हैं जिन में गुणादि में से कोई नहीं रहिता ?

उ०-संख्या गुण को इन दोनों में विद्यमान होने से हम इन को भी द्रव्य ही मानते हैं परंतु ये दोनों देह का उपादान कारण नहीं॥ उ- पादान कारण वह होता है जो आप ही कार्य्य का रूप वन जावे। जै सा कि पंच भूत देह रूप बने और देह का एक खंड होने से हृदय का

उपादान भी ये पंचभूत ही हैं, उस द्रव्य का नाम हमारे जीव और ज्ञान क्रिया उसके गुण हैं कि जिन का नाम तुम चेतनता रखते हो॥ ज्ञान नाम प्रकाश का है कि जिस के साथ जीवात्मा अपने को और अन्य पदार्थों को अनुभूत करता है। इस ज्ञान का नाम ही सत्व गुण है। कर्म नाम हिलने चलने का है ये कर्म जिसको क्रिया भी कहिते हैं दो प्रकार की है—एक सुख और सुख साधनों की ओर झुकना जिस का नाम इच्छा और रजोगुण है। दूसरी दुःख और दुःख साधनों से पीछे हटना जिस को द्वेष और तमोगुण कहिते हैं॥

प्र०-संकल्पको आप तेईसवां गुण क्यों नहीं मानते जो इन बाईस गुण से भिन्न पदार्थ है?

उ०-वह स्मृति ज्ञान वा अनुभव ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं किंतु ज्ञानका ही रूपहै इस हेतु से उस को भिन्न गुण नहीं माना जाता॥

प्र०-मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक देहें आदि काल में पंचभूतकी बनी थीं तो आज किसी स्थान में उन से मनुष्य देह बनती दिखाई क्यों नहीं देती?

उ०-आदि काल में पंचभूत कारणरूप थे कि जब उनमें से देह उत्पन्न होगये अब जो वे वृक्ष, पोषाण, मनुष्य, पशु, पक्षीरूप कार्य बनगये और जीवों के मल मूत्र तथा देहादि की तप्त से कुछ अन्य स्वभाव हो गया है इस हेतु से अब वे नवीन देह नहीं बन सकते। जब सारा संघात लुप्त होके फिर यह पंचभूत का गोला स्वच्छ और शुद्ध हो जावेगा तो फिर उन से पूर्ववत सृष्टि हो जावेगी॥

प्र०—मोहन भोग से जब कीट उत्पन्न होतेहैं तो एक ही भांति के होते हैं कभी शुक, शारिका प्रभृति को उससे बनते नहीं देखा इसका क्या कारण है कि पंचभूत रूप कारण तो एक परंतु उस से कार्य्य अनेक उत्पन्न होगये जो अत्यंत असंभव व्यवहार है?

उ०-यहां दो हेतु हैं एक तो यह कि मोहन भोग आदिक जगत के संपूर्ण पदार्थ कार्य रूप हैं कि जिन का स्वभाव अन्य है। और पृथिवी आदिक पंचभूत संपूर्ण जगत का कारण रूप हैं कि जिनका स्वभाव अन्य है सो जब उन के स्वभाव में विलक्षणता है तो उन की सृष्टि में भी अवश्य विलक्षणता होनी चाहिये। अर्थात् कार्य्य दशा में

जब सृष्टि हो तो एक ही भांति की हो, और कारण से हो तो अनेक भांति की हो। दूसरा यह हेतु है कि सृष्टि के समय जो पंचभूत का परस्पर संयोग हुआ है वह एक ही भांति का नहीं हुआ जो सृष्टि को भी एक ही भांति का उत्पन्न करता किंतु भूतों की तारतम्यता से संयोग हुआ है कि जिस ने अनेक प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न किया क्योंकि उस में अनेक ही प्रकार की सृष्टि रहिती है। तात्पर्य्य यह कि हम सदा से यही बात परीक्षा करते आये हैं कि कार्य्यरूप संसार से जब कोई जीव उत्पन्न होता है तो एक ही भांति का होता है और कारण रूप पंचभूत से अनेक भांति के कार्य्य और व्यक्तियां प्रकट होती हैं। बनना और मिटना इन का स्वतः सिद्ध अनादि स्वभाव है इसमें कोई नियामक नहीं। एक बात यह भी स्मृत रखो कि यह बात तो चाहे बुद्धि में आती है कि यह जगत प्रपंच पंचतत्व से हुआ और कभी मिट के फिर अपने कारण में लीन होजावेगा परंतु यह बात बुद्धि से बाहर है कि कब हुआ और कब लीन होजावेगा। हां यह भी बुद्धि में आता है कि कई बार प्रलय हुई परंतु यह प्रलय एक देशी है सर्वदेशी प्रलय नहीं अर्थात् किसी एक देश में कभी जल का स्थल और स्थल का जल और कभी जन का बन और बन का जन अवश्य होजाता है॥ जैसे ये पंचभूत स्वरूप से अनादि हैं वैसे अंडज, जरायुज, स्वभावज, उद्भिज ये चार प्रकार की व्यक्तियां जो इन पंचभूत का दूसरा स्वरूप ही हैं प्रवाह से अनादि हैं। स्वरूप से अनादि वह होता है कि जो सनातन से ज्यों का त्यों स्थित हो। और प्रवाह से अनादि वह होता है कि जिस का बनना मिटना अनादि हो॥

अंडज व्यक्तियां वे हैं कि जो अंड से प्रकट होती हैं जैसा कि पक्षी आदिक। जरायुज व्यक्तियां वे हैं कि जिनकी उत्पत्ति जरायु द्वारा होती है जैसा कि मनुष्य और पशु हैं। ये अंडज और जरायुज व्यक्तियां तीन प्रकार की होती हैं॥ १ नर, २ नारी, ३ नपुंसक॥ स्वभावज व्यक्तियां वे हैं कि जिन की उत्पत्ति पदार्थों के स्वभाव से होती है। जैसा कि जूक, कृमि, ढोर, सुरसुरी आदिक जंतु हैं॥ उद्भिज व्यक्तियां वे हैं कि जिन की उत्पत्ति बीज से होती है जैसा कि वृक्षादि हैं॥ अब आप को सोचना चाहिये कि यह चराचर जगत् तो कोई स्वरूप से कोई

प्रवाहसे स्वतः सिद्ध सनातन स्थितहैं इसमें ईश्वरका कर्तृत्व क्याहै ॥

प्र०-यदि सारे संसार को पंचभूत से हुआ न मानों किंतु अनादि काल से जैसे का तैसा बना बनाया मानें तो क्या दोष है ?

उ०-बड़ा भारी दोष यह है कि हम सारे संसार को सादि देखते हैं। जैसा कि सारे मनुष्य और पशु पक्षी कोई आदि रखते हैं और मनुष्यादि के रचे हुए कोष्ठ, कूप, तड़ागादि का भी आरंभ दिखाई देता है फिर इस संसार को स्वरूपसे अनादि कैसे मान लिया जावे॥

प्र०-इस का क्या कारण कि स्त्री पुरुष के संयोग होने पर भी कहीं २ संतान नहीं होती। और कोई देह जन्म से ही अंग भंग तथा अंगवृद्ध होता है ?

उ०-माता पिता के खाना पान तथा आचार व्यवहार द्वारा जो उन के देह में कोई विकार होगया वह संतान की उत्पत्ति को रोक देता है। और यही कारण अंग भंग तथा अंगवृद्ध और हीजड़ा होजा ने का दिखाई देता है। यदि इस से भिन्न कोई अन्य कारण है तो युक्ति से सिद्ध करो ॥

प्र०-क्या यह प्रपंच सदा ऐसा ही रहिता है वा कबी मिट भी जाता है ?

उ०-हम पीछे कहि चुकेहैं कि जैसे इसकी उत्पत्ति समझमें आती है वैसे यह भी समझ में आता है कि कबी इस का प्रलय भी हो जावे गा परंतु हम यह नहीं कहि सकते कि कब हो जावेगा, दूसरी बात हम यह कहिते हैं कि थोड़े से देश में तो कई वार ऐसा हुआ कि जहां आज वन है वहां कल को जल हो गया, अथवा आज जल है थो ड़े काल पीछे स्थल हो गया परंतु ऐसा मिटना हम कबी नहीं मान ते कि पंचभूत सहित सारा प्रपंच कबी लुप्त हो जाता है॥

प्र०-जब थोड़े से देश में आपने जल का वन और वन का जल मा ना तो अब मुझे यह आशंका होतीहै कि जितने देशमें जल,वन,स्थल मिट के जल रहि जाताहै वहां फिर जल बनने के समय क्या वह जल ही पहिले स्थल और फिर बीज, वृक्ष, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतं गादि संसार बन जाता है वा यह सब पदार्थ कहीं बाहरसे वहां आ जाते हैं ?

उ०—मुख्य तो यही है कि वृक्षों के बीज उस जल में जो पहिले ही गिरे पड़े थे जब जल सूख के पृथिवी निकल आई तो वे वहां वृक्षरूप होगये और मनुष्यादि देहें वहां बाहर से आ बसीं परंतु अनेक प्रकार की स्वभावज सृष्टि वहां स्वभाव से भी उत्पन्न होजाती है जैसा कि कोई मनुष्य पशु पक्षी देहों के स्वभाव से और कोई वृक्ष फूलफल पत्रादि के स्वभाव से हो गई क्योंकि अनेक जीवों की उत्पत्ति पदार्थों के रासायनिक संयोग और स्वभाव से होती हम नित्य देखते हैं। जैसा कि गोमय और गोधूम चूर्ण को एकट्ठा करो तो उस के वृश्चिक बनके चलने लगते हैं। गोधूम मात्र को उष्ण स्थान में रखने से सुसुंरी जंतु बन जाते हैं। नीम के वृक्ष के भीतर हरित वर्ण का कीट बन जाता और मनुष्य के उदर से केंचुए और क्षत वृणादि में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। बनात तथा ऊर्ण में वर्षा काल के योग से श्वेत जंतु बन जाते। कीकरी, प्रभृति, काष्ट के भीतर उस के परमाणु संयोग से घुणादि कीट उत्पन्न होते और बद्री फल तथा बादाम के अंतरीय पट में हम नित्य कीटों की उत्पत्ति देखते हैं। फिर देखो मनुष्य वा पशु के देह में जब जीवोत्पादक द्रव्य उत्पन्न होता है तो दंत, तालु, प्रभृति गुप्त स्थानों में कीट बन के चलने लगते हैं। फिर हमने कईवार देखा कि जब जीवोत्पादक स्वभाव उत्पन्न नहीं हुआ तो कोई अंग विशेष बन के ही रुक गया। जैसा कि अनेक गाय और बैलों की पीठ पर एक टांग और लटकने लगती और किसी के स्कन्ध पर जीभ और मुख पर छोटी सी पूंछ लटका करती है। एक बैल को मैं ने देखा कि जिस के नितंब पर दो कान लटकते और एक गौ के माथे पर खुर निकला हुआ था। इत्यादि कार्य्यों को देख के स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वभावज सृष्टि पदार्थों के रासायनिक संयोग और स्वभाव से ही प्रकट हो जाती है कोई अन्य सृजनहार नहीं है। जिस प्रकार के रासायनिक संयोग से जिस भांति के जीव बनते हैं उन को सदा वैसेही और उसी द्रव्य से उत्पन्न होते देख के यह निश्चय होता है कि इन जीवों की जाति नवीन उत्पन्न नहीं हुई किंतु उस द्रव्य के रासायनिक संयोग में वह सनातनसे स्थित है। यदि सनातन से स्थित न होती तो गोधूमसे सुसुंरी की संती अश्व वा मक्षिका और मनुष्यके वृश

से शुक शारिका वा कपोत बन जाया करते। अथवा कोई ऐसी न- वीन जाति नित्य२ प्रकट होजाया करती जो इस चौरासी लाख योनि की गिनती में न आई हो जो अब मनुष्य, पशु, कीट, पतंग तथा वृक्ष पाषाण आदि रूप में विद्यमान है ॥

कीट दो भांति के होते हैं एक वे जो नर नारी के संयोग से वीर्य द्वारा होते हैं जैसा कि सर्पादि हैं। दूसरे वे कि जो पदार्थों के स्वभाव से होतेहैं जैसा कि बिच्छू, जूक, सुर्सुरी और पंखवाले पतंग हैं ॥

प्र०-इस का क्या कारण है कि जो जंतु पदार्थों के स्वभाव से उत्प- न्न होते हैं उनके वीर्यसे सृष्टि कभी नहीं होती और मनुष्य, पशु, पक्षी के वीर्य से सृष्टि होती है ?

उ०-जो जीव कारण से उत्पन्न हुए उन का और स्वभाव होता है और जो कार्य्य से हुए उनका और स्वभाव होताहै जैसा कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट तो पंचभूत से उत्पन्न हुए हैं जो कारणरूप हैं सो इन से तो वीर्य द्वारा सृष्टि उत्पन्न होने का स्वभाव है और सुर्सुरी आदिक जीव पंचभूत के कार्यों से उत्पन्न होते हैं इस हेतु से उनके वीर्य द्वारा सृष्टि होने का स्वभाव उन में नहीं है। प्रयोजन इस का यह है कि पं- चभूत संपूर्ण पदार्थों के कारण हैं और सारा संसार उन का कार्य है सो कारण की उत्पत्ति का स्वभाव भिन्न है और कार्य की उत्पत्तिका भिन्न है ॥

प्र०-इस में हम कहेंगे वह स्वभाव ईश्वर ने ही पदार्थों में स्थापि- त किया है ?

उ०-हम इस का उत्तर यह देंगे कि क्यों स्थापित किया। यदि कहो वह अपनी खेल पसारता है सो कई प्रकार की विचित्र रचना फैला दी तो हम दो प्रश्न करते हैं-एक यह कि जो जन खेल पसार- ता है उसके मन में कोई मनोरथ अवश्य होताहै जैसा कि मन बहि- लाने तथा जय विजय का। सो बताओ ईश्वर ने जो अपना मन बहि- लानेको खेल पसारी तो क्या इस खेलसे पहिले कुछ उदास बैठाथा। दूसरा यह कि यदि कोई बालक ऐसी खेल खेले कि किसी कीड़े की टांग तोड़ दे और किसी का हाथ पांउ मड़ोड़ और आंखको फोड़दे तो आप उस को श्रेष्ट, बुद्धिमान और दयालु कहोगे। क्या कारण है

कि ईश्वर किसी को अंग भंग और अंग बृद्ध बनावे कि जिस से उस जीवको चलना फिरना आदिक व्यवहार कठिन होते और सारा आयु कष्ट से समाप्त करता है और फिर भी तुम उसको न्यायशील सर्वज्ञ, दयालु दीनार्त्ति हर नामों से पुकारते रहो ॥

प्र०–हम यह नहीं जानते कि उसने यह विचित्र रचना क्यों की कि जिस में कोई पशु कोई मनुष्य कोई दुःखी कोई सुखी दिखाई देता है परंतु यह अवश्य जानते हैं कि यह रचना उसी से हुई है ?

उ०–फिर तुमने यह कैसे जान लिया कि यह रचना उसी के करने से हुई है। हम सत्य कहिते हैं कि यदि जगत का कोई कर्त्ता मानोंगे तो उस पर अनंत आक्षेप उठेंगे यथार्थ बात यही है कि जगत के कई पदार्थ स्वरूप से अनादि और कई प्रवाह से अनादि हैं कोई इनका कर्त्ता नहीं ॥

प्र०–यह तो आपने ईश्वर का कर्तृत्व उड़ाही दिया परंतु इसबात का उत्तर आप क्या देते हो कि द्रव्योंके रासायनिक संयोगसे स्वभावज सृष्टि तो चाहे स्वतः ही होगई परंतु इस बात का नियामक कौन है कि जो अंग जहां चाहियेथा वह वहां ही लगा है। यह बात हम मनुष्यों और पशुओं में भी देखते हैं जिन की व्यक्तियां आप प्रवाहसे अनादि मानते हैं। अनादि तो मानों परंतु मनुष्य पशु पक्षी रूप देहोंके छोटे बड़े अंग उपांग जो सब सार्थ और सापेक्ष दिखाई देते हैं इन को नियमानुसार स्थापन करने वाला कौनहै। जैसा कि नेत्रों को मुख की ओर मस्तकपर लगाया कि जिससे प्राणी सामनेका मार्ग देख सके क्योंकि उसके पाँउँ आगेको सामने हैं। हाथकी अँगुलियों में तीन २ जोड़ लगाने का यह अर्थ और अपेक्षा हमारी समझमें आती है कि मनुष्य को वस्तुओं के पकड़ने छोड़ने का काम पड़ता है सीधी अँगुलीयां अथवा पशुकी नाईं शफ लगाऊंगा तो निर्वाह कठिन होगा। फिर हस्ती को हाथसे उठाना पकड़ना कठिन देखके हाथ के समान उसे नाशि अर्थात् सूंड दिया। पक्षियों को हाथके स्थानापन्न चोंच दी। जीवोंके जो पूर्वोक्त अंगोपांग की आवश्यकता थी उनको तो दिये, वृक्षों को आवश्यकता नहीं थी उन्हे कोई अंग उपांग न दिया। इत्यादि कारणों से जाना जाता है कि यह सार्थ सापेक्ष

रचना विना किसी के किये नहीं हुई किंतु सृष्टि के पूर्व कोई कर्त्ता अवश्य है और वह ज्ञानवान् क्रियावान् और शक्तिवान् भी अवश्य होना चाहिये। यह बात भी इसी अनुमान से सिद्ध होती है कि वह कर्त्ता किसी प्रकार का देह नहीं रखता किंतु निरवयव सत्ता मात्र और अज, अमर है क्योंकि देह के रखने से उसका कोई जनक मानना पड़ेगा फिर जनक का जनक ढूंढते २ दूर तक जाना पड़ेगा?

उ०–सार्थ सापेक्ष रचना देखकेजो आप को भ्रांति हुई कारण इस का विचार की न्यूनता है जब सम्यक् बुद्धि से विचारोगे तो भ्रांति मिट जावेगी जैसा कि सुनों स्वभावज व्यक्तियां जिस २ द्रव्य से उत्पन्न होती हैं उन द्रव्यों का स्वभाव ही वह है कि उन से वेही व्यक्तियां उत्पन्न हुआ करें और उन व्यक्तियों के जो २ गुण, रूप, आकृति, पक्ष, पुच्छ, चंचु, नयन, मुख, नासिकादि अंगोंपांग हैं सब उन में अवश्य हुआ करें और उनसे विलक्षण कभी नहीं फिर इसमें ईश्वर का कर्तृत्व क्या है। यदि कहो यह सब कुछ ईश्वर कृत ही है तो अपने ईश्वर को कहो बीज और स्वभावके विलक्षण करके कुछ दिखावे। अर्थात् जिस जंतु के पंख लगा करते हैं उस के सींग लगादे और जिसके जहां पुच्छ होती है उसके वहां सूंड लटका दे इत्यादि। यदि कहो जो स्वभाव जिस द्रव्य में उस ने पूर्व रचा उस को वह किसी के कहिने से वा अपनी इच्छासे पलटना नहीं चाहता क्योंकि पलटा वह करताहै जो पहिले किसी काम को भूलके कर बैठाहो। जब ईश्वरने पहिले ही सूंड के स्थानमें सूंड और पूंछके स्थानमें पूंछ को सोच समझ के लगाया है तो अब उससे विरुद्ध और विलक्षण काम क्योंकरे तो सुनों-हम तो स्वभावज रचना को युक्तिसे दिखाते और प्रत्यक्ष देखतेहैं परंतु तुम दिखाओ वा युक्तिसे सिद्ध करो कि ईश्वर कहां और कैसे और कब तथा क्यों स्वभावों को पदार्थों में स्थित करता है॥

प्र०-अपनी महिमा और प्रताप जगतमें प्रकट करनेको ईश्वर ने द्रव्योंमें भिन्न२ स्वभाव स्थापित किये हों तो क्या शंका आती है?

उ०-यदि वह अपनी महिमा प्रकट न करता तो उसका क्या विगड़ जाता। यदि कहो लोग उस को ईश्वर न जानते और उस की भक्तिमें प्रवृत्त न होते और फिर लोगोंका नाश होजाता तो यह एक

हँसीकी बात है वह अपनेको ईश्वर कहिलानेकी इच्छा रखता और फिर अपनी भक्ति करानेका भूखा है। और जो उस की भक्ति न करे उस का वह नाश कर देता है धन्य ईश्वर और धन्य उस का ऐश्वर्य्य ॥

मनुष्यके हाथ में तीन२ जोड़की अँगुलीयां और नेत्रोंको माथेपर देखके जो तुमने उनको सार्थ सापेक्ष माना और जीवोंको अंगोपांग का देना और निराकांक्ष वृक्षोंको न देना देखके आप ईश्वरको स्थापक और नियामक मानतेहो यह भी जीवोंके बीजका सनातन धर्म है कि यदि बीचमें कोई अन्य विक्षेप न पड़जावे तो उनसे वही कुछ बनाकरे जो सदासे उनमें देखतेहो। यदि अँगुलीयोंके जोड़ केवल पदार्थोंके छोड़ने पकड़नेके निमित्त ही लगाये होते तो कवी प्राणी किसीके चपेट न मारसकता और न कवी अपनी अँगुलीसे अपनी आंख को फोड़ सकता क्योंकि ये व्यवहार ईश्वर ने अँगुलीयोंसे लेने नहीं ठहिरायेथे। यदि कहो कोई अंग ऐसे हैं जिनसे अनेक क्रिया होतीं और कोई ऐसेहैं जिनमें कर्त्ताने एकही क्रिया ठहिराई है जैसा कि पांचो ज्ञानेन्द्रियहैं और कई जिनसे अनेक क्रिया होतीहैं वे कर्मेंद्रिय हैं। जैसा कि हाथ कर्मेंद्रिय है उस से अनेक कर्म हो सकते हैं और चक्षु ज्ञानेंद्रिय है उससे रूप गृहणके बिना और कोई कर्म नहीं हो सकता। इस हेतुसे प्रकट है कि ईश्वर ने ही जान बूझ के उन्हें वैसा ठहिराया तो सुनों यदि प्रथम रचनामें ईश्वरने किसी इंद्रियको एक क्रिया साधक और किसीको अनेक क्रिया साधक बनाया तो जाना जाता है कि ईश्वर जिस को जैसा चाहे वैसा बना सकता है। फिर क्या कारण कि रूप, शब्द, स्पर्श, गंध, रस के गृहण की शक्ति भी उस ने हाथमें ही न भर दी क्योंकि चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, रसना के भिन्न २ रचने में उस को अधिक झमेला फैलाना पड़ा ॥

फिर जो आप कहितेहो कि ईश्वर शक्तिमानहै इसमें हमारा एक प्रश्नहै। अर्थात् यदि शक्तिमानहै तो मेरी बुद्धि को अनीश्वरवाद से फेरके ईश्वरवादमें क्यों नहीं ले आता। यदि कहो तुम्हारे अनीश्वरवादी होनेमें उसकी क्या हानिहै तो इससे अधिक हानि उसकी क्या होगी कि मैं सहस्रों जनको अनीश्वरवादी बनादूंगा। यदि कहो वह

हमारे कहिने से कुछ नहीं करता सब कुछ अपनी इच्छा से करता है तो जाना गया कि उस की यही इच्छा है कि मैं अनीश्वरवादी बना रहूं और कई एक अन्य जनों को भी इसी पंथ में चलाऊं। यदि कहो कि उसने तुम्हें ईश्वरवादी बननेके निमित्त बुद्धि दीथी परंतु तुमने आपउसे अनीश्वरवादमें भुकाया हुआहै तो तुम्हारे मत पर कई दोष आवेंगे। एकयह कि मैं ईश्वरसे अधिक शक्तिमान् ठहिरजाऊंगा कि जो उसकी इच्छासे विरुद्ध चलरहाहूं। दूसरायह कियदि ईश्वरकीइच्छासे विरुद्ध कुछ कार्य्य होजाताहै तो इसजगतरूपकार्य्यकी उत्पत्तिमें ईश्वरीय इच्छाको बलवती क्योंसमझतेहो। क्योंकि जैसे मैं ईश्वरीय इच्छासेविरुद्ध अपनी बुद्धिको अनीश्वरवादमें चलारहाहूं वैसे जगतभी उस की इच्छाके विरुद्धही बन रहा होगा। यदि कहो उसे मेरी बुद्धि फेर देने की शक्ति तो है परंतु फेरना नहीं चाहता तो मैं पूछताहूं क्यों फेरना नहीं चाहता क्या फेर नहीं सकता अथवा मुझे इसी लिये उत्पन्न किया है कि मैं अनीश्वरवादी बनूं। यदि फेर नहीं सकता तो उसे शक्तिमान क्यों समझतेहो। और यदि अनीश्वरवाद के लिये मुझे बनाया है और फिर इस अपराधके पलटे में कुछ दंड देवे तो मेरा अपराध क्या जैसा मुझ से कराया वैसा मैं ने किया ऐसे निरपराधी को दंड देने में उस की दया और न्याय कहां रहेगा॥

प्र०-यह तो सब ठीकहै कि सब कुछ बीज के स्वाभावानुसार बनता है परंतु सार्थ सापेक्ष रचना देख के यह संदेह मेरे मन से सांगोपांग दूर नहीं हुआ कि इस रचना का कोई कर्त्ता न हो जैसा कि देखो भूख प्यास रूप पीड़ा की परिशांति के निमित्त नव छिद्रों में से मुख नाम छिद्रको जो बाहर के पदार्थों को सुख से पेट के भीतर पहुंचाना दिया है यह काम जड़ वीर्य्य का नहीं किंतु किसी ज्ञानवानने सोच के नियत किया है?

उ०-भूख प्यास का लगाना अग्नि और वायु का धर्म है कि जो देह के भीतर वर्त्तमान हैं क्योंकि वे दोनों दाहक और शोषक हैं। मुखादि नव छिद्रों का बन जाना वीर्य्य का स्वभाव है क्योंकि वीर्य्य से वे हुआ ही करते हैं। उन छिद्रोंसे विचार पूर्वक काम का लेना भी उस वीर्य्य जन्य चेतन शक्तिका धर्म है क्योंकि जहां वह होतीहै खान,पान

के पदार्थों को अवश्य मुख में ही डाला करती है इस स्वतः सिद्ध व्यवहार को ईश्वर कृत ठहिराते हो तो इस दृष्टांतका उत्तर क्या देतेहो अर्थात् कीकरी के बीज का स्वभाव है कि उस का वृक्ष वन के तीक्ष्ण मुख के कांटे लगें। यदि उन को तीक्ष्ण देख के किसी ने किसी अन्य के देहमें गाड़के उसे दुःखी किया वा किसी ने अपना देह छेद लिया अथवा कांटेसे कांटा निकाल लिया वा पत्तों को टांक के पत्तल बना ली तो क्या आप यह कहोगे कि कीकरीके कांटे ईश्वरने इन्हीं कामों के लिये बनायेथे। नहीं २! यह समझ सच्ची नहीं किंतु यही समझना सच्चा है कि कीकरी के बीज का स्वभावही ऐसा है कि उस को तीक्ष्ण कांटें लगें और उनसे जो चाहो सो काम लो॥

प्र०-चुभोने और देह छेदनेका काम तो हम अन्य तीक्ष्ण पदार्थोंसें भी ले सकते हैं इस हेतु से जाना गया कि ईश्वर ने उसे पूर्वोक्त कार्यों के निमित्त नहीं रचा परंतु खान पान रूप क्रिया जो अन्य किसी छिद्र से सिद्ध नहीं होती इस कारण मुखकी असाधारणता सिद्ध होतीहै और उसका कोई स्थापक ठहिराना पड़ता है?

उ०-जैसा यह स्वभाव पदार्थों का अनादि और असाधारण है कि जलाने का काम अग्नि और बुझानेका काम जल उड़ाने का वायु और संघाने का पृथिवी के बिना और कोई न करे वैसे देखने का काम चक्षु और सुनने का काम श्रोत्र और खान पान का काम मुख के बिना और किसी अंग से न हो सकना भी अनादि और असाधारण है इस में ईश्वर का कर्तृत्व कुछ नहीं। यदि यहि बीज का स्वभाव नहीं ईश्वर ही इस का नियामक है तो ईश्वर इन व्यवहारों का कभी अन्यथा सिद्ध क्यों नहीं कर देता॥

पूर्वाचार्य्यों ने ईश्वर नाम एक कल्पित शब्द मंद बुद्धों के कान में इस कारणसे डाला था कि उसके भय और प्रेमसे लोग शुभाचारमें प्रवृत्त और अशुभाचार से निवृत्त होकर परस्पर सुख लियाकरें। परंतु अब इस शब्द ने संसार में बड़ा भारी अनर्थ कर छोड़ा है जैसा कि देखो कई लोग तो उसे संसार का हर्त्ता कर्त्ता मान के उस की ढूंढ़में अपना अलभ्य आयु समाप्त कर लेते हैं। और कई उस की भक्ति में लीन होके आवश्यक सुखों और भोगों को तज के अपने देह

को धूलिमें मिला देते हैं। कईयों ने माता,पिता,स्त्री,पुत्रादिको त्याग के बनबास ले लिया। और अनेक जन गृहस्थ में बैठे ही वन बास के समान हैं। कोई अन्न जल को तजके दुग्धाधारी और पवनाहारी बने बैठे और कोई झूलों पर लटकते पंचाग्नि और जल धाराका कष्ट सहारते और कई एक जन यत, व्रत, तप, हठ से मन को मारते हैं। इसमें बड़ा भारी अनर्थ यह हुआ कि एक तो संसारकी उत्पत्ति थोड़ी होगई और एक मनुष्य जन्म वृथा गया कि जो ज्ञान और विद्या के बलसे आप सुखी और अन्य जनों को सुख पहुंचा सकता था। ये जितने भेख, पंथ, जगत में प्रसिद्ध होरहे हैं सब उसी शब्द की आड़ में लोगों को लूट २ खाते हैं। क्या अच्छा होता कि यह अनर्थ उत्पादक शब्द पहिले ही से लोगों के कानमें डाला न जाता कि जिसनें जगत का सत्यानाश किया और अब मनोंमें ऐसा धस गयाहै कि जब कोई निकालना चाहे लोग उस के परम शत्रु बन जाते हैं। योग्य तो यह था कि आदि से जगत को विद्याध्ययन,ज्ञानोपार्जन,आजीविका,सिद्धि तथा परस्पर करुणा, मैत्री, मुदता, उपेक्षा, की शिक्षा होती और यह वंध्या पुत्र लोगों का रुधिर न पीता॥

प्र०-क्या ईश्वर के नाम जपने और उस की उपासना में त्याग विराग गृहण करने में कुछ फल नहीं होता?

उ०-दो घड़ी घर का काम तजने और आवश्यक भोगों से अभागी रहिने के विना और क्या फल होता है॥

प्र०-क्या नाम जपने से पाप की निवृत्ति नहीं होती?

उ०-जैसे पूर्वाचार्य्य नाम और भक्ति के प्रताप से पाप की निवृत्ति मानते थे वैसे तो हम भी मानते हैं परंतु जैसे अब लोग मान रहे हैं वैसे कभी पाप की निवृत्ति नहीं होती उलटी बुद्धि होती है। पूर्वाचार्य्योंने इस इच्छा से नाम जपना ठहिरायाथाकि जो लोग नाम जपेंगे घड़ी दो घड़ी उन का मन उधर लग के पाप कर्म का अवकाश नहीं पावेगा अथवा नाम जपनेहार को संसारी लोग भक्त कहिने लग जायेंगे फिर इस बड़ाई के प्रताप से वह पापसे लज्जा करने लग जावेगा क्योंकि जो कोई बड़ाई का लालची होता है उससे छोटाई के काम कभी नहीं होसकते। तुम सत्य जानों कि अंधकारकी निवृत्ति दीपक

का नाम जपने वा ध्यान करने से नहीं होती किंतु प्रकाश के प्रकट होने से होती है। वैसे ही ज्ञान के प्रकाश से पाप कर्म में जीवको घ्रिन होजाती और यही उस की निवृत्ति है परंतु नाम मात्र के जपने से पाप मनसे दूर नहीं होता उलटा भक्ति के अभिमान से मनमें ईर्षा, वैर अर निंदादि पाप भर जाते हैं॥

प्र०—ईश्वर के नाम जपने का महात्म्य तो हम सदा से सुनते आये हैं बड़ा आश्चर्य है कि आप इसको भी अच्छा नहीं समझते?

उ०—पहिले अपने ईश्वर का होना तो तुम युक्ति से सिद्ध कर लो फिर हम भी उस का नाम जपना अच्छा कहिने लग जायेंगे॥

प्र०—तब तो आप किसी अन्य यंत्र, मंत्र के जप का फल भी सत्य नहीं मानते होंगे जिन से मैंने कई वार मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदिक व्यवहार सिद्ध होते सुने हैं। और इतनी बात तो मैं ने अपनी आंखों से भी देखी है कि मंत्रों के प्रताप से भूत, प्रेत का आवेश दूर होगया। और सर्प, वृश्चिक का डसा हुआ पुरुष मंत्र के प्रताप से सुखी हो गया?

उ०—सुनी बातें सारी ही सत्य नहीं होतीं क्योंकि सुनने में बहुत सी बातें ऐसी भी आती हैं कि जो अनुभव और संसारी नियम से विरुद्ध हों जैसा कि पिछले समय में लोग वृक्षों, पर्वतों तथा पक्षी आदिकों का बात चीत करना सुनाया करते हैं। सच्च वही है कि जो सम्यक बुद्धि के अनुकूल हो। यदि मारणादि व्यवहार मंत्र यंत्र द्वारा सिद्ध हो जाते हों तो जीवनादि व्यवहार भी किसी मंत्र से अवश्य सिद्ध होने चाहिये। सो तुमने कभी नहीं सुना होगा कि अमुक पुरुष वा पशु प्रथम मरगयाथा परंतु फिर मंत्र द्वारा उसमें प्राण डाला गया। यदि ऐसा होता तो जगतमें कोई जीव मृत्त न होता और निज करके मंत्रवेत्ता के पिता, पितामह, प्रपितामह तो अवश्य जगत में सदा स्थिर दिखाई देते॥

जिन आंखों से तुमने भूत प्रेत का आवेश मंत्र द्वारा दूर होता देखा है मैं उन नेत्रों को धोखा खा गये कहूंगा क्योंकि प्रथम भूत प्रेत का होना ही युक्ति सिद्ध नहीं फिर उस का आवेश और मंत्र से उस की निवृत्ति कैसे मान ली जावे। भूत प्रेत यदि किसी मृत्त जीव का

नाम है तो उसको अग्नि से दग्ध कर दिया वा पृथिवी में गाड़ दिया फिर भूत प्रेत क्या वस्तु बनगया। यह बात जीवके निर्णयमें स्पष्ट सिद्ध होगी कि जीव देह में से निकलके कहीं जाता है वा नहीं। हमने कईबार देखा है कि जिस को लोग भूतावेश मानते थे अंत को रोगी का छल अथवा कोई रोग विशेष निकला॥

सर्प वृश्चिक के दष्ट पुरुषों को जो मंत्र द्वारा आपने सुखी होजाते देखा इस में भी आपने धोखा खाया क्योंकि यह बात कुछ और है लोग इस को कुछ और समझ बैठते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि सर्प की जातीयां अनेक हैं। कई तो उन में तुरंत मारदेने वाली हैं और कई कुछ दिन दुःखी करके मारती हैं जब दष्ट पुरुष का रुधिर मांस गल जावे। कईयों का विष प्रहर दो प्रहर तथा एक दिन दो दिन रहिके स्वयं उतर जाता है और कईयों का कुछ अधिक काल रहि के उतर जाता है। कई ऐसी जातियां हैं कि जिनका नाम और रूप तो सर्प का है परंतु विष उन में कुछ भी नहीं होता। ये सब जातियां उन के वर्णों और चिन्हों और चिन्हों से पहिचानी जाती हैं। अब सोचना चाहिये कि जो सर्पादि के डसने से तुरंत मरगया उसको तो कोई मंत्री के पास लाताही नहीं शेषको जब लाये तो मंत्री सर्प के चिह्न पूछता है। जब किसी ने बताया कि वह सर्प श्याम वा श्वेत तथा रक्त हरित वर्ण का था और चिन्ह चक्र ऐसे थे तो वह उसकी जाति समझ के मोरछड़ हाथ में पकड़ बैठता और ओंठ हिलाने लगता है॥ विष तो अपने नियत समय पर आपही उतर जाता है लोग कहिते हैं उस के मंत्रने उतारा। यदि किसी अज्ञात जाति का झाड़ा वह करता है तो वहां दो फल होते हैं,—एक यह कि झाड़ा करते २ मर गया तो दष्ट पुरुष का भाग्य मंद कहि दिया। जी गया तो उसके मंत्र की शक्ति लोगोंने मान ली। हम तो यह जानते हैं कि यदि किसी मंत्र, यंत्र से सर्पादि के डंक का कष्ट वा कोई ज्वर, शूल आदिक विकार दूर हो जाता हो तो वह मंत्र संखिया, धतूरा, विजयादि के विषों पर पढ़ा हुआ भी अवश्य फल करे। और भूख प्यास आदिक कष्ट भी मंत्री लोग अपने मंत्र यंत्रों से ही निवारण कर लिया करें जो सदा दुःख देते हैं॥

अब प्रसंग में आओ। तुमने पूर्व कहा था कि देह में सार्थ सापेक्ष अंग ढंग देख के ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध होता है उस के उत्तर में हम यही कहते हैं कि मनुष्य का द्विपाद, और पशु का चतुष्पाद, तथा पक्षी का सपक्ष होना, और बानर का चांचल्य, और भेड़ी का दैन्य, इक्षु का माधुर्य्य, मिरची का तैक्ष्ण इत्यादि सब व्यवहार बीज के स्वभाविक और सनातन धर्म हैं किसी के किये हुए नहीं इन से वैसी ही उत्पत्ति होती है जैसी इन की हुई है। यदि इन का कोई ईश्वर कर्त्ता मानोंगे तो उस कर्त्ता पर कई प्रकार के संदेह उठेंगे जैसा कि:—

ईश्वर क्या है? कहां है? कैसा है? उस में जगत रचने की इच्छा क्यों उठी? वह पूरण है वा अपूरण? पूरण है तो कामना क्यों? अपूरण है तो व्यापी कैसे है? जगत को कैसे रचा? क्यों रचा? कहां रचा? कब रचा? काहे में से रचा? विचित्र क्यों रचा? एक ही भांति का रच दिया होता इत्यादि॥

यदि कहो विचित्र रचना से लोकोपकार होता है जैसा कि पशुओं से मनुष्यों पर उपकार और मनुष्यों से पशुओं पर उपकार होता है तो सुनों जिन पशु और कीटों से उपकार नहीं उलटा अपकार होता है उन के रचने से क्या सिद्ध हुआ। जैसा कि सिंह, व्याघ्र, वृश्चिक, सर्पादि से होता है। फिर हम यह पूछते हैं कि उपकार के करने में ईश्वर का क्या बनता है न करता तो क्या हानि होती। यदि कहो वह दयालु है सो दयालु से उपकार होही जाता है तो हमारा वही प्रश्न फिर रहा कि सिंह सर्पादि की रचना दया से विरुद्ध काम करती क्यों दिखाई देती है॥

संसार के समस्त पदार्थों को यदि फिर भी सार्थ सापेक्ष और एक दूसरे के उपयोगी उपकारी मानते हो तो बताओ जिस के हाथ में छै अंगुली और पृष्ठि में कोख वा भुजा सूकी हुई वा टेढ़ी तिरछी अथवा चरण खंज वा नेत्र बेडाल हैं उन से स्रष्टा वा मनुष्य का क्या उपयोग वा उपकार सिद्ध हुआ॥ यदि इस तारतम्य को ईश्वर रचित समझो तो फिर हम पूछते हैं कि ईश्वर ने क्यों रचा। यदि कहो जीव के पूर्व कर्म जैसे होते हैं वैसा सुरूप, कुरूप, देह उस को ईश्वर देता है इस में उस को दोष नहीं तो इस देह से पूर्व किसी अन्य देह में जीव का होना ही प्रथम

युक्ति सिद्ध नहीं फिर कर्म कैसे सिद्ध होंगे यह बात आगे कथन होवे गी। पशु, पक्षी तथा कीट, पतंग और वृक्ष, लता, पुष्प, पत्र, घास आदिक के विचित्र वर्ण और आकृति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईश्वर ने नहीं बनाये किंतु जिस बीज का सनातन से जो स्वभाव होता है उससे वही प्रकट होता है। पक्षियों के पक्ष तथा वृक्षों के पुष्प, पत्र कोई वर्तुल कोई लंब कोई त्रिकोण कोई चतुष्कोण तथा कोई अधिक कोण के होते हैं कहो उनकी सार्थता सापेक्षता पक्षी और वृक्षोंको स्वार्थ है वा परार्थ है अथवा ईश्वर को है। यदि ईश्वर को है तो क्यों है। इत्यादि॥

तुमने जो जगत्को एक दूसरे का उपकारी उपयोगी समझ के ईश्वर को उस का स्थापक समझा यह बात सत्य नहीं क्योंकि बहुत ऐसे व्यवहार हैं प्रकट में एक दूसरेके उपयोगी दिखाई देतेहैं परंतु स्वतः होते हैं। जैसा कि किसी ने उजाड़ में एक रेत का ढेर देखा फिर उस में कहीं खाई कहीं ऊंचाई दृष्टि पड़ी कि जिस पर कहीं घास कहीं पात और कहीं आक, ढाक, बँबूल के अंकुर निकल रहे थे। बताओ वह सब कुछ मृत्तिका, जल, पवन के बेग से स्वतः ही बन गया है वा किसी का बनाया हुआ है क्योंकि उस में एक दूसरे का उपयोग भी दिखाई देता है जैसा कि पवन न होता तो रेत को उड़ा के एकट्ठा कौन करता और स्थानांतर से उड़ा के वहां बीजों को कौन लाता और जल मृत्तिका वहां न होती तो बीजांकुर कैसे होता इत्यादि॥

कुछ कालके पीछे हम उस ढेर को टीला बना देखते और वहांसे जल स्रवने लगता और उसके आश्रय नाना वृक्षोंकी सघन छाया दिखाई देती है कि जहां सहस्रों मनुष्य सुख पाते और फल खाते देखे जाते हैं। फिर कबी छाया की बांटमें परस्पर विरोध होने लगता अथवा उस टीलेमेंसे निकल के किसीको सांप काट जाताहै। कबी वहां से कोई चोर किसी का बरतन वा वस्त्र ले भागता और राज द्वार में पकड़ा जाता है कि जहां कारागार के खूंटे से बांधा जावे। अब हम पूछते हैं कि क्या वह खूंटा ईश्वर की इच्छा ने इसी हेतु से वहां गड़वाया है कि कोई चोर आवेगा। क्या वह चोर इसी हेतुसे जगत में जन्माया था कि चोरी करे। जिस की चोरी की क्या वह इसीहेतु

से माता के गर्भ में आया कि खाना होने पर उस छायामें सोवे। क्या वह छायावान् वृक्ष इसी लिये वहां उत्पन्न हुए थे कि वहां से किसी की चोरी होजावे इत्यादि। हम सच कहिते हैं कि यद्यपि ये सब व्यवहार एक दूसरे के उपयोगी दिखाई देते हैं तथापि खत: सिद्ध हैं किसी के रचे हुए नहीं। सच तो यों है कि हेतुके जाने बिना अज्ञानी जन हेत्वाभास पर निश्चय कर लेते हैं। उस रेत के ढेर खाई ऊंचाई तथा जल आव और वृक्षादि की उत्पत्ति का हेतु तो वहां पवन और मृत्तिका का संयोग है परंतु ईश्वर की इच्छाको उस का हेतु लोगोंने मान छोड़ा है कि जो हेत्वाभास रूप है। यदि ईश्वर ने यह सारा व्यवहार इसी कार्य्य के निमित्त वहां रचा हो तो उसकी इच्छाके विरुद्ध व्यवहार वहां कोई न होना चाहिये जैसाकि अनेक मनुष्य वहां ऐसे भी आये कि जिन्हों ने न फल खाये न चोरी की किंतु दो घड़ी छाया में विश्राम करके चले गये॥

ईश्वर का सद्भाव मानने में लोगों के पास इस से अधिक कोई युक्ति नहीं कि इस जगतका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये सो हमारी समक्षमें यह युक्ति उनकी बहुत निर्बलहै क्योंकि जगतकी उत्पत्ति में आज लों जितनी कल्पना विद्वानोंने की हैं सब युक्तिसे विरुद्धहैं। यद्यपि कल्पना तो कईहैं परंतु तीन चार कल्पना हम यहां दिखाते हैं। प्रथम तो हम यह कहिते हैं कि झूठीबातको सिद्ध करनेके लिये चाहे कितनी ही युक्तियां बनाई जायें परंतु पूरी नहीं उतरतीं। और उन का पूरी न उतरना ही इस बात को सिद्ध करता है कि उन का वह स्थल झूठा है जिस पर कल्पना उठातेहैं यदि सच्चा होता तो कोई न कोई कल्पना भी अवश्य सच्ची उतरती॥

ईश्वरको सिद्ध करनेके लिये जगतकी उत्पत्ति के विषय में प्रथम कल्पना यह है आदि में केवल एक अद्वितीय ब्रह्म ही था और कुछ नहीं था। उसने चाहा जगत होजावे, और होगया। इसमें हम पूछतेहैं कि उपादानके बिना कोई कार्य्य नहीं होता सो इस जगत रूप कार्य्यके लिये ईश्वरने उपादान क्या लिया। यदि सर्व शक्तिमान को उपादान की अपेक्षा नहीं तो सुनों-जब इस समय वह शक्तिमान जगत का कोई कार्य्य उपादान के बिना नहीं करता तो प्रथम रचना

उपादान के बिना हुई हम कैसे मान लें जैसा कि हम कभी नहीं देखते कि वृष्टि बादलके बिना और पुत्र माता पिताके बिना हुआहो। यदि कहो प्रथम जब कुछ नहींथा तब तो सब कुछ उपादानके बिना रचना आवश्यक था अब क्या आवश्यक है कि जब सब के बीज और उपादान विद्यमान हैं तो हम पूछते हैं यह इतना बड़ा बखेड़ा उसने क्यों बढ़ाया जिस में पहिले उस को बीज रचने पड़े और फिर उन बीजों में ऐसा एक स्वभाव रचना पड़ा कि जिस से वृक्ष बन जाया करें। फिर उस स्वभाव को जल, वायु, पृथिवी, शीत, उष्ण, देश, कालादि का सापेक्ष बनाया, क्या अच्छा होता कि वह कुछ न बनाता अथवा जैसे पहिले उपादान से बिना सब कुछ बनाया था वैसे ही अब बनाता रहिता॥

प्र०-इस बखेड़े से उस की क्या हानि है?

उ०-इस से अधिक हानि और क्या है कि उस पूर्ण काम में जगत रचने की कामना दिखाई देती और उस पर कई एक संदेह खड़े होते हैं॥

प्र०-यदि ऐसा मान लें कि लूता तंतु के नाईं ईश्वर आप ही जगत का उपादान और आप ही निमित्त कारण है तो उस पर क्या दोष आता है?

उ०-प्रथम तो हम यह कहेंगे कि लूतातंतु भी बिना किसी इच्छा के जाले को नहीं तानता और फिर जो तुम ईश्वर को जगत का उपादान मानते हो इस में हम यह पूछेंगे कि उपादान के गुण कार्य्य में अवश्य होते हैं जैसा कि मृतिका का रूप और काठिन्य घट में विद्यमान है। ईश्वर निरवयव सत्य और अपरिणामी और आनंदस्वरूप है जगत में सावयवता असत्यता तथा क्षण २ परिणामी होना और दुःखी होना कहां से आ-गया। जो तुमने उस को निमित्त कारण जगत का माना पहिले उस के लिये कोई उपादान कारण तो ठहिरा लो क्योंकि चाहे उपादान कारण कर्त्ता का अपना स्वरूपही चाहे उस से भिन्न हो परंतु उपादान कारणके बिना वह निमित्त कारण नहीं बन सकता क्योंकि जहां उपादान कारण न हो वहां कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होती जहां कार्य्य ही कुछ नहीं वहां निमित्त कारण किस

का ठहिराश्रोगे ॥

उपादान के बिना केवल ईश्वर की इच्छा मात्र से जगत की उत्पत्ति मानने वाले को फिर हम यह भी पूछते हैं कि ईश्वर ने जगतको किसी क्रम से रचा है जैसा कि पहिले आकाश फिर वायु फिर अग्नि जल और पृथिवी को रचा और फिर चौरासी लक्ष योनि के देह और आत्माओं को रचा तथा समस्त वनस्पति और पाषाणादि को रचा है अथवा इच्छा करते ही बिना क्रम सब कुछ एक ही वार होगया है ॥

यदि कहो क्रमसे तो जब ईश्वर इस क्रम का अर्थी है कि वायु तव हो जो नभ उस का उपादान कारण बनले तो इस क्रम का अर्थी भी उस को अवश्य मानो कि आकाश तव बना होगा कि जब कोई आकाश का उपादान उसके पास विद्यमान होगा। यदि यहां आके फिर ईश्वरको ही आकाश का उपादान ठहिराओ क्योंकि ईश्वरभी निरवयव और उसका कार्य आकाश भी निरवयवहै तो ईश्वरकी नित्यता उसमें सिद्ध करो। यदि कहो आकाश नित्य भी है तो ईश्वर का कार्य्य उस को क्यों मानते हो क्योंकि नित्य वह होताहै जो आदि और अंत न रखता हो और कार्य्य वह होता है जो आदि और अंतवान हो ॥

यदि कहो संसारकी रचना में क्रम कोई नहीं किंतु ईश्वर के इच्छा करते ही सबकुछ होगया तो इस में कई एक संशय हमको खड़े होते हैं सो सुनोः—

पहिले ईश्वर चुपचाप बैठा रहा उस दिन जगत रचने की इच्छा उस में क्यों हुई। फिर हम यह पूछतेहैं कि जब पहिलेही जगत हुआ तो क्या सारी पृथिवी पर मनुष्य ही मनुष्य हो गयेथे वा किसी मुख्य स्थान पृथिवी के एक भागमें हुएथे। यदि सारी पृथिवी पर मनुष्यही होगयेथे तो सहस्रों कोश के वन, पर्वत और जंगल आज लों निर्जन क्यों दिखाई देते हैं और चतुष्पाद जीवोंको कहां स्थान मिला होगा। यदि थोड़े से किसी मुख्य प्रदेशमें हुएथे तो ईश्वर ने उसस्थान को मुख्यता क्यों दी क्या उस से अन्य स्थान में वह मनुष्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता था। और जो स्थान उस ने मनुष्यों से शून्य रखे वे काहेके लिये रखेथे जिस कामके लिये रखेथे वह काम मनुष्य

रचना की साथ ही क्यों नहीं कर दिया क्योंकि उस काम को मनुष्य रचना से पीछे हुआ मानने में तुम्हारा वह कथन झूठा होजावेगा कि ईश्वर ने रचना के समय क्रम कोई नहीं रखा सब कुछ एक ही वार कर दिया है। यदि वह सब कुछ एक ही वार कर चुका है तो हम नित्य २ उत्तरोत्तर उत्पत्ति क्यों देखते हैं जैसा कि पितामह और पौत्र की उत्पत्ति एकही दिन नहीं किंतु भिन्न २ काल में हुई है ॥

यदि कहो प्रथम रचना में ईश्वर ने एक वार चौरासी लक्ष योनि रच दी थी अब उन से वैसी योनियां बनती चली आती हैं तो हम पूछते हैं चौरासी लक्ष योनि में जो मनुष्य रचे उस समय उन का प्रथम वयस, बाल था वा तरुण अथवा बृद्ध था। यदि कहो बाल था तो भोजन, छादन, स्थानादि रचने की असमर्थता से उस समयका योग क्षेम कैसे चला। यदि कहो ईश्वर ने अपनी कृपा से उनका भरण पोषण किया तो हम पूछते हैं इदानीतम् मनुष्यों पर उसका क्या कोप है कि उसी कृपा से इन का भरण पोषण नहीं करता ॥

यदि तरुण वयस था तो यह दोष ईश्वर पर आता है कि बाल्यावस्था का योग क्षेम कठिन देख के ईश्वर ने बाधित हो के उन को तरुण बनाया ॥

यदि बृद्धावस्था थी तो उनमें वीर्य्याभाव होने से आगे को संसार रचना कैसे चली। यदि कहो ईश्वर चाहे तो महा बृद्धों की भी संतान उत्पन्न कर सकता है तो तुम्हारे मन में यह संदेह उठता है कि सब को बृद्ध रचने में उसने क्या सुख समझा इत्यादि ॥

दूसरी कल्पना जगत की उत्पत्ति में यह है कि ईश्वर और जीव तथा जीवों के कर्म और परमाणु नित्य हैं ईश्वर ने चिकीर्षा बल से परमाणुओं को स्थूल किया फिर उन से मनुष्य पशु आदिक देह बनाये और फिर उन से जीवों का संबंध कर दिया और नाना जगत प्रकट होगया ॥

इस में प्रथम तो हम सारे वेही दंश देते हैं कि जो बिना उपादान के जगत की उत्पत्ति मानने वालेके मतमें पीछे दिये थे और फिर नवीन दंश यह देते हैं कि प्रथम रचना में किसी को मनुष्य किसी को पशु का देह देने में ईश्वर पर वैषम्य और नैर्घृण्य दोष आवेगा ॥

यदि कहो पशु अपने पशुत्व से कुछ दुःखी नहीं मनुष्य के तुल्यही है यदि दुःखी होता तो अपना देह छोड़देवे। फिर वह खाता,पीता सोता,जागता और विषयानंद भोगता भी मनुष्यों के समान है तुम उस को मनुष्य से न्यून किस बात में देखते हो तो सुनो–एकतो वह चाहे कैसा ही शीतोष्ण बाधित और भाराक्रांत हो मनुष्य के नाईं दुःख निवारण और सुखोपार्जन में यत्न नहीं कर सकता।

दूसरा जिस को तुम मोक्ष सुख मानते हो उस के साधनोंमें अश-क्त है। फिर इस से अधिक और न्यूनता क्या होती है॥

यदि कहो मनुष्य के पूर्व कर्म बलवान हैं तो आगे हम यह बात खंडन करेंगे कि इस देह से पूर्व जीव किसी अन्य देह में स्थित था और वहां का कर्म फल यहां भोगता है॥

तीसरी कल्पना जगत की उत्पित्त के विषय में यह है कि जगत कुछ वस्तु ही नहीं केवल सत् चित् आनंदस्वरूप बृह्म ही है उसी का नाम अज्ञान से जगत मान रखा है। जैसा कि शुक्ति का नाम अज्ञा न से रजित मान लिया जाता है॥

इस में हम पूछते हैं कि शुक्ति में रजित की कल्पना शुक्ति और र जित से भिन्न किसी तृतीय पुरुष को हुआ करती है तुम्हारे मत में जो बृह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर बृह्ममें जगत का भ्रम कि-स को हुआ। यदि कहो बृह्म को भ्रम हुआ तो सावधान दशामें अपने स्वरूप में किसी को अन्य का भ्रम कभी नहीं होता जैसा कि देवद-त्त को कभी यह संदेह नहीं होता कि मैं यज्ञदत्त वा विष्णुदत्त हूं। यदि कहो बृह्मको सावधान दशा में भ्रम नहीं हुआ किंतु माया में फँ सके हुआ तो सुनों इसमें हमयह पूछेंगे कि माया नाम तो अज्ञानका है फिर बृह्म को अज्ञान में फँसने से उसका सत् चित्त आनंद स्वरूप लक्षण कैसे मानते हो जैसा कि देखो अज्ञान नाम ज्ञान के अभाव का है और ज्ञान को तुम बृह्म का स्वरूप मानते हो। जब बृह्म में अ ज्ञान हुआ तो उस के स्वरूप का नाश हुआ। सो बस जब बृह्म का स्वरूप नाश हुआ तो वह सत् कैसे हुआ। क्योंकि सत् वह होता है कि जो कभी नाश न हो॥

फिर जो तुमने बृह्म में अज्ञान माना तो अब उस का चित् लक्षण

दूर हुआ क्योंकि चित् नाम ज्ञान का था सो नष्ट हो गया ॥

जहां अज्ञान होता है वहां निरंतर दुःख रहिता है जहां दुःखरहे वहां तुम आनंद कैसे मानते हो। इस रीति से तुम्हारे ब्रह्म की तो खरूप हानि होगई फिर उसके आश्रय रहिना क्या आवश्यकहै श्रेष्ट यही है कि इस जगत को पंचभूत जान के खरूप से अनादि और जीव जान के प्रवाह से अनादि मानों और हमारा मत अंगीकार करो ॥

प्र०-आप का मत नास्तिक है हम आस्तिक हो कर कैसे अंगीकार करें ?

उ०—नास्तिक वह होता है कि जो अस्ति को नास्ति कहै सो हम अस्तिरूप प्रत्यक्ष पड़े प्रपंच को अस्तिरूप समझते हैं और तुम इस अस्ति को नास्ति ठहिरा के किसी परोक्ष पदार्थ ईश्वर को अस्तिरूप मानते हो जो न प्रत्यक्ष होता और न किसी युक्ति से सिद्ध होता है सो अब विचारो कि नास्तिक तुम हो वा हम। कबी तुम कहिते हो कि यह प्रत्यक्ष पड़ा प्रपंच तीन काल हुआ ही नहीं और जो बंध्या पुत्रवत् अनहुआ ब्रह्म सो सत्य है धन्य आप की आस्तिकता ॥

प्र०-मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है ईश्वर की माया को कैसे समझे कि वह अज्ञान रूप है वा ज्ञान रूप है ?

उ०—भला यह तो बताओ कि माया ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न है। यदि कहो भिन्न है तो आप ही अज्ञानरूप ठहिरी क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान का रूप है जो ज्ञान से भिन्न है वह अज्ञान है। दूसरा इस में यह भी आशंका होतीहै कि यदि ब्रह्म से भिन्न भी कोई पदार्थ विद्यमान है तो ब्रह्म को तुम अद्वितीय कैसे मानते हो ॥

यदि माया को ब्रह्म सें अभिन्न मानतेहो तो उस का खरूप ठहिरी फिर उसने ब्रह्म में जगत को कैसे दिखा दिया क्योंकि ब्रह्म प्रकाश खरूपहै और प्रकाश का खभाव है कि पदार्थों को यथार्थ दिखाना फिर क्या कारण कि उसने विपर्य्य दिखाया क्योंकि ब्रह्म सत् चित् आनंद है और जगत असत जड़ दुःख है ॥

फिर माया को ब्रह्म से अभिन्न मानने में एक यह संशय होता है कि माया का कबी नाश नहीं होवेगा क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न पदार्थ

वही है जो उस के समान अविनाशी हो। सो यदि माया का नाश न हुआ तो जगत प्रपंच बना रहा। यदि जगत बना रहा तो तुम्हारे मत का मोक्ष क्या रहा। क्योंकि तुम संपूरण दु:खों का ध्वंस और परमानंद की प्राप्तिको मोक्ष मानते हो सो जगत के होते यह कभी नहीं होवेगी॥

प्र०-मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है ईश्वर के व्यवहार को कैसे समझसके कि उसने जगत को कैसे रचा और क्यों रचा। और जो दोष ईश्वर के कर्त्तृत्व में आपने दिखाये हैं हमारी समझ में उन का उत्तर मनुष्य की बुद्धि से बाहर है क्योंकि वे सब अति प्रश्न हैं ?

उ०-प्रकट है कि दो और दो चार होते हैं परंतु यदि तुम को हम पांच बतावें तो क्यों नहीं मानते हो। यदि कहो हमारी बुद्धि में पांच नहीं आते दो और दो चारही होतेहैं तो हम कहेंगे ईश्वरने तो दो और दो को पांच ही बनाया है परंतु मनुष्य की बुद्धि जो तुच्छ है इस कारण उस की अनंत माया तुम्हारी समझमें नहीं आती। यदि फिर भी तुम यही कहो कि दो और दो को पांच मानना युक्ति से हीनहै तो फिर हम युक्ति से हीन तुम्हारा यह कथन कैसे मान लें कि ईश्वर जगत का कर्त्ताहै। और उसका कर्त्तृत्व बुद्धि द्वारा इस हेतुसे सिद्ध नहीं होता कि मनुष्यकी बुद्धि तुच्छहै। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस तुच्छ बुद्धि का यह कहिना तो मान लिया कि जगतका कोई कर्त्ताहै और यह न माना कि उस का कर्त्तृत्व युक्ति से सिद्ध नहीं होता॥

प्र०-क्या इसको आप युक्ति नहीं मानते कि स्त्री और पुरुषके देह में जो सृष्टि उत्पादक अंग हैं वे किसी के बनाये विना नहीं बने क्यों कि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि वे न होते तो संसार की रचना न चलती। सो रचना चलाने के निमित्त ईश्वर ने उन को स्थापित किया है ?

उ०-यदि ईश्वर ने सृष्टि चलाने के लिये ही उनको स्थापित किया है तो जहां अंगों के होते नित्य के मिलाप में भी संतान की उत्पत्ति नहीं होती वहां क्या कारण समझोगे वहां क्या ईश्वर का मनोरथ भंग होगया मानते हो।

यथार्थ तो यही है कि जैसे आम्र के बीज में स्वत: ही डाल, पात

फलादि के बन जाने का स्वभाव है वैसे मनुष्य के बीज में भी स्वतः ही हाथ, पाँव, मुख, योनि, लिंगादिक बन जाने का स्वभाव है किसी ने किसी काम के लिये नहीं रचा। यदि काम के लिये रचा हो तो जो वृक्ष, फूल, फलादि अति उत्तम पदार्थ निर्जन जंगलों और दुर्गम पहाड़ोंमें उत्पन्न होके अपने आप सूकजाते और जिन अंगोंसे संतान नहीं होती उन के रचने में ईश्वर का क्या सिद्ध हुआ॥

प्र०—भला इस कल्पना में क्या हानि आती है कि ईश्वर ने तो वे पदार्थ और अंग किसी प्रयोजन के लिये ही रचे थे परंतु बीच में कोई रोग, शोक होगया कि जिसने संतान न होने दी?

उ०—इस कल्पनामें हानि क्या उलटा हमारा मुख्य सिद्धांतही यह है कि बीज सदा अपने स्वभावानुसार बढ़ते फूलते हैं परंतु बीच की विपत्ति और रोग शोकादि आपत्ति यथार्थ उन को फलीभूत नहीं होने देती। इस में ईश्वर को फल जनक तथा फलोंका विनाशक मान लेना गौरव है॥

प्र०—आप जो जगत को स्वरूप से तथा प्रवाह से अनादि मानतेहैं इस में जो कुछ आज दिखाई देता है यह परमितहै वा अनंत है। अर्थात् जो २ व्यक्तियां और जातियां अब हैं सदा इतनी ही हैं अथवा इनसे भिन्न कभी कोई नवीन भी बन जाती है?

उ०—क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, जीव और बीजों की जातियां, इतने पदार्थ तो सदा ज्यों के त्यों ही रहिते हैं और गिनती में परमित भी है परंतु इन के संयोग वियोग से जो २ कार्य्य बनते हैं वे अनंतहैं और सदा नवीन नाम और रूप धारण करती रहिती हैं जैसा कि भोजन, छादन, स्थान, यानादि जित ने पदार्थ जगत में देखे जाते हैं ये सब एक ही बार नहीं बनें किंतु जीवों के बुद्धि कौशल से नित्य २ नवीन बनते और बढ़ते जातेहैं। एक मनुष्य को नदी तैरने के लिये घासका उड़प ही बहुतेराथा जब बहुत जनों को तैरने की इच्छा हुई तो काष्ठ में से नौकाको रचा। निर्जल भूमि की यात्रा के लिये शकट, रथादि यान रच लिये तथा नित्य नवीन रचे जाते हैं॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम बिरचित

सत्यामृत प्रवाहोत्तर भागे परा- विद्यायामीश्वरनिर्णयःतृतीय स्तरङ्गः ॥ ३ ॥

ओ३म्
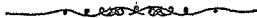
॥ श्री परम गुरवे नमः ॥

॥अथ सत्यामृतप्रवाह नामग्रंथस्य उत्तरभागः॥

॥ अथ वेद निर्णयं व्याख्या स्यामः ॥

प्रश्न-जब आप ईश्वर को नहीं मानते तो वेद को क्यों सत्य मानते होंगे जिस को हम ईश्वर का वचन मानते हैं परंतु बताइये तो सही वेद सत्य है वा असत्य है ?

उत्तर-जब उस के पुस्तक लिखे हुए जगत में विद्यमान हैं तो हम प्रत्यक्ष पड़े पदार्थ को असत्य कैसे कहिदें। असत्य तो वह होता है कि जो शश शृंग और बंध्या पुत्रवत् कोई व्यक्ति न रखता होवे ॥

प्र०-उस का अस्तिभाव तो आपने माना परंतु मैंने यह पूछा है कि वह ईश्वर का वचन है वा नहीं और जो कुछ उस में लिखा वह सच्चा है वा झूठा है ?

उ०-हां यह तो हम मानते हैं कि मनुष्य रूप प्रत्यक्ष ईश्वरका वचन वह ठीक है परंतु किसी परोक्ष ईश्वरका वचन हम उसको कभी नहीं मानते। परोक्ष ईश्वर का वचन तो उस को तब मानते कि जब पहिले परोक्ष ईश्वर का होना युक्ति से सिद्ध हो जाता और तुमने जो उस में के लेख की सत्यता असत्यता पूछी उस का उत्तर यह है कि लेख उस का सत्य भी है और असत्य भी है। अपरारूप असत्य है और जो वाक्य परारूप हो वह सत्य है-सत्य यह है जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषत् बल्ली १ अनुवाक १० मंत्र १९ में कहा है:—

"सत्यं वद धर्म्मं चर स्वाध्या या न्मा प्रमदः।

सत्यान्न प्रमदि तव्यं धर्मान्न प्रमदि तव्यं कुशलान्न प्रमदि तव्यम् ॥"

अर्थ इस का यह है कि सच बोल और धर्म से चल, विद्याध्ययन में आलस्य न कर। सच को मत छोड़, धर्मको मत छोड़। कुशल अर्थात् श्रेष्ट कर्म में प्रमाद न करना चाहिये। फिर उसी उपनिषत् में और लिखा है:—

"मातृ देवो भव पितृदेवोभवा चार्य्य देवो भवा तिथिदेवो भव। यान्य समाकं सुचरि तानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"

अर्थ—माता, पिता, गुरु, अतिथि को देवता जानके सेवा कर। जो हम में श्रेष्ट आचार हैं उन को ग्रहण कर और इतरों को त्याग दे॥ इत्यादि॥ फिर मनुस्मृति अ० ४ श्लो० १५७ में लिखा है:—

"दुरा चारोहि पुरुषो, लोके भवति निं-दितः। दुःख भागी च सततं व्याधि तो ऽल्पायु रेवच॥"

अर्थ—खोटे आचार व्यवहार वाला पुरुष जगत में निंदित होता और सदाही दुःखी, रोगी और अल्पायु होताहै। फिर मनु अ० ४ श्लो० १६० में लिखा है:—

"सर्वं पर वशं दुःखं, सर्वं मात्म वशं सुखं एत द्विद्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः"

अर्थ—पराधीन सब काम दुःखरूप होते और स्वाधीन सब कामसुख रूप होते हैं। संक्षेप से सुख दुःख का लक्षण यही जाने। इत्यादि वाक्य वेद, शास्त्रके तथा अन्य पुस्तकोंके सब सत्यहैं जिनको बुद्धि अस

त्य नहीं कहि सकती और जो बुद्धि से विरुद्ध तथा असत्य हैं वे ये हैं॥ यजुर्वेद अध्याय ३१ मंत्र ७:-

"तस्माद्यज्ञात्सर्वं हुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्माद जायत॥"

अर्थ-उस यज्ञ स्वरूप सर्वं हुत परमेश्वरसे ऋग, साम, अथर्वण और यजुर्वेद उत्पन्न हुए हैं। फिर अथर्वणवेद कांड ११ प्रपाठक २४ अनुवाक २ मंत्र २७ में लिखा है:-

"देवाः पितरो मनुष्याः गंधर्वाप्सर सश्चये। उच्छिष्टा ज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रिताः॥"

अर्थ-देवता, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा ये सब उस सर्वोत्तम परमेश्वर से हुए हैं। आकाश के देवता तथा और जो कुछ उस में है सब उसी परमेश्वर से हुए हैं॥

पूर्वोक्त समस्त कथन जो वेद और शास्त्र में लिखा है युक्ति के विरुद्ध होने से सब असत्य है॥ फिर मनु अ० ४ श्लो० २२९ में लिखा है कि:-

वारिद स्तृप्तिमाप्नोति सुख मक्षय्य मन्नदः, तिल प्रदः प्रजा मिष्टां दीपद श्चक्षु रुत्तमम्। भूमिदो भूमि माप्नोति दीर्घ मायुर्हिरण्यदः गृह दो गृह्याणि वेश्माणि रूप दो रूप मुत्तमम्।

अर्थ-जल देने वाला तृप्त होता और अन्नका दाता सदा सुखी हो

ता है। तिलों का दाता अच्छी संतान पाता और दीप के दानसे दिव्य नेत्र प्राप्त होते हैं। धरती के दान से धरती मिलती और स्वर्ण के दानसे दीर्घायु मिलता। घर बना के देने से अच्छे घर प्राप्त होते हैं और चांदी के दानसे श्रेष्ठ रूप प्राप्त होता है॥ यद्यपि पूर्वोक्त पदार्थों का देना हम मनुष्य धर्ममें श्रेष्ठ समझतेहैं परंतु जो फल शास्त्रने कहे वे सब झूठे हैं। हमने कवी नहीं देखा कि अन्न का दाता बिना खाये तृप्त होजाये और जल का दाता बिना पीये तृषा से छूटे। यदि कहो यह फल स्वर्ग लोक में होताहै तो पहिले स्वर्ग लोकका स्थान न तो कहीं वेद में लिखा है और न युक्तिसे सिद्ध होताहै। फिर यदि चांदी के दाताको उत्तम रूप मिलताहै तो वहां स्वर्गमें देह मानना पड़ेगा। यदि देह माना तो हाड़ मांस मानना पड़ेगा। हाड़ मांस से वीर्य्य और स्त्री संग तथा खान पान मानना पड़ेगा फिर उन से मल मूत्र होगा। जहां मल मूत्र की दुर्गंधि हो उस को स्वर्ग कहिना उपहास की बात है॥

यदि कहो उन दोनों के फल दूसरे जन्म में होतेहैं जब फिर देह ।..। है तो सुनों-प्रथम तो देहको छोड़के जीवका कहीं आगे जा निकलना युक्ति से सिद्ध नहीं होता और दूसरा पिछले जन्ममें अधिक नहीं तो एक आधि मुष्टि अन्न की वा एक लोटा जल का तो हमने भी अवश्य किसी भूखे प्यासे को दिया होगा परंतु ऐसा कवी नहीं देखा कि बिना खाये पीये हम कवी तृप्त होजाते हों॥

प्र०-दान का फल कहिना एक रोचिक वाक्य शास्त्र ने विधान किया है जैसा कि कई वाक्य भयानक भी शास्त्र ने सुनाये हैं देखो मनु अ० १२ श्लो० ९:-

शरीर जैः कर्म दोषै र्याति स्थावरतां नरः
वाचि कैः पक्षिमृगतां मानसैरंत्य जातितां

अर्थ-शरीर के पाप से वृक्ष बनता और वाणी के पाप से पक्षी और पशु का देह धारता है और मन के पाप से चूहड़े और चमारका देह पाता है। बस इस भयानक और रोचिक उपदेश से प्रयोजन वेद

और शास्त्रका शुभाचार कराने और अशुभाचारसे बचानेका है फिर इस में आप को क्या संशय है?

उ०-भयानक और रौचिक वाक्य द्वारा शुभ में प्रवृत्त और अशुभ से निवृत्त करना तो हम बहुत श्रेष्ठ समझतेहै परंतु यह बात हम अंगी कार नहीं करते कि वेद शास्त्र किसी ईश्वरसे प्रकट हुआहै जिसको तुम सत्य वक्ता वा सत्यका रूप समझते हो। हम तो यह कहिते हैं कि वेद शास्त्र बुद्धिमान मनुष्योंके बनाये हुएहैं क्योंकि झूठा भय और झूठो लालचदे के जीवोंको शुभाशुभमें प्रवृत्त निवृत्त किया। यदि वेद शास्त्र ईश्वर के रचे हुए होते तो वह झूठा उपदेश उनमें कबी न लिखता जिस का नाम आप भयानक वा रौचिक रखते हो। किंतु जो चाहता अपने सामर्थ्य से ही गृहण करा देता क्यों कि तुम उसे सर्व शक्तिमान मानते हो॥

प्र०-जैसे रोगीके सुखके लिये अच्छा वैद्य कोई झूठा हाऊ आदिक का भय और स्वर्ण की चिड़या का लालच देके बालकको कटु औषध पिला देताहै वैसे ईश्वर ने भी भयानक वाक्य लिखके अशुभ से निवृत्त और शुभ में प्रवृत्त जीवों को किया हो तो क्या दोष है?

उ०-इस से अधिक दोष और क्या होता है कि सत्य स्वरूप ईश्वर को झूठ बोलना पड़ा। जो तुमने वैद्यका दृष्टांत दिया वह भी यहां विखम पड़ताहै क्योंकि वैद्य जो रोगी का प्रतिकार करता है उस के मनमें दो कामना होती हैं-एक यह कि यदि यह रोगी नीरोग हो जावेगा तो मुझे धन वा यश का लाभ होवेगा। दूसरा यह कि यदि इस रोगीको सुखहो जायेगातो मुझे पुण्यकी प्राप्ति होवेगी। क्या ईश्वरमें भी यह दोनों कामना भरी हुईहैं कि जिनके प्रताप से उसे झूठ बोलना पड़ा। यदिकहो वह दयालुहै इस हेतुसे चाहे झूठभी बोला पर जीवों पर दया की तो हम कहेंगे यदि वह झूठ बोल के दया न करता तो क्या नर्क को चला जाता। फिर उसको जो छल, बल से जीवों का भला करना पड़ा क्या कोई ऐसा उपाय उस की समझ में न आया कि जिससे बिना छल बल रचनेके सबका भला करदेता॥

प्र०-आपने पीछे कहा कि वेद में जो बहुत से वाक्य युक्ति से हीन लिखे हुएहैं इस कारण वह ईश्वर कृत नहीं। हम कहिते हैं वाक्य

तो युक्ति विरुद्ध कोई नहीं परंतु उन वाक्यों का तात्पर्य्य समझना कठिन है जैसा कि उसमें जो देवता, पितर, मनुष्य सब ईश्वर से हुए लिखे हैं आप इस का तात्पर्य्य नहीं समझे क्योंकि वेद का तात्पर्य्य समझना कठिन है ?

उ०—अक्षरों का तात्पर्य्य तो यही है कि जो हमने समझा यदि कुछ तात्पर्य्य और है तो दो प्रकार का होगा एक यह कि देवता पितर मनुष्यादि जगत ईश्वर से नहीं हुआ। दूसरा यह कि जगत हुआ तो ईश्वर से ही है परंतु ऐसी विधि से हुआ है कि इस की रचने से ईश्वर पर कोई शंका नहीं उठती। सो यदि ईश्वर का रचा हुआ नहीं तो हमारा ही मत सिद्ध होगया और यदि रचनेकी विधि अन्य है तो बताओ वह कौन सी है फिर हम देखेंगे कि उस पर कोई शंका उठती है वा नहीं ॥

वेद को ईश्वर रचित मानने में एक यह शंका भी हमारे मन में उठती है कि वेद सारा ही वर्णात्मक शब्द और छन्दोबद्ध है कि जो कुछ अर्थ भी रखताहै फिर वह बिना मुख और जिह्वा के उच्चारण कैसे होगया। यदि कहो ईश्वर सर्व शक्तिमानहै बिना जिह्वाके बोलना उस को क्या कठिन है तो सुनो पहिले उस ईश्वर का होना तो सिद्ध करो फिर यह भी देखा जावेगा कि वह शक्तिमानहै वा नहीं॥

प्र०—ईश्वर ने अपनी जिह्वा से वेद को उच्चारण नहीं किया किंतु सृष्टि के आदिमें अग्नि, वायु, सूर्य्य, नाम तीन ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया है उन से ब्रह्मा ने लिया फिर जगत में फैला। सो वे अग्नि आदिक ऋषि जो सृष्टि के आदि में उस समय हुए कि जब उनसे पूर्व न कोई विद्यापढ़ाने वाला पुरुषवर्त्तमानथा और न कोई पुस्तक। सोबताइये उनको वेद रचनेका सामर्थ्य ईश्वर के दिये बिना कहां से मिला। क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब लों कोई दूसरा न सिखावे ग्रन्थ रचना तो बड़ी बातहै कोई बोलना भी नहीं सीख सकता। अग्नि आदिकसे वेद का प्रकट होना शतपथ ब्राह्मण के वाक्यसे सिद्धहोता है कि जो ब्रह्मादि ऋषियों का कहा हुआहै॥ शतपथ कांड११ अध्या.५:—

'तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायंत। अग्ने-

"ऋग्वेदो वायो यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः"

अर्थ—उन तप करतों से तीन वेद प्रकट हुए। अग्नि से ऋग, वायु से यजु और सूर्य्य से साम वेद उत्पन्न हुआ है ?

उ०—बिना युक्ति प्रमाण के प्रथम तो हम यह बात मान कैसे लें कि सृष्टि के पूर्व सब से प्रथम अग्नि, वायु और सूर्य्य ही उत्पन्न हुए थे। भला यदि सृष्टि के पूर्व अग्नि आदि की उत्पत्ति मान भी ली जावे तो यह बात किस युक्ति से सिद्ध होती है कि वेद उसी समय प्रकट हुआ। हम कहिते हैं कि ज्यों २ संसार बहुत होता गया त्यों २ स्वत्व, परत्व वैर, ईर्षा, लोभ, अहंकार, क्रोध, चोरी, हिंसा, व्यभिचारादि विकार भी जीवों में भरते गये। और लेन देन वाणिज्य व्यापारादि व्यवहार भी परस्पर होने लगे। फिर अनंत पदार्थों और कार्य्यों में मन की प्रवृत्ति होने से पूर्व कहे और किये हुए व्यवहार विस्मृत होने लगे। उस समय बुद्धिमानों ने अक्षरों का संकेत करके लेख क्रिया का आरंभ किया। और फिर वेद शास्त्र रूप अनेक गृन्थ लिखने में आये आदि काल में नहीं लिखे गये॥

वेद को ईश्वर क्रत मानने में एक यह भ्रम भी खड़ा होता है कि ईश्वर पूर्ण है वेदरूप उसकी रचना में पूर्णता क्यों नहीं देखी जाती, क्योंकि यदि वह ईश्वर क्रत होता तो जन्म से ले के मरण पर्य्यंत मनुष्य को जो कुछ समझना और करना आवश्यक था सब कुछ उस में आ जाता ऋषियों को गृह्य सूत्र और धर्म शास्त्र न रचने पड़ते। जब आयुर्वेदादि चार उपवेदों और शिक्षा कल्पादि छै अंगों तथा न्याय वेदांतादि छै उपांगों से बिना केवल वेद मात्र के पढ़ने से प्राणी को पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, तो उस को पूर्ण शास्त्र और पूर्ण ईश्वर का क्रत कैसे मान लिया जावे॥

वेद को ईश्वर क्रत बनाने के लिये यदि वेद का ही वाक्य प्रमाण में दिया जावे जैसा कि य० अ० ३१ का मंत्र ७ यह प्रमाण हम को ग्राह्य नहीं क्योंकि जब हमारा विवाद वेद पर ही है कि वह ईश्वर क्रत है वा अन्य क्रत तो उस की सिद्धि के लिये उसी का वचन प्रमाण रूप नहीं हो सकता॥

शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण जो आपने अग्नि आदिक के हृदय से वेद

के प्रकाट होने के विषय में पढ़ा हम कहिते हैं वह ब्रह्मादि ऋषियों की बनावट है। वे ऋषि जो वेद के माननें वाले अथवा आप ही वेद के रचने वाले थे उन्होंने वेद को ईश्वर की कृत ठहिराने के निमित्त उस भांति के वाक्य रच लिये। तात्पर्य्य यहहै कि जैसे अन्य ग्रन्थ सब मनुष्यों के रचे हुएहैं वैसे वेद भी मनुष्यों का रचा हुआहै परंतु इस बात में संशय नहीं कि वेद की रचना बहुत पुरानीहै। कई एक अनुमानोंसे जाना जाताहै कि धर्म विषय में जितने ग्रन्थ भारतखंड तथा अन्य खंडों में प्रचिलत होरहे और ईश्वरकी वाणी माने जातेहैंसब वेद से पीछे बने हैं॥

वेद चाहे है तो मनुष्य का रचा हुआ परंतु यह निश्चय नहीं होता कि किस मनुष्यने रचाहै क्योंकि उसको परमेश्वर का वचन बनानेके निमित्त रचने वाले ने अपना नाम उसमें नहीं लिखा॥

वेद के अक्षरों से भी जाना जाता है कि वह ईश्वर की कृत नहीं किसी अन्य का रचा हुआ है जैसा कि:—

"तस्माद्यज्ञा त्सर्व हुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे"

अर्थ-उस सर्व हुत परमेश्वर से ऋग्वेदादि हुए इत्यादि। अब हम पूछते हैं कि यदि ईश्वर वेद का कर्त्ता होता तो यह न कहिता कि-(उस) सर्वहुत परमेश्वर से वेद हुआ किंतु यह कहिता कि मुझ से वेद हुआ है। उस से वेद हुआ कहिने में यह बात पाई जातीहै कि ईश्वर कोई औरहै। और जिससे वेद हुआ वह कोई औरहै। क्योंकि प्रथम पुरुष और उत्तम पुरुषमें व्याकरण की रीतिसे भेद होताहै॥

फिर य० अ० ३२ मं० १५ में लिखाहै कि:—

"मेधांमे वरुणो ददातु"

अर्थ-मुझे वरुण देवता बुद्धि देवे। यह बात ईश्वर ने नहीं कही जो पूर्ण काम है किंतु किसी मनुष्य ने कही है जो बुद्धिसे हीन था और बुद्धि के लिये वरुण नाम ईश्वर से प्रार्थना करता है। यदि कहो ईश्वर ने अपने लिये नहीं कही किंतु ईश्वर मनुष्यों को यह शिक्षा करता है कि तुम वरुण के पास मेधा के निमित्त प्रार्थनाकरो

तो ईश्वरका शिक्षा करना हम तुम्हारे कहिने से नहीं मानते वेदका वह वाक्य सुनाओ जहां ईश्वर ने कहा हो कि हे मनुष्यो मैं तुम को शिक्षा करता हूं कि तुम वरुण से मेधा मांगो। यदि कहो ईश्वरका शिक्षा करना इस अनुमान से सिद्ध होता है कि उस ने जो वेद भेजा कुछ अपने लिये तो भेजा नहीं था किंतु जीवों के लिये ही भेजा है सो जो कुछ उस में लिखा हुआ है वह मनुष्यों के लिये ही शिक्षा है तो सुनो मनुष्यों का वेद के विना क्या अटका हुआ था। यदि कहो उन को ज्ञान नहीं था ज्ञानोपदेश वेदसे मिलताहै तो देखो उस मंत्र से यह ज्ञान हुआ कि जीव बुद्धि के लिये ईश्वर के पास प्रार्थनाकरे। फिर इस का क्या कारण कि सारा आयु वरुण से बुद्धि मागते रहिने पर भी बुद्धि प्राप्त नहीं होती। बुद्धि तब ही प्राप्त होती है कि जो विद्या पढ़ो वा विद्वानों का संग करो॥

फिर ऋग्वेद अध्याय१ अष्टक३ वर्ग १० ऋचा ४ में लिखाहै कि:-

(ऊर्द्धो नः पाह्यं हसो)

अर्थ-हे ईश्वर? तू हमको पापसे बचा ऊपरसे। भला क्या यह ईश्वर का वचन है। यदि ईश्वर का वचनहै तो वचने वाला ईश्वर कौनहै उस से भिन्न बचाने वाला कौन है॥

वेद में जो ईश्वर की स्तुति के मंत्र लिखेहैं वे किसने रचेहैं? यदि कहो ईश्वर ने तो हम कहेंगे ईश्वर अपनी स्तुति कराना जीवोंसे क्यों चाहता है क्या वह अपनी स्तुति का भूखाहै। यदि कहो जीवों का इस में भलाहै तो ईश्वर अपनी स्तुति करा के जीवों का भला क्यों करता है। दयालु है तो विना स्तुति कराने के भला करे। यदिकहो ईश्वर अपनी स्तुति करानी नहीं चाहता परंतु मनुष्य का धर्म है कि अपने सृष्टि करता की स्तुति करे तो सुनो वेद में जब स्तुति के मंत्र लिखेहैं और वेद को तुम ईश्वरका भेजा हुआ मानतेहो तो यह बात स्पष्ट पाई गई कि ईश्वर अपनी स्तुति चाहता है। फिर जब ईश्वर मनुष्य का सृष्टि कर्त्ता ही युक्ति से सिद्ध नहीं होता तो स्तुति करना जीव का धर्म कैसे सिद्ध हुआ। यदि कहो ईश्वर की स्तुति परंपरा संबंधसे जीवका भला करतीहै जैसा कि स्तुति वह करेगा जिसका मन

में ईश्वर का भय और प्रेम होगा जिसके मन में भय और प्रेमहै वह भय के प्रताप से मंदाचार का त्याग और प्रेम के प्रसादसे शुभाचारमें प्रवृत्ति करेगा। जब यह दोनों व्यवहार सिद्ध हुए तो जीव को परम सुख प्राप्त हो गया और यही इस का भलाहै तो सुनो कोई जीव बिना ही स्तुति और ईश्वर के भय प्रेम के केवल ज्ञान मात्र से मंदाचार का त्याग और शुभाचार का गृहण करे तो ईश्वर का वेद भेजना उसके लिये व्यर्थ ठहिरेगा। और व्यर्थ काम करने से ईश्वर अज्ञानी मानना पड़ेगा ॥

॥ अब उपनिषद की सुनों ॥

उपनिषदों को कोई ५२ और कोई दस बतलाता है। बावन उपनिषद तो अवश्य अपनी २ संप्रदाय सिद्ध करने के निमित्त मनुष्यों ने रची हैं परंतु दश उपनिषद को सब कोई वेद अथवा वेदांत बतलाता है जिन में ज्ञानकांड का उपदेश भरा हुआ है ॥

ईश, केन, कठ, मुंडक, मांडूक्य, प्रश्न, श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक ये दश उपनिषद वेद का अंत मानी जाती हैं। कि जिन में से जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है ॥

इस में हम कहिते हैं कि यजुर्वेद वाजसनेई संहिता के चालीसवें अध्याय का नाम जो ईश उपनिषद है वह तो वेद का अंत ठीक है क्योंकि उस संहिता के चालीस अध्याय हैं और वह उपनिषद अंत का अध्याय है परंतु अन्य उपनिषदों को वेदों का अंत क्या जाने लोगों ने क्यों मान लिया। प्रथम तो वे किसी वेद का कोई अंतिम अध्याय नहीं फिर बहुत सी कथा और कहानियां उनमें ऋषिलोगों की कल्पना है जैसा कि केन में ब्रह्मा और देवताओं की कहानी है। कठ में वाज श्रवा ऋषि के पुत्र नचिकेता की कथा है। मुंड में ब्रह्मा अथर्व अंगिरा, भरद्वाज, शौनक आदि ऋषियों के प्रसंग द्वारा परापरा विद्या का कथन है। वैसे ही जनक, याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी, शाकल, प्रभृति जनों के प्रसंग और कथायें समस्त उपनिषदों में भरी हुई हैं जिन का वेद की संहिताओं में नाम मात्र भी नहीं आता। जिस उपनिषदमें जिसका प्रसंगहै वह उस वेदके अंतमें लिखा हुआ दिखा

ओ जिसकी वह उपनिषद् गिनी जातीहै। हम तो यही कहेंगेकि वेद के कोई२ मंत्र तो चाहे सारी उपनिषदों में आ-जाते हैं परंतु उपनिषदोंका आद्योपांत पाठ वेदका कोई भाग नहीं होता किंतु ऋषि लोगोंकी स्वतंत्र कल्पना है उस को वेद वा वेद के समान वा वेद के अनुसार मानना योग्य नहीं॥

प्र०-उपनिषदों के प्रसंग और कथायें वेद के ब्राह्मण भाग में सब आती हैं क्या यह बात सत्य नहीं। जब ब्राह्मण भाग की कथायें ही उपनिषदों में भरी हुई हैं तो वे वेदरूप क्यों ना मानी जावें?

उ०-हां ब्राह्मण भाग में उनमें से कई एक कथा अवश्य आजाती हैं परंतु ब्राह्मण भाग वेद नहीं किंतु वेद की व्याख्या है जिस को ब्रह्मादि ऋषियों ने पीछे से लिखा है। तात्पर्य्य इस कथन का यहहै कि उपनिषदों को ब्राह्मण भाग का रूप कहो तो कहो परंतु वे वेद का रूप वा वेद का अंत नहीं हो सकतीं॥

कई प्रसंगोंसे जाना जाताहै कि वेद और उपनिषदें एकही समय में एक ही पुरुष ने नहीं रची हैं किंतु समय २ पर रची गईहैं। जैसा कि अथर्व संहिता कां० १५ प्र० ३०:—

सबृहतीं दिश मनु व्य चलत्। तमितिहास श्च पुराणं च गाथा श्च नारा शंसी श्चा नु व्य चलन्। इति हासस्य च गाथा नां नारा शंसी नांच प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥

अर्थ-वह बड़ी दिशा को गया और उस के पीछे इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी चलीं। जो ऐसा जानता है वह इतिहास और गाथा तथा नाराशंसियों का प्योरा घर बनता है॥ अब विचारो कि जब वेद हुए तब इतिहासादि वर्त्तमान नहीं थे जिन को ब्रह्मादि वा व्यास ने पीछे से रचा है फिर इस बात का क्या कारण है कि पूर्व रचित वेद में पश्चात रचित इतिहासादिकें नाम आगये। इससे जाना

जाता है कि अर्थ वेद सारा अथवा वह मंत्र इतिहासादि के पीछे रचा गया है। यदि कहो वेद परमेश्वर का रचा हुआ है और परमेश्वर त्रिकालज्ञ है उसने भावी बात को प्रथम ही लिख दिया तो पहिले यह बात युक्ति से सिद्ध करो कि वेद परमेश्वर का रचा हुआ है। फिर यह बताओ कि जैन्य मत की कोई बात अथवा म्लेच्छ मत के गन्थों का नाम उस में क्यों न लिखा कि जो उस समय के पीछे हुए हैं॥

फिर उपनिषद् वेद के साथ प्रकट नहीं हुए किंतु उस समय प्रकट हुए हैं कि जब मनुस्मृति नाम गुन्थ लिखा जा चुकाथा क्यों कि छांदोग्योपनिषद में लिखा है (यद्वै मनुर वदत्तद्भेषजम्) अर्थ-जो मनु कहि चुका वह औषध रूप है। अब सोचो (अवदत्) अर्थात् कहि चुका क्रिया छांदोग्य में देख के यह बात कौन न कहि उठेगा कि छांदोग्य मनुस्मृति के पीछे बनी है। यदि कहो मनुस्मृति भी जगत के आरंभ में बनी है जब वेद बना था इसी कारण वेदरूप उपनिषत् में उसका नाम आया तो सत्य नहीं क्योंकि मनु ब्रह्माका पुत्र है सो वेद ब्रह्मा से पहिले वर्त्तमान था क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषत् में लिखा है:—

"योवै ब्रह्माणं विद धाति वेदं"

अर्थ-जिस ने ब्रह्मा को वेद पढ़ाया है। सो यदि ब्रह्मा से पूर्व वेद वर्त्तमान न होता तो पढ़ाया क्या जाता। फिर मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक २३ में लिखा:--

अग्नि वायु रविभ्यस्त्र त्रयं ब्रह्म सनातनम्
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थ मृग्यजुः सामलक्षणं।

अर्थ–ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, सूर्य्य से वेदको लिया। प्रयोजन हमारा यह है कि वेद ब्रह्मा जी से पूर्व वर्त्तमान था कि जिस के अंत का नाम छांदोग्य उपनिषद है। फिर यदि छांदोग्य उपनिषद ब्रह्मा से पहिले ही वर्त्तमान थी तो उस में मनु के बनाये पुस्तक का नाम कैसे आगया जो ब्रह्मा का पुत्र होने से उससे पीछे जाना जाता है। उप-

निषत् वेदरूप तथा वेद का अंत नहीं किंतु वेद से भिन्न हैं यह बात छांदोग्य और मुंडक उपनिषद की वाक्यों से सिद्ध होती है छां॰ प्रपाठ ७ नारद ने सनत्कुमार से कहा:--

"ऋग्वेदो भगवो ध्येमि यजुर्वेद सामवेद माथर्वणंच" इत्यादि फिर कहा— **'सोहं भगवो मंत्रविदे वास्मिनात्मवित्'**

अर्थ—हे भगवन्? मैं ऋग्वेदादि चारों वेद पढ़ाहूं मंत्र वेत्ता हूं आत्म वेत्ता नहीं। यह सुन के सनत्कुमारने उपनिषद द्वारा आत्मज्ञान उपदेश किया। अब सोचो कि यदि उपनिषद को वेदत्व होता तो ऋग्वेदादि पूर्व गणनो से बाहर कैसे रहि जाता। फिर मुंडक उपनिषद में लिखा है कि:—

तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदो ऽथर्ववेदः इत्यादि **अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते**

अर्थ-ऋग्वेदादि सारे अपरा विद्या हैं परा विद्या वह है जिस द्वारा अक्षर ब्रह्म जाना जावे। अर्थात् उपनिषद परा विद्या है। अब सोचो यदि उपनिषद वेद वा वेदांत है तो ऋग्वेदादि अपरा विद्या में आगई। और यदि इस को परा में वेद से बाहर गिनो तो वेद वा वेदका अंत कैसे हुई इत्यादि ॥

प्रसिद्ध है कि मनुस्मृति नाम ग्रन्थ मनु जी का बनाया हुआ है पर यह बात मनुस्मृति के वाक्यानुसार ही झूठी है। क्योंकि अध्याय १ श्लोक ५८।५९ में मनु जी कहितेहैं हे ऋषि लोगो यह शास्त्र आदि में मुझे ब्रह्मा जी ने पढ़ाया फिर मैं ने मरीचि आदिक ऋषियों को पढ़ाया अब भृगु मुनि तुम को सुनावेगा क्योंकि उसने भी मुझसे पढ़ा है। अब विचारना चाहिये कि जब ब्रह्मा ने मनु को पढ़ाया तो यह ग्रन्थ पहिलेही बना हुआ था। फिर जब पहिलेही बना हुआ था तो

उसे मनु का बनाया क्यों कहिते हो । फिर उसी स्थान के श्लोक ६० में लिखा है कि:—

ततस्तथा सतेनोक्तो महर्षि र्मनुनाभृगुः तानब्रवीदृषी न्सर्वा न्प्रीतात्मा श्रूयतामिति

अर्थ—फिर वैसे ही मनु का बताया हुआ महाऋषि भृगु उन ऋषियों को बोला है ऋषियो सुनो ॥

अब विचारो यह श्लोक मनुस्मृति में कैसे आगया क्योंकि मनुस्मृति ग्रन्थ तो उस के बोलने से पूर्व ब्रह्मा अथवा मनु ने रचा था और भृगुने उन से पीछे ऋषियों को सुनाया इस से जाना जाताहै कि इस श्लोक के कहिने वाला कोई तीसरा है और वही इस ग्रन्थ का कर्त्ता मनु नहीं ॥ फिर मनु अध्याय १ श्लोक १ में लिखा है:—

"मनुमेकाग्रमासीन मभि गम्य महर्षयः"

अर्थ—एकांत बैठे मनु के पास जाके ऋषि लोग बोले । इससे प्रकट है कि यह वाक्य मनु का नहीं क्योंकि, यदि मनु का वाक्य होता तो वह यों न कहिता कि एकांत बैठे हुए मनु के पास जा के ऋषि लोग बोले किंतु यों कहिता कि मेरे पास आके ऋषि बोले ॥

फिर श्लो० ४ उसी अध्याय में लिखा है [सतैः पृष्टः] अर्थ-वह मनु उन ऋषियों का पूछा हुआ बोला सुनो ॥

क्या यह वचन मनु का है ? यदि मनु का होता तो (वह) मनु बोला न लिखता किंतु (मैं) बोला लिखता । फिर अ० १२ श्लो० १२६ में लिखा है:—

"इत्येत न्मानवं शास्त्रं भृगु प्रोक्तं पठन् द्विजः । भवत्या चार वान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥"

अर्थ-भृगु के सुनाये मानव शास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज आचारवान् हो जाता और यथेष्ट गति प्राप्त करता है ॥

अब प्रथम तो हम यही पूछते हैं कि जब ब्रह्मा ने मनु को पढ़ाया था तो वह मानव शास्त्र कैसे हुआ और फिर यह बताओ कि भृगु प्रोक्त है तो यह श्लोक मनुस्मृति में कैसे आगया। इन बातों से निश्चित होता है कि यह श्लोक न तो मनु का रचित है और न भृगु का किंतु किसी तीसरे का रचित है इस में भी आश्चर्य नहीं कि यह सारी मनुस्मृति ही उस की रचित हो। यदि यह माना जावे कि जो कुछ ब्रह्मा ने मनु को और मनु ने भृगु को और भृगु ने ऋषियों को सुनाया वह केवल अर्थरूपथा यह ग्रन्थकी श्लोक बद्ध रचना किसीने अवश्य पीछेसे की है तो इसमें क्या प्रमाण कि वह अर्थ ठीक ब्रह्मा वा मनु वा भृगु ने ही कहा है हम कहेंगे जिस ने श्लोक रचना की उसी की कल्पना वह अर्थ है फिर उसकी कल्पना को सर्वांश सच मान लेनेमें क्या प्रमाणहै क्योंकि मनुष्यकी कल्पना कोई सत्य होती है कोई असत्य। यदि कहो कि वह कल्पना श्लोक रचने वाले की इस हेतु से नहीं कि वह अर्थ वेदमें भी लिखा है जो उस स्मृति में है तो सुनो। वह स्मृति वेद मूलक तो ठीक है परंतु बहुत स्थानों में स्वतंत्र भी है जैसा कि वेदमें ब्राह्मणादिक केवल चार वर्ण ही लिखे हैं मनुस्मृति में कुंड गोलक नाम से दो वर्ण और भी लिखे हैं॥

प्रकट है कि मनु का धर्म शास्त्र वेद के अनुसार है हमारी समझ में यह बात भी सच्ची नहीं क्योंकि कई एक बातें तो वेद के अनुसार हैं और कई स्वतंत्र हैं जिन का वेदके साथ कुछ संबंध नहीं जैसा कि वेद में कहीं नहीं लिखा कि जीवात्मा एक देह को छोड़ के नर्क वा स्वर्ग रूप किसी स्थान को जाता है मनु अध्याय ४ श्लो० ८८ से ९० तक में नर्क के स्थान वा स्वरूप लिखे हैं जैसा कि:—

तामिस्र मंधता मिस्रं महा रौरवरौरवौ।
नरकं काल सूत्रञ्च महा नरक एवच॥ इत्यादि

अर्थ—तामिस्र, अंधतामिस्र, महारौरव, रौरव, नरक, कालसूत्र, महानरक, इत्यादि इक्कीस नर्क लिखे हैं॥

फिर वेद में जो ब्राह्मणादि चारवर्ण लिखे हैं मनु ने उस से अधिक संकर वर्ण और कुंड गोलक लिख के उन के आचार व्यवहार भी

लिखे हैं जिन की वेदमें गंध भी नहीं। फिर यह क्यों कहितेहो कि वह सर्वांश श्रुतिमूलक है ऐसा कहो कि वह एक स्वतंत्र गृन्थ है। गृन्थ तो कई स्थानों में अच्छा है परंतु यह पता नहीं कि बनाया हुआ किस का है ॥

॥ अब न्यायवेदांतादि षट शास्त्र को सुनो ॥

षट शास्त्र में जो अनेक गृंथ नवीन रचे गये हैं उनका तो क्या कहिना परंतु सूत्रकारोंकी कल्पनो भी वेदके अनुसार नहीं जिनको षट् शास्त्र के कर्त्ता माना है। इस में कुछ संशय नहीं कि षट्शास्त्र के कर्त्ता श्रेष्ट विद्वान थे और उनकी कल्पना भी किसी २ अंश में श्रेष्ट है परंतु यह हम कभी नहीं मानते कि उनका कथन वेद के अनुसार है। उत्पत्ति आदिक का व्यवहार हम वेद और षट्शास्त्र का संक्षेप से दिखाते हैं॥

वेदमें लिखाहै कि आदि में एक अद्वितीय बृह्म था और कुछ नही था। जैसा कि ऋग्वेद अध्याय ८

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं"

अर्थ, तदानीं क्या उत्पत्तिके समय असत् अर्थात् परमाणु समूह और जीव ही वर्त्तमानथे और न-असत् अर्थात् स्थूल भूत और देहादि प्रपंच ही विद्यमान था। केवल एक अद्वतीय बृह्म ही था। उसी से जगत उत्पन्न हुआ। जैसा कि य० अध्या० ३१ :—

"ततो विराड जायत"

अर्थ—उसी से विराट अर्थात् यह जगत प्रपंच हुआ ॥

इस से विरुद्ध न्याय शास्त्र कहिताहै कि ईश्वर,जीव परमाणु नित्य हैं। ईश्वर ने अपनी चिकीर्षा के बल से परमाणु वर्ग को स्थूल बना के उन में से देहों को रचा और फिर उन में जीवों का संबंध किया॥

वेदांत के कर्त्ता व्यास कहिते हैं कि जगत है ही नहीं किंतु अज्ञान से भासता है ॥

सांख्य के कर्त्ता कपिल जी कहिते हैं प्रकृति और पुरुष के संयोग

से जगत उत्पन्न हुआ है ॥

मीमांसा के कर्ता जैमिनी ऋषि जीव और कर्म को अनादि मान के कर्म से जगत की उत्पत्ति मानते हैं ॥

पातंजल के कर्त्ता पतंजलि मुनि कहतेहैं कि ईश्वरेच्छा से प्रधान पुरुष का संयोग होनेपर जगत उत्पन्न होताहै ॥

वैशेषिक के कर्त्ता कणाद मुनि कुछ तो न्यायके अंतर गतहैं और कुछ भिन्न हैं ॥

हम नहीं जानते कि जब संपूर्ण शास्त्रों का कथन वेद के विरुद्ध है तो उन को वेदमूलक क्यों माना जाता है । मैं ने कई एक पंडितोंसे यह बात भी सुनी कि यद्यपि कथन में भेद हो परंतु पर्य्यावसान सब का वही है कि जो वेद ने कहाहै परंतु यह बात उनकी सच्ची नहीं। देखो वेद ने मोक्ष का साधन कर्म उपासना ज्ञान को बताया। और न्याय शास्त्र सप्त पदार्थों के ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाता है। फिर वेदांत जीव ब्रह्मैकत्व ज्ञानको मोक्षको साधन कहिता हैं। इ-त्यादि भिन्न २ कथन से वेद और शास्त्र के पर्य्यावसान को एक कैसे मान लिया जावे। भला किसी ने कहा देवदत्त के गृह को पूर्व हो के जाना सीधा मार्ग है और कोई कहिता है पश्चिम होके जाना सीधा मार्ग है, क्या ये दोनों मार्ग सीधे हो सकते हैं? और इन दोनों के कथन का पर्य्यावसान किसी प्रकार एक हो सकता है? नहीं कभी नहीं ॥

॥ अब पुराणों की सुनो ॥

पुराण मत्स्य, मार्कंडेयादि नाम से अठारह हैं। प्रथम तो आजलों इस बात का पता नहीं लगता कि ये बनाये हुए किस के हैं क्योंकि उन का उत्पत्ति प्रलय के विषय में परस्पर विरोध है। यदि किसी एक कर्त्ता के बनाये हुए होते तो उन में विरोध कभी न हो ता। किसी पुराण में लिखा संसार की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है और किसी में लिखा विष्णु, शिव तथा शक्ति से हुईहै। किसी में सूर्य्य त-था गणेश की उपासना और किसी में शक्ति, शिव और विष्णु का आराधन लिखा है। किसी में भूगोल और खगोलका मान कुछ और

किसी में उस से विरुद्ध कुछ लिखा है। किसी में गंगादि स्नानसे पाप की निवृत्ति किसी में विष्णु शिवादि के नाम जपने से पाप की निवृत्ति लिखी है। किसी में प्रलय का हेतु कुछ और किसी में कुछ और ही लिखा है। इस विषमता को देख के प्रथम तो उन का कर्त्ता एक नहीं जाना जाता। और फिर जो वृत्तांत उन में लिखे हैं उन की वेद में गंध मात्र भी नहीं॥

कोई २ लोग यह भी कहिते हैं कि उत्पत्ति प्रलय के व्यवहार जो पुराणों में भिन्न २ लिखे हैं उन का कल्पांतर भेद है अर्थात् किसी कल्प में संसार की उत्पत्ति किसी प्रकार हुई और किसी में उस से भिन्न हुई। इस के उत्तर में हम कहिते हैं कि यह बात वेदके विरुद्ध है क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है:—

"सूर्य्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्प यद्दिवं च पृथिवीं चांत रिक्ष मथो स्वः"

अर्थ-सूर्य्य, चंद्रमा, दिव, पृथिवी, अंतरिक्षादि को (धाता) अर्थात् सबको धारण करने वाले परमेश्वर ने जैसी पहिले थे वैसे ही रचा। प्रयोजन इस का यह है कि जैसी रचना पूर्व काल में होती है प्रलय के पीछे वैसी ही फिर होतीहै तो यह बात कभी सच नहीं होसकती कि एककल्पमें रचना अन्य प्रकारकीहो और दूसरेमें अन्य प्रकारकीहो फिर हम यहभी पूछतेहैं कि उत्पत्ति का वर्णन जो पुराणों में कल्पांतर भेदसे कईप्रकारका लिखाहै हम इसवर्त्तमान कल्पकी उत्पत्तिकोकिस से हुई मानें क्योंकि पुराणोंमें यहकहीं नहींलिखा कि अमुक कल्पकी उत्पत्ति ब्रह्मासे और अमुक की विष्णु, शिव तथा शक्ति से हुई है। सच तो यों है कि जिस की जो कुछ समझमें आया सो लिखमारा॥

प्र०—अठारहही पुराण व्यास जी के बनाये हुए हैं आप यह कैसे कहिते हैं कि जिस की जो कुछ समझ में आया सो लिख मारा ?

उ०-व्यास जी तो वेद वेदांग को जानने वाले थे वे वेद विरुद्ध बात क्यों लिखने लगेथे। वेद में तो यह लिखाहै य०अ०३१:—

"ततो विराड जायत विराजो अधि पुरुषः।

"सजातो अत्यरि च्यत पश्चाद्भूमि मथोपुरः।"

अथर्व कांड ११ प्रपाठ २४ अनु० २ मंत्र २७ में यह लिखाः—

"देवाः पितरो मनुष्याः गंधर्वा प्सरस श्चये।
उच्छिष्टा ज्जज्ञिरे सर्वेदिविदेवा दिविश्रिताः"

अर्थ—उस परमात्मासे विराट हुआ अर्थात् विराटका शरीर हुआ। विराट से अधि। अधिक पुरुष हुआ। वह जन्म लेते ही ज्ञान, बुद्धि के प्रताप से श्रेष्ठ वा बड़ा गिना गया। फिर पहिले ईश्वर ने पृथिवी को रचा फिर शरीर को। दूसरे मंत्र का अर्थ पीछे हो चुका है। अब सोचो वेद में संसार की उत्पत्ति ईश्वर से है तो व्यास जी ने पुराणों में शक्ति, शिवादि से कैसे लिखी?

प्र०-शक्ति, शिवादि नाम सब ईश्वर के ही हैं यद्यपि व्यास जी शक्ति, शिवादि से उत्पत्ति लिखते हैं परंतु भाव उन का यही है कि ईश्वर से हुई है फिर इस में क्या दोष है?

उ०-यदि शक्ति, शिवादि नाम सब ब्रह्म के ही हैं तो पुराणों में जहां उनके रूप लिखे वहां ब्रह्म कैसे समझोगे। जैसा कि शक्ति की आठ भुजा और शिव जी के पंचवक्त्र और विष्णु चतुर्भुज हैं। वेद में ब्रह्म का लक्षण यह लिखा है कि-य० अ० ४० मं० ८:—

"सपर्य्यागा च्छु क्रम कायम्"

अर्थ-वह ईश्वर सर्व व्यापी, शुद्ध, अकाय अर्थात् कायासे रहितहै॥

और भला व्यास सरीखे पंडित जन कहीं दो और दो चार और कहीं दो और दो पांच लिख सकते हैं॥

फिर पुराणों की कथा और प्रसंग भी वेदसे विरुद्ध दिखाई देते हैं जैसा कि वेद में कहीं नहीं लिखा कि किसी मनुष्य की उत्पत्ति नासिका से और किसी की कान से और किसीकी मैल से और किसी की माथे से हुई है। पुराणों में ऐसी अनेक कथाहैं कि नाशिकेत नाशिकासे और कर्ण और हनुमान कान से और गणेश पार्वती की मैल से और शिव जी ब्रह्मा के मस्तक से उत्पन्न हुआ है॥

प्र०-ईश्वर सर्व शक्तिमान है यदि उसने क्रम विरुद्ध रचना भी कर दी हो तो क्या आश्चर्य है ?

उ०-क्रम विरुद्ध में तो दुर्जनतोष न्यायसे चाहे हम इस समय कुछ आश्चर्य नहीं भी मानते परंतु वेद विरुद्धमें आश्चर्य होता है क्योंकि जो बात वेद विरुद्ध हो वह मानी नहीं जाती। यदि कहो वेदमें संसार का सब कुछ नहीं लिखा कि जिस में कान नासिकादि की उत्पत्ति भी लिखी जाती तो हम कहेंगे वह पूर्ण ग्रन्थ नहीं फिर उसे पूर्ण परमेश्वर का कृत क्यों मानते हो॥

बस जो कुछ पुराणों में लिखा वह वेद में नहीं और जो वेद में है वह पुराणों में नहीं यह बात देखके हम स्पष्ट कहि सकतेहैं कि पुराण न तो वेद मूलक हैं और न व्यास जी के रचे हुए हैं॥

जैसे वेद पुराण मनुष्यों के रचे हुए ग्रन्थ हैं किसी बात में सच्चा और किसी में झूठा उन का कथन है उसी प्रकार अन्य मतोंके ग्रन्थ भी जान लेने चाहिये कि जिन को वे ईश्वर की वाणी कहितेहैं। हम सच कहिते हैं कि न कोई ईश्वर है न कोई उस की वाणी है ये सब ग्रन्थ बुद्धिमानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार रचे हुए हैं। हां इतना सच है कि कोई उन में पुरातन और श्रेष्ठ उपदेश देताहै जैसा कि वेद शाखादि हैं और कोई नवीन और अश्रेष्ट उपदेश करता है जैसा कि अन्य मतोंके ग्रन्थहैं जिनमें हिंसादि कुछ दोष नहीं लिखा और किसी मनुष्य को परमेश्वर ने जगत की कल्याण के लिये भेजा मानते हैं॥

प्र०-क्या परमेश्वर जगत की कल्याण के लिये किसी मनुष्य को नियत नहीं कर सकता ?

उ०-प्रथम तो परमेश्वर ही अब लों युक्ति सिद्ध नहीं हुआ। फिर यदि उसने सारे जगत की कल्याण के लिये उसे भेजा था तो सब ने उसे अपना मार्गदर्शक क्यों न माना। फिर जो काम ईश्वर ने उसके द्वारा सिद्ध किया क्या वह आप नहीं अपनी शक्तिमात्रसे कर सकताथा॥

फिर हम यह पूछते हैं कि किसी ने कोई और पुरुष ईश्वर का भेजा हुआ माना है और किसी ने कोई और। क्या वे सब ईश्वर ने भेजे थे अथवा उन में से कोई एक। यदि समय२ पर सब भेजे थे तो

सूर्य्य, चंद्रादि पदार्थ क्यों न समय २ पर नये भेजे। यदि कोई एक भेजा था तो उस में पूर्ववर्त्ती संसार का कल्याण कैसे हुआ और उन के मरने के पीछे क्या दशा हुई। यदि कहो उन के पूर्व परमेश्वर अपनी कृपा से लोगों का उद्धार करता था और उन के पीछे उन के धर्म पुस्तकों से लोगों का उद्धार होता है तो हम कहेंगे जिस कृपा से वह पहिले उद्धार करता था उस समय क्या वह कृपा पुरानी हो गई। और जो तुमने पुस्तकों की बात कही उन पर हमारे वेही सब संदेह हैं जो प्रेषित पुरुषों पर हमने ऊपर किये हैं ॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत प्रवाहोत्तर भागे परा-विद्यायां वेदादि निर्णयश्चतुर्थ स्तरङ्गः ॥ ४ ॥

ओ३म्

॥ श्री परम गुरवे नमः ॥

॥अथ सत्यामृतप्रवाह नामग्रंथस्य उत्तरभागः॥

अथ पञ्चम तरङ्गस्यारम्भः क्रियते

॥ अथ जीव निर्णयं व्याख्या स्यामः ॥

प्रश्न—ईश्वर और वेदका निर्णय तो मैंने सुना अब जीवका निर्णय सुनाइये

उत्तर—जीव का निर्णय हम बड़े आनंद से सुनायेंगे कि जिस के न सुनने से लोगोंने उसे देह से कुछ भिन्न पदार्थ माना हुआ है ॥

प्र०—क्या आप जीवात्मा को देह का रूप ही समझते हैं जिस को सब विद्वान आजलों देहसे विलक्षण मानते चलेआये। हमारी समझ में तो आत्मा ठीक देह से भिन्न पदार्थ है और लक्षण उसका यह है जिस के होने से देह में ज्ञान और क्रिया शक्ति दिखाई देती है वह आत्मा तथा जीव वस्तु है। वह देह में नख से शिखा पर्यंत व्याप्त है उसका रंग रूप कुछ नहीं। जब वह देहसे निकल जाताहै देह काष्ट पाषाण की नाईं जड रहि जाता है फिर चाहे कोई देह को काट डाले चाहे दग्ध करे कुछ दुःख सुख प्रतीत नहीं होता। उस जीव के विषय में गोत्तम मुनि ने यह सूत्र लिखा है:—

"इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञाना न्या त्मनो लिंगम्"

अर्थ—सुखकी इच्छा दुःखसे द्वेष प्रयत्न और सुख दुःख ज्ञान ये छै जीवात्मा के चिन्ह हैं। यद्यपि देह के साथ उसका तादात्म्य

संबंध है तथापि वह देह का कोई अंग नहीं। यदि उस को देह का कोई अंग मानो तो देह के न्यून अधिक और स्थूल कृश होनेसे आत्मा भी अवश्य न्यून अधिक और स्थूल कृश होना चाहिये। देह के साथ न उसकी उत्पत्ति है न विनाश है वह एक स्वतंत्र द्रव्य है और उसका नाम जीवात्मा है। फिर आप उसे क्या मानते हो?

उ०-प्रथम तुमने कहा आत्मा वह है कि जिस के होने से देह में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दिखाई देतीहै और जिसके निकल जाने से ज्ञान और क्रिया नष्ट हो जाती और देहको काटने फाटने का दुःख प्रतीत नहीं होता इत्यादि। इसका उत्तर हम यह देते हैं कि किसी उन्मादक वस्तु के सूंघने वा खाने पीनेसे जब मूर्छा वा अत्यंत उन्माद होता है ज्ञान और क्रिया शक्तितो देह में उस समय भी कोई नहीं रहिती उस समय क्या आप आत्मा को कहीं निकल गया मानते हो। यदि निकल गया मानो तो मूर्छा और उन्माद के नष्ट हुए फिर आत्मा का आगमन कहां से हो जाता है। यदि कहो आत्मा के पास मन नाम एक इंद्रिय है जिस की द्वारा वह सुखादिकों को उपलब्ध करताहै सो जब उन्मादक वस्तु ने मन को व्याकुल कर दिया तो आत्मा के ज्ञान क्रिया प्रतीत नहीं होते तो सुनो जब तुम इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान इस षट्क को आत्मा के गुण मानते हो तो सुखादि उपलब्धि का साधन भूत मन नाम एक भिन्न वस्तु के मान लेने में क्या युक्ति है। यदि कहो आत्मा निकल नहीं गया किंतु उन्मादक वस्तु के संयोग से उसके ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव हो जाता है तो हम कहेंगे उन्मादक वस्तुका संयोग देह के साथ हुआ है आत्मा के साथ नहीं हुआ क्यों कि वह निरवयव है फिर आत्मा के ज्ञान क्रिया का तिरोभाव क्यों हुआ। यदि कहो आत्मा की इच्छा ज्ञानादि गुण देह के साथ मिलके प्रकट होते हैं सो आत्मा जो देह में व्याप्त है जिस वस्तु का संयोग देह के साथ हुआ उसका आत्मा के साथ भी अवश्य हुआ तो हम पूछते हैं कि आत्मा तुमने संपूर्ण देह में व्याप्त माना उन्मादक वस्तु का संयोग जब हाथ पांव से होताहै तो उस आत्माके ज्ञानक्रिया का तिरोभावक्यों नहीं होता। क्या कारणहै कि आत्मा व्याप्त तो सारेदेहमें हो परंतु

उन्मादक वस्तुका संयोग। आत्माके साथ केवल हृदय औरनासिका में पहुंचनेसे माना जावे यदि कहो कि नासिका द्वारा शिर में और हृदय में उन्मादक वस्तु के पहुंचनेसे आत्माके ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव इस हेतुसे होताहै कि उस देशमें आत्माका निवास अधिक है तो इस कथन से तुम्हारे मत में कई दोष आयेंगे ॥

एक यह कि एक ही वस्तु का निवास एक ही समय हृदय और शिर दो स्थान में होना असंभव है॥

दूसरा यह कि जब वह देह में नखसाग्र व्याप्त है तो उन स्थानों में अधिक निवास क्योंकर मान लिया ॥

तीसरा यह कि शिरो भाग और हृदय भाग में ही यदि आत्माका अधिक निवास है तो हस्त, पाद, कान, नेत्रादिके दुःख सुखकी पूरी प्रतीति न होनी चाहिये ॥

चौथा यह कि शिरोभाग और हृदयभाग में भी किसी सूक्ष्म अंश के साथ आत्मा का संयोग मानना पड़ेगा कि जहां पहुंचनेसे उन्मादक वस्तु आत्मा के ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव करती है। यदि यह माना तो हम कहेंगे उस सूक्ष्म अंशको ही आत्मा क्योंनहीं मान लेते कि जिस के साथ उन्मादक वस्तु का संयोग होने से संपूर्ण देह के ज्ञान क्रिया का तिरोभाव होगया। और उसी सूक्ष्म अंशके प्रफुल्लित और संकुचित होने का नाम जागृत स्वप्न और सुषुप्ति तथा जीवन और मरण रक्खो। उस से भिन्न किसी अन्य वस्तु को आत्मा मान लेना गौरव है। उसी की यथार्थ स्थिरता वा साम्यावस्था से संपूर्ण देह में प्रकाश है और वह देह का एक प्रधान अवयव है। वह विभु नहीं किंतु एक देशी है॥ यदि कहो एक देशी है तो हाथ,पैरके सुख दुःख को कैसे जाना जाता है तो उन अंगों का परंपरा संबंधसे हृदय के साथ संबंध है। जैसा कि हाथ कलाईके साथ संबद्धहै और कलाई कोहनी के साथ। फिर वह भुजा के साथ और भुजा स्कंध के साथ। स्कंध कंठ के संग लगा हुआ और कंठ छाती के संग तथा छाती हृदय के साथ लगी हुई है अतः हृदय को सब का ज्ञान है॥ सीधी और सच्ची समझ तो यही है कि हृदय अथवा शिर का कोई सूक्ष्म अंश आत्मा है और ज्ञान उस का गुण है जो आत्मा के मुरझा जाने

से नष्ट हो जाताहै। यदि कहो हां हृदय वा शिर के किसी एक देश में ज्ञान शक्ति ठीक है परंतु आत्मा पदार्थ फिर भी कुछ न्यारा है तो बताओ उस आत्माका कौन सा कार्य देह में है जिसको देख के उस का सद्भाव माना जावे ॥

फिर जो तुमने यह कहा था कि उसके निकल जाने से देह जड़ रहि जाता है इस में हम यह पूछते हैं कि उसको देह में डालता कौन और निकाल कौन देताहै। यदि कहो वह आपही देहमें आता और आपहीनिकलजाताहै तो हम आने जानेका हेतु पूछेंगे कि किस हेतु से आता और निकल किस हेतुसे जाताहै। और यह पूछेंगे कि जीव तो सदा देह को स्थिर रखना चाहता है फिर वह निकल के इसको अस्थिर मृतरूप क्यों बना गया ॥

यदि कहो देह में इसको डालना और वहां से निकालना ईश्वर के आधीन है तो पीछे ईश्वर के निर्णय में यह बात दृढ़ प्रमाणों से सिद्ध होचुकी कि ईश्वर कुछ वस्तु नहीं केवल भयानक रोचिक शब्द है। फिर अब कौनसा ईश्वर जाग उठा ॥

फिर जो तुमने यह पूछा कि आत्मा को देह का अंग मानने से देहके स्थौल्य कार्श्य और न्यूनाधिक्य से उसको स्थूल कृश होना चाहिये इसका उत्तर भी यहीहै कि देह का स्थौल्य कार्श्य और न्यूनाधिक्य जब देह को उस दशा लों पहुंचे कि जहां शिरोभाग और हृदेश की उस सूक्ष्म अंशको कुछ फल होतो आत्मा के ज्ञान क्रिया में भी हम अवश्य न्यूनाधिक्य देखतेहैं। जैसाकि जन्मके समय आत्मा को छोटा होनेके कारण उसके ज्ञान क्रिया भी छोटे होतेहैं। युवावस्था में बड़े होते हैं। चाहे हृदय खंड के छोटे बड़े होनेसे इच्छा, द्वेष,प्रयत्न,सुख, दुःख, ज्ञान यह षट्क कुछ न्यून अधिक दिखाई देता है परंतु बीज इस षट्क का हृदय के साथ जन्म काल में ही प्रकट होजाता है क्योंकि स्वभाविक गुण गुणी के सदा साथही होते हैं जैसा कि जिह्वा का मांसखंड चाहे छोटा हो परंतु रस ग्राहकत्व गुण उस का प्रथम से ही साथ होता है ॥

फिर जो आपने यह माना था कि आत्मा की देह के साथ न उत्पत्तिहै न बिनाश वह एक स्वतंत्र द्रव्य है यह कथन भी आपका नि-

बल है। देखो देहके साथ यदि उसकी उत्पत्ति विनाश नहीं और वह स्वतंत्र द्रव्यहै तो देहको बिना कहीं हमको दिखाना चाहिये क्योंकि जल से भिन्न स्वतंत्र द्रव्य अग्नि है सो हम दिखा सकते हैं। यदि कहो वह अभौतिक पदार्थ होने से इन नेत्र, कान, नासिका त्वक, रसना से नहीं देखा जाता इसी हेतु से वह इंद्रियों के अगोचर है तो जिन नेत्रोंसे दिखाई देताहै और जिस इंद्रियसे उसको आपने विषय किया हमको भी वही अर्पित करो अर्थात् देहसे भिन्नआत्माको जिस रीति और युक्ति तथा जिस इंद्रिय से आप ने देखा वा समझा है वैसे हमें भी समझाइये वा दिखाइये। यदि कहो तुम्हारी बुद्धि निर्मल नहीं तो सुनिये प्रथम तो मैं विद्यावान हूं और सूक्ष्म पदार्थों को तुम से अधिक वा न्यून समझ सकता हूं। दूसरा युक्ति सिद्ध सच्ची बात के मान लेने में मुझे कोई हठ नहीं। यदि फिर भी तुम मेरी बुद्धि को अनिर्मल कहि के पल्ला छुड़ाते हो तो देखो वह आकाश में स्वर्ण का हाथी उड़ाजाता है। यदि कहो हमें दिखाई नहीं देता और हाथी स्वर्ण का होना हमारी बुद्धि में नहीं आता तो मैं कह दूंगा तुम्हारे नेत्र और बुद्धि निर्मल नहीं॥

प्र०—आत्मा को देह से भिन्नजानने में यह युक्ति भी है कि देह पर यदि एक लकीर खेंचके उसी स्थान पर उसके ऊपर दूसरी लकीर वा छाप लगाई जावे तो पहिली लकीर वा छाप मिट जायेगी परंतु आत्मा में किसी एक बात का ज्ञान होनेसे यदि दूसरी तीसरी बात को उसके सामने करें तो वह प्रथम ज्ञानभी बना रहिता और दूसरी तीसरी बातका ज्ञान भी बना रहिताहै सो इसभांति देह और आत्माके स्वभाव में विलक्षणता देखके दोनों का वैलक्षण्य दिखाई देता है?

उ०—हम यह तो नहीं कहिते कि तुम जीव को देह समझो और देह को जीव समझोकि जिसपर लकीरका दृष्टांत देना पड़ा तात्पर्य हमारा यह है कि देहसे भिन्न स्वतंत्र जीवकी स्थिति युक्ति द्वारा सिद्ध करके हमें दिखाओ जिससे शास्त्रकी वह बात सच्ची होजावे कि इस देह से पूर्व जीव ने जो २ कर्म किसी अन्य देह में किये थे उन का फल यहां भोगता और यहां का आगे भोगेगा। देह से भिन्न वह क्या

वस्तु है जो पहिले था और आगे को रहेगा। जो तुमने लकीर और ज्ञानका दृष्टांत देकर देह और आत्माका भेद सिद्ध किया यह दृष्टांत यहां विषम पड़ताहै क्योंकि लकीर सावयव पदार्थहै जो सावयव देह पर पड़े तो दूसरी लकीरको स्थान नहीं रहिता परंतु ज्ञान कोई सावयव पदार्थ नहीं जो सावयव आत्मामें पड़नेसे दूसरी वस्तु के ज्ञान को स्थान न रहिने देवे। फिर हम यह भी कहेंगे कि घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञान कहिने से घट पट आदिक पदार्थों में भेद है ज्ञान वस्तु एकही है। वह ज्ञान दो प्रकारका होता है। एक अनुभव रूप दूसरा स्मृतिरूप। किसी वस्तुको प्रत्यक्ष में अनुभूत करना अनभव ज्ञान है। अनुभूत पदार्थ को कालांतर में स्मर्ण करना स्मृति है सो ये दोनो ज्ञान रूप होने से एकही पदार्थ हैं इनके साथ लकीर का दृष्टांत नहीं मिल सकता। फिर तुम यह बात भी स्मृत रखो कि ज्ञान को हम देह का गुण मानते हैं और देह को हमारे मत में आत्मा मानते हैं। देहसे भिन्न कोई पदार्थ आत्मा नहीं जिसपर आप लकीर का दृष्टांत देते हो ॥

प्र०—क्या आप जीव का इस देह के पूर्व होना नहीं मानते और इस देह को छोड़ के किसी दूसरी देहमें जाना सच नहीं जानते ?

उ०—इतनाती मानतेहैं कि इस देहके पूर्व पिताकी देहका जीव वर्त्तमान था परंतु हम यह नहीं मानते कि पुत्र की देह का जो जीव है वह पिता के देह से भिन्न अन्य स्थान में पहिले ही वर्त्तमानथा अथवा पिता की देह का जीव ही पुत्र की देह में आ-गया है। यदि किसी अन्य स्थान का जीव अन्य स्थान में आता जात हो तो कोई युक्ति प्रमाण कहो। और यदि पिता की देह का जीव पुत्र की देह में आ-जाता है तो संतान को उत्पन्न करके पिताको जीते न रहिना चाहिये। हम तो जीव को अग्नि के तुल्य समझते हैं। जैसे अग्नि के साथ ईंधन मिलाने से उस ईंधन में वह सारा अग्नि आ-जाने से भी वह पहिला अंगारबुझ नहीं जाता वैसे पुरुष के साथ स्त्री मिलाने से नख से शिख पर्य्यंत सारा पुरुष उसमें आजाने पर भी पूर्व पुरुष मृत नहीं हो सकता क्योंकि चाहे गिनती में अनेक हैं परंतु वस्तु में सब पुरुष एक ही हैं ॥

प्र०-अन्य स्थान से जीव का आना जाना क्या इस युक्ति से सिद्ध नहीं होता कि संसार में जो जीवों की अनेक दशा देखी जाती हैं ये पूर्व कर्म के आधीन हैं और पूर्व कर्म जीव ने किसी पूर्व देह में किये होंगे जिस के मिट जाने से भी जीव पदार्थ मिट नहीं सका किंतु यहां दूसरे देह में आ-प्राप्त हुआ ॥ जैसा कि कोई सुखी कोई दुःखी, कोई निर्द्धन, कोई स-धन, कोई पंडित, कोई मूर्ख इस तारतम्य का कारण इसके विना और कुछ समझ में नहीं आता कि ये सब जीव इस जन्म के पूर्व किसी अन्य देह में वर्त्तमानथे जिस ने वहां जैसा कर्म किया वैसा फल यहां आ-पाया। और यहां जैसा करेंगे वैसा आगे पायेंगे ?

उ०-यहां के तारतम्य के हेतु जब यहां ही दिखाई दें तो पूर्व कालीन अदृष्ट कर्म और पूर्व काल में जीवों की स्थिति मान लेने में क्या कारण है। जैसा कि देखो यहां के तारतम्य के हेतु हम यहां ही दिखाते हैं। सुनोः—

यहां के दुःख सुख दो प्रकार के होते हैं-एक कायक, दूसरे मानसिक। सो कायक दुःख और सुखों का हेतु तो खान, पान, शीत, उष्ण, रोग, भोग तथा अनुकूल प्रतिकूल पदार्थोंका संयोग वियोग होता है। और मानसिकदुःखों का कारण अज्ञान, अभिमान, राग,द्वेष, तृष्णा, भय, क्रोधादिक औगन होते हैं और मानसिक सुखोंका कारण इन के विपरीत श्रेष्ट गुणों का संचय होता है। इसी प्रकार विद्या बुद्धि, प्रयत्न, बल, रूप तथा संयोगादि कई एक गुण मनुष्य को धनवान बनाने का मुख्य कारण हैं। और सदुद्यम और सदभ्यासादि श्रेष्ट गुण विद्वान बन जाने का कारण हैं यदि इन से विपरीत कोई अन्य कारण हो तो बताइये ॥

प्र०-अनेक स्थानों में आप के बताये हुए कारण विद्यमान होतेहैं तो भी कायक और मानसिक सुख दुःख देखे नहींजाते और कहींर उन कारणों में से एक भी वर्त्तमान नहीं होता पर सुख दुःखादि अवश्य हो जाते हैं इस व्यतिक्रम का क्या कारण है। जैसा कि देवदत्त ने सारा आयु उद्यमादि किये,धनादि पदार्थ प्राप्त नहीं हुए और यज्ञदत्त बिना ही उद्यम के धनवान होगया इत्यादि स्थानों में क्या

पूर्व कर्म की प्रधानता नहीं आती ?

उ०-हम कभी अंगीकार नहीं करते कि पूर्वोक्त हेतुओंके अभावमें धनादि पदार्थों का भाव और उन के भावमें धनादि का अभाव कहीं हुआ हो। यदि हुआ भी होगा तो इन्हींमें से कोई और प्रत्यक्ष कारण वहां निकलेगा पूर्व अदृष्ट कर्म उसका कारण नहीं॥

प्र०-इस का क्या कारण कि किसी पुरुष के सिरपर अचानक छत्त गिरने अथवा अचानक किसी ईंट पत्थरके लगनेका दुःख और कहीं मार्ग में से अचानक धन प्राप्ति रूप सुख उसे मिल गया कि जिस के निमित्त उस ने कुछ उद्यम और यत्न नहीं किया था ?

उ०-यह तो प्रत्यक्ष पड़ी बात है कि वह उस छत्तके नीचे बैठाथा कि जो पहिले ही किसी हेतु से अत्यंत निर्बल होरही थी। और वह उस ईंट वा पत्थर के आगे आगया जो उस प्रदेश को छूटा हुआथा। यदि कहो उसने उस दुःख सुख के लिये कुछ उद्यमादि नहीं किये थे तो हम पीछे ज्ञानको सुखका कारण कहि चुके हैं। सो जब ज्ञान को सुखकी कारणता है तो अज्ञान को दुःख की कारणता आई। सो उस जन को जो इस बातका अज्ञान था कि छत्त टूटी हुईहै अथवा इधरको ईंटपत्थर छूटा हुआहै अत: उसको दु:खी होना पड़ा॥

मार्ग में चलते २ जो उसे धनका मिलना कहा इस में भी वही कारण है कि वह उस मार्ग में चल रहाथा जहां धन पड़ा था। फिर हम यह भी कहिते हैं कि यदि उसका ध्यान न पड़ता तो उस मार्ग में चलना भी कुछ फल न करता। यदि फिर भी यही कहो कि पूर्व कर्म के अनुसार उसे वह धन मिलना ही था तो मैं इस बातको तब सच मानूं कि यदि वह मनुष्य किसी अन्य मार्गमें चले और वह धन यहां से चलके वहां ही जा पडे॥

प्र०-आपने ज्ञान, प्रयत्न, संयोग और सदभ्यास आदिकों को सधन और विद्यावान् होने का कारण माना भला यदि हम यह मानें कि जिस ने वह सदुद्यम और सदभ्यास करने का उत्साह अथवा सदुद्यम औ सदभ्यास का विनाशक आलस्य मन में डाला वह पूर्व कर्महै तो इसका उत्तर आप क्या देते हैं ?

उ०-इसका उत्तर यही है कि मनुष्य का मन दो स्वभाव सदा से

रखता है। एक यह कि कवी किसी काम का उद्यम करना। दूसरा यह कि कवी किसी काम में आलस्य करना। सो यदि इन दोनों स्वभाव में से कोई बात आगे आगई तो यह मन का स्वभाविक धर्म है इस में पूर्व कर्म की कुछ कारणता नहीं ॥

प्र०-इस में क्या हेतु कि एकही उद्यम दो पुरुष करते हैं एक को फल होताहै दूसरे को नहीं होता अथवा न्यूनअधिक फल होता है?

उ०-जिसको फल नहीं हुआ अथवा थोड़ा फल हुआ उसके उद्यम में कुछ हानिहै जैसाकि एक पुरुष सूई से माटी खोदता है दूसरा कसी से। सारा दिन समान उद्यम करने पर भी सूई वाले के पास कसी वाले के तुल्यमाटी एकट्ठी नहीं होगी। क्योंकि यद्यपि उद्यम दोनों का समान है परंतु उद्यम के साधन में हानी है अर्थात् सूई छोटी और कसी वड़ी है। हम सच कहितेहैं कि संसारके सुख दुःख तथा समस्त कार्य यहांके कर्मकाही फलहैं पूर्व कर्म माननेमें गौरव है॥

प्र०-क्या गौरवहै उलटा हम तो यह देखतेहैं कि संपूर्ण दुःख,सुख तथा समस्त कार्य्यों की सिद्धि को पूर्व कर्म पर छोड़ने से परम संतोष और शांति हो जाती है?

उ०-यदि सब दुःख सुखादि को और यहां के इच्छा, प्रयत्न, उद्यमादि को पूर्व कर्म के अनुसार माने तो एक भारी गौरव यह है कि फिर आगामी कर्म कोई सिद्ध नहीं होवेगा। क्योंकि किसी पूर्व कर्म के बल से हमने यहां चोरी वा दान किया। अब वह चोरी और दान तो किसी पूर्व कर्मका फल था जो अवश्यहोनहार था फिर इस का फल आगे क्या होवे गा। इसी प्रकार और भी कोई कर्म आगामी नहीं बन सकता ॥ दूसरा यह गौरव है कि पूर्व कर्म मान ने में संदेह बहुत खड़े होते हैं जैसाकि वह पूर्व कर्म किसी अन्य पूर्व कर्म का फल था फिर उसने इस जन्म में फल कैसे दिया क्योंकि उसको प्रारब्ध रूप होने से तुम भोग से क्षय होना मानते हो। अर्थात् जब वह भोग देके क्षय होचुका तो आगे को कुछ फल नहीं देसकता इत्यादि ॥ तीसरा यह गौरव है कि यदि सब कुछ पूर्व कर्म के अनुसार है तो हम यहां के कर्म का फल यहां ही क्यों देखतेहैं जैसा कि अब सूई चुभो लें तो अभी दुःखी हो जाते हैं। और अब सुखमें अ-

कर्रा डाल लें तो हम अबही मुख मीठा देखतेहैं। फिर आज बीज बोयें तो कलको उसका अंकुर निकल आताहै। और आजके भोजन से आज ही तृप्ति होजाती है। और आज किसी मार्ग में चलना आरंभ करें तो कल वहां पहुंच जाते हैं इत्यादि॥ यदि कहो सूई तब ही चुभोई जो कर्मानुसार इसका दुःख होनहारथा और शर्करा तब ही मुख में पड़ी जो मुख ने मीठा होनाहीथा। इसी प्रकार बीज का डालना और किसी वस्तु का खाना भी तबही हुआ कि जो वह अंकुर निकलनो और तृप्तिका होना उसके पूर्व कर्मानुसार अवश्य होनहार था तो सुनो दुःख होने में सूई का चुभना और मुख मीठा होने में शर्कराका खाना और अंकुर निकलने में बीजका डालना और तृप्तिके होनेमें भोजनका करना इत्यादि कार्य्य और कारणतो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं परंतु इस परोक्ष बात को हम कैसे मानलें कि वह सूई किसी पूर्व कर्म ने चुभोई है॥ फिर हम यह पूछते हैं कि पूर्व कर्म ने सूई चुभोई थी वा सूई चुभनेका दुःख पहुंचायाथा यदि कहो पूर्व कर्म ने केवल सूईही चुभोई थी तो उस दुःखका कारण कोई और कर्म मानना पड़ेगा। और यदि सूई चुभने और दुःख पहुंचने का कारण एकही कर्म को मानतेहो तो उस कर्मको उन दोनों व्यवहार का कारण क्यों मानते हो किंतु अनंत व्यवहारों का मानो। जैसेकि सूईसे दुःख हुआ, दुःख से व्रण हुआ, व्रण से ज्वर हुआ, ज्वर से वैद्य के आगे दीनता की, तथा वैद्यको कुछ द्रव्य दिया। उस से ज्वर की निवृत्ति हुई फिर विविध भोग भोगे इत्यादि। अब हम पूछते हैं कि वह पूर्व कर्म सूई के दुःख का हेतु है अथवा इन भोगों के सुख का जनक वा वैद्यको कुछ दिलाने का हेतु है॥

फिर हम कहते हैं कि पूर्व कर्मों के अनुसार जिन जीवों को पशु पक्षी आदिक देह प्राप्त हुए वह भक्तिज्ञान से हीन होने के कारण परम सुख मोक्ष के भागी तो होही नहीं सकते फिर उनपर ईश्वर की करुणा क्या हुई जिस के कारण तुम उसका नाम करुणानिधान दयासागर रखतेहो। यदि कहो उनको जो २ खान पान विषय भोगादि सुख प्राप्त होते हैं वह ईश्वर की करुणा से हैं तो उस सुखको जब आप पूर्व कर्मका फल मानतेहो तो करुणा कहां रही॥

प्र०—मनुष्यादि देहों में कोई सुख दुःख तो पूर्व कर्म के अनुसार होते हैं और कोई यहां के कर्म से होते हैं इस में क्या दोष है ?

उ०—पूर्व कर्म के अनुसार जो२ दुःख सुख होतेहैं उन का आपको नाम रखना चाहिये। और जो यहांके कर्म के अनुसार होतेहैं वे भी बताने चाहिये क्योंकि जब लों यह निर्णय नहीं होता संदेहकी निवृत्ति नहीं होती। हम कोई सुख दुःख पूर्व कर्म के अनुसार होता नहीं देखते किंतु सब कुछ यहां के कर्मानुसारही होता प्रतीतहोता है। हां इतनी बात है कि कोई सुख दुःख स्वकृत कर्म का फल है और कोई परकृत का फल है। स्वकृत कर्म का फल यह है कि हमने जल पिया और तृप्ति होगई। परकृत कर्म का फल यहहै कि हमको किसी अन्य का संचित धन अकस्मात् प्राप्त हो गया॥

प्र०—अन्य के किये कर्म का फल यदि तुम को प्राप्त होता है तो अन्य के जल पीने से आप की तृप्ति क्यों नहीं हो जाती। और जिस ने धन संचित किया उस को कुछ न मिला और आप ने कुछ उद्यम नहीं किया तो भी मिल गया इस में अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश ये दो दोष तुम्हारे मत में आयेंगे इन का उत्तर दो ?

उ०—प्रथम तो हम यह कहिते हैं कि अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश इन दोनों दोष के आ-जाने से हम को क्या कलंक अथवा कौन सा रोग उत्पन्न होता है और फिर हम यह कहिते हैं कि कोई कर्म तो ऐसे हैं जिन का फल कर्त्ता के बिना किसी अन्य को नहीं मिलता जैसा कि जिस ने जल पिया तृषा उसी की मिटेगी। और कोई कर्म ऐसे हैं जिस का फल कर्त्ता को भी पहुंचता और किसी अन्यको भी पहुंच जाता है जैसा किसीने धन एकट्ठा किया तो कोई न कोई मान उत्साह भोगादि फल कर्त्ताको भी अवश्य पहुंचा और फिरयदि किसी अन्य के हाथ आ-गया कोई न कोई फल उस को भी अवश्य पहुंचावेगा। कोई कर्म ऐसे हैं जिन का फल कर्त्ता को नहीं होता किंतु अन्यको हो जाताहै जैसा कि किसीने ईंट पत्थर वा बाण छोड़ा और किसी अन्य के जा लगा। अथवा कोई खेत बो के मर गया और उस खेत को किसी अन्य ने खाया। यद्यपि गिनती में वह खानेवाला जीव बोने वाले से भिन्न है परंतु जड़ को देखें तो उस का रूप ही

है क्योंकि वे दोनों पंचभूत का विकार हैं ॥

कर्मोंका पूर्वोक्त भेद जब आप समझ लेंगे तो अक्ताभ्यागम और कृतविप्रणाश रूप दोष हमारे मत पर कभी नहीं लगा सकोगे क्योंकि हम कभी नहीं कहिते कि किसी को अकृत कर्म का फल लगता हो जब लगेगा किये हुए कर्म का फल ही लगेगा चाहे आप करे चाहे कोई और करे। यहभी हम कवीनहीं कहिते कि कृतविप्रणाश हो जाताहै किंतु यह कहितेहैं कि किये कर्मका फलअवश्यहोगा चाहे वह हो जो उसने चाहा था और चाहे कुछ और हो जिसको उसने नहीं चाहा था ॥

प्र०-जिस फल को उसने चाहा वह ना होना और जिसको नहीं चाहा उसका होना इस में क्या कारण है?

उ०कवी २ तो यह कारणहै किउसने कर्मका फल अज्ञान से कुछ माना हुआ तो और था परंतु हुआ वह कि जो उस कर्मसे हुवा करताहै। जैसा कि किसीने स्वर्ग लोकमें जाने के लिये कुछ दानादि किये। सो स्वर्ग लोक तो कहीं वसता ही नहीं परंतु दानादि से सुकीर्त्ति और दाता भोक्ता के मनकी प्रसन्नता रूप फल हुआ करता है वह उस को होगया ॥

कवी २ वांछितकी अप्राप्तिऔर अवांछितकी प्राप्तिमें किसी बाधक व्यवहार का आ पड़ना कारण होता है जैसाकि देवदत्त छुरीसे लेखिनी वनाता था दृष्टिके उखड़ जानेसे अंगुली कट गई जिसको वह नहीं चाहता था। सो वस कर्म का वांछित फल न मिलने और अवांछित के मिल जाने में ज्ञान अज्ञान और बाधक साधक व्यवहारों का आपडना कारण है और कुछ नहीं हो सकता यदि हो सकता है तो युक्ति से सिद्ध करके दिखाओ ॥

एक बात हम आपको और पूछते हैं कि प्रलय काल में समस्त जीवों की दशा समान होती है वा भिन्न २? यदि समान होतीहै तो उसका नाम सुख है वा दुःख? और वह सुख दुःखकिसी कर्म का फलहै वा स्वतंत्र! कर्म का फल है तो सब के कर्मोंका समान होना असंभव है। और यदि स्वतंत्र हैतो आजके सुख दुःखको पूर्व कर्म के आधीन क्यों मानते हो स्वतंत्र ही मानो॥

यदि प्रलय काल में समस्त जीवों की भिन्न २ दशा मानते हो तो इस में कोई प्रमाण अपने शास्त्र का दो ॥ फिर हम एक और बात पूछते हैं कि यदि यहां के कर्म का फल जन्मांतर में होताहै तो इस बात का उत्तर क्या दोगे कि देवदत्तने तृषातुर यज्ञदत्त को जल पिलाया। सो वह जल पिलाने रूप क्रिया तो उसी समय नष्ट होगई कि जब जल पिला चुका। फिर उस अभाव रूप कर्मसे जन्मांतर में भाव रूप फल की उत्पत्ति कैसे हो जावे गी! यदि नष्ट और अभाव से भी तुम भावकी उत्पत्ति मानतेहो तो मृत पितासे पुत्रकी उत्पत्ति तुमको माननी पड़ेगी। यदि कहोकि कर्मका फल धर्म अधर्म रूपहो के आत्मा में संस्कार को छोड़ जाता है तो पूर्व कालीन पठित विद्या का संस्कार जीवको दूसरे जन्ममें होना चाहिये। फिर जब देह से भिन्नजीव कुछ वस्तु ही नहीं और देह मृत्यु के समय नष्ट होगया तो पूर्व कर्मके धर्मा धर्म जन्य संस्कार के रहिनेको कौन स्थान है ॥ यदि कहो किया हुवा कर्म ईश्वर के ज्ञान में स्थित रहिता है और वह उसका फल जीवों को देता है तो पहिले ईश्वर का होना युक्ति से सिद्ध करो। दूसरा ईश्वर की स्वतंत्रता दूर हो जावे गी क्योंकि वह जीवों को कर्म फल देने से किसी प्रकार रुक नहीं सकता। जीवों के कर्म और उनके फल देने के काल अनंत हैं फिर कोई काल ऐसा नहीं निकलेगा कि जब ईश्वर स्वतंत्र होके चैन से बैठे॥ यदि कहो स्वतंत्रता तब नष्ट हो जो वह कर्म का फल नित्य२ देवे उसने एक बार संकेत कर छोडा है कि जो जन जैसाकर्म करेगा वैसा फल पावेगा तो सुनो। प्रथम तो वह कहां है फिर संकेत क्यों किया तीसरा यदि वह कर्म का फल तुरंत देता तो कोई जन पाप न करता जैसा कि सांप को छेड़नेका फल जो तुरंत मिलताहै कोई उसे हाथ नहीं लगाता॥

प्र०–कर्म कोई सुतंत्र फल प्रदाता माने तो क्या हानि है?

उ०–एक तो बड़ी भारी हानि वही है कि कर्मका अभाव होगया हुवाहै उसने भाव रूप फल को कैसे उत्पन्न किया। दूसरी यह हानि है कि कर्म एक जड़ पदार्थ है उसने जन्मांतर में अपने कर्त्ता को कैसे पहिचाना॥

प्र०-यदि कर्म का अभाव हो जाता हो और भाव रूप फल को उत्पन्न न करे तो इस बातका क्या कारण है कि किसी ने अब विष भक्षण रूप कर्म किया और चार घड़ी के पीछे मृत्युरूप फल उत्पन्न हो गया ?

उ०-मृत्युरूप फलको उस भक्षणरूप कर्मने उत्पन्न नहीं किया किंतु विष और उदर के संयोग ने किया है जो मृत्युके समय लों वहां विद्यमान रहिता है। हां इतना सत्य है कि भक्षणरूप कर्म वहीं परंपरा संबंधसे मृत्युरूप फलका जनक है क्योंकि उसने अपने होते ही संयोग को उत्पन्न किया और संयोगने मृत्यु को उत्पन्न किया ॥

प्र०-फिर यहां भी ऐसा ही क्यों नहीं मानते कि पूर्व जन्मकी कर्म ने धर्म अधर्म रूप फल को उत्पन्न किया और उसने परम् परा संबंध से इस जन्म में सुख दुःख रूप फल को उत्पन्न कर दिया ?

उ०-विष भक्षणरूप कर्म से विष और उदर का संयोग हुआ था और वे दोनो वर्त्तमान पड़े थे। यहां पूर्व जन्म के किये कर्म में वह व्यवस्था पूरी नहीं आती। जैसा कि किसी जल वा अन्न दानरूपकर्म जो तुमने पूर्व जन्म में किया था उस का संयोग भोक्ता के हाथ और उदर के संग होके उसे प्रसन्न तो करेगा परंतु यह वात किस युक्ति से सिद्ध होती है कि जिस हाथ और उदरके साथ उस अन्न जलका संयोग हुआ था उस के चिता में दग्ध हो जाने से भी वह अभाव रूप कर्म तुम को जन्मांतर में फल देवेगा। हम सच कहिते हैं कि जब न दाता रहे न भोक्ता तब जन्मांतर में फल को कौन लेवे देवेगा। ये सब जीते जी की बातें हैं जो कर्म करोगे कुछ न कुछ फल उस का यहां ही पाओगे आगे कुछ नहीं जायेगा।

प्र०-तब तो किसी को सुखी करने का क्या प्रयोजन है और दुःखी करने में भय किस का है क्योंकि आगे को तो कुछ फल होता ही नहीं ?

उ०-आगे कुछ मिलो वा न मिलो परंतु यदि तुम किसी को सुख दोगे तो तुम को यहांही सुख मिल जावेगा और दुःख दोगे तो यहां ही दुःख प्राप्तहो जावेगा अर्थात् सुख दोगे तो वह सुखी पुरुष तुम को सुखी करेगा अथवा जगत में सुकीर्त्ति होगी अथच तुम्हारा मन

यदि या दुःख देने से इस के विरुद्ध फल होंगे और तुम दुःखी इस जिस प्रकार से तुम पूर्व कर्म का फल यहां चेतन मात्र को ही पूछ्ते समझते हो यह तो किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होता परंतु संचित प्रारब्ध आगामी कर्म की व्यवस्था जो कुछ हमने पीछे लगाई थी उस प्रकार से पूर्व कर्म के मान लेने में हम को कुछ भी हठ नहीं क्योंकि उस को हम सदा फल देता देखते हैं। अर्थात् पिता के देह में किया कर्म जो पुत्र रूप होके भोगता है वह संचित कर्म है. सवेरे किया जो सांझको भोगे वह प्रारब्ध और आज किया जो कल भोगेंगे वह आगामी कर्म है अन्य कल्पना सब झूठी हैं। कर्मका फल प्रदाता ईश्वर कोई नहीं किंतु परं परा संबंधसे कर्म आप ही अपने फलको उत्पन्न करता है जैसा कि विष भक्षणरूप कर्म ने विष और उदर संयोग को उत्पन्न किया उसने मृत्युको इत्यादि ॥

प्र०—हमारे समझे हुए पूर्व कर्मको तो आपने भला उड़ाया। अब प्रसंग में आइये कि देहसे आत्माको भिन्न और विलक्षण पदार्थ मान लेने में हानि क्या होती है ?

उ०—असत्य बात को सत्य मान लेने में जो २ हानियां हैं वे सब प्रसिद्ध हैं परंतु जीवको देह से भिन्न मानने में बड़ी भारी हानि एक यह है कि उसको परलोक दंड से बचाने और परलोक सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारके उपताप और कष्ट सहारने पड़तेहैं। जैसा कि देखो कोई अन्न जल को तज के दुग्धाधार से रहिता और कोई जल धारा और पंचाग्नि के दुःख को सहिता है। कोई दुःखोपार्जित द्रव्य को वृथा लुटाता और कोई आवश्यक सुख भोग और पदार्थों के अत्यंत त्याग में अपने अलभ्य आयुको गंवाता है इत्यादि ॥

प्र०—क्या आप परलोक के सुख दुःख भी नहीं मानते ?

उ०—पिता को पुत्र रूप बनजाना परलोक तो हम भी मानते हैं कि जो प्रत्यक्ष दिखाई देताहै परंतु यदि मृत्युके अनंतर किसी ऊपर वा नीचे के लोक में जीव मात्र के जाने का नाम परलोक यात्रा है तो हम कैसे मान लें क्योंकि पहिले देह से भिन्न जीव का होना ही किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होता फिर देह को छोड़ के आगे जाना किस का मान लिया जावे ॥

प्र०-आप क्या देह ही को जीवात्मा मानते हो ? बताइये तो सही यह जो देह में चेतन वस्तु है क्या है कि जिस के आश्रय देह में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दिखाई देती है ?

उ०-हम देह को जीवात्मा नहीं मानते किंतु देह ही मानते हैं परंतु जैसे देह के अंतरगत अंगों के नाम भिन्न २ हाथ, पांउ, कान, नयन, नासा, शिर, प्रभृति बोले जाते हैं वैसे ही हम एक अंग का नाम जीवात्मा मानते हैं कि जिस का नाम हृदय है और छाती के नीचे कुचों के मध्य में निवास करता और मांस का एक खंड है कि जिस के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, ये छे गुण हैं ॥

प्र०-उस हृदय खंड का उपादान कारण आप क्या मानते हो ?

उ०-पिता का वीर्य्य हम सारे देह का उपादान मानते हैं सो देह को ही एक देश का नाम जो हृदय खंड है इस हेतु से उस का उपादान भी हम वीर्य्य को ही मानते हैं ॥

प्र०-वीर्य्य तो एक जड़ पदार्थ है उस से इच्छा, द्वेषादि षट गुण विशिष्ट हृदय खंड कैसे उत्पन्न होगया ? और देह में जो नेत्र, मुख, नाक, कान आदिक अंगोपांग किसी काम के निमित्त बने हुए दिखाई देते हैं उनको नियम सहित स्थापन करने की शक्ति उस जड़ पदार्थ में कैसे हुई ?

उ०-वीर्य्य दशा में तो उस में अस्थि, मांस, रुधिर, त्वचादि पदार्थ भी दिखाई नहीं देते परंतु ज्यों २ उस में अवस्थांतर पड़ता जाता है त्यों २ उस में से वह सब कुछ प्रकट होता जाता है जो पिता के देह में अस्थि, मांस, रुधिर, प्राण, कान, मुख, हाथ, पांउ, नाभि, हृदय आदिक अंग उपांग तथा उनके इच्छा द्वेषादि गुण हुआ करते हैं। देखो कारणरूप बेरीके वृक्षमें जोर मूल, खंभ, डाल, पत्र, कांटा, पुष्प, फल, रसादि पदार्थ सनातनसे वर्त्तमान हैं कार्य्य रूप बेरीमें भी वे अपने आप प्रकट होजाते हैं इसमें कोई भी नियामक नहीं ॥

प्र०-तब तो पिताका संपूर्ण देह पुत्र देहका उपादान मानना पड़ेगा आप वीर्य्य मात्र को उपादान क्यों मान ते हो ?

उ०-वह वीर्य्य जो पिता के समस्त देह का निचोड़ है इस हेतु से यदि पिताके समस्तदेह को पुत्र के देह का उपादान मान लें तो

कुछ आश्चर्य्य तो नहीं परंतु माता की योनि में जो केवल वीर्य्य मात्र प्रवेश करताहै इस कारणसे पुत्र के देह का उपादान उसी को मानना श्रेष्ट है। उस वीर्य्य जन्य पुत्र देह में जो अंगोपांग तथा इच्छा द्वेषादि युक्त हृदय खंड प्रकट हो जाता है वह किसी अन्य का बनाया हुआ नहीं किंतु उस से यही कुछ बना करता है जो बन गया। यद्यपि कारण रूप वेरी का सारा वृक्ष परंपरा संबंधसे कार्य्य रूप बेरी का उपादान है तथापि कारण रूप बेरी का बीज मात्र फलित पदार्थ जो पृथिवी में गाड़नेसे कार्य्य रूप बेरी बन जाता है अतः उस बीज पदार्थको उपादान मानना श्रेष्टहै नकि पूर्व बेरीके सारे वृक्षको॥

प्र०- यदि वीर्य्य पिता के देह का निचोड़ मानते हो तो जिस पिता का नेत्र भंग वा हाथ पाउँ कटा वा टेढ़ा तिरछा हो उसके वीर्य्य से वैसा ही पुत्र उत्पन्न क्यों नहीं होता ?

उ०-सृष्टि के आरंभ में जिस जाति के वीर्य्य में जिस प्रकार के अंग ढंग बन ने का वल था अब भी वह वैसे ही अंग ढंग रूप को धारण करता है पीछे से जो विकार किसी देह में उत्पन्नहोजाते हैं वे पुत्र के देह में साथ नहीं आते। हां जिन भौतिक विकारों का प्रवेश वीर्य्य तक हो जाता है वे विकार पुत्र देह में भी अवश्य जाते हैं। जैसाकि आर्ष और कुष्टादि विकार हैं॥

प्र०-वीर्य्य को पिता के देह का निचोड़ वा उसका रूप क्यों मानते हो वह अन्नका निचोड़ वरन अन्नका रूप प्रतीत होता है क्योंकि अन्न के न मिलने से वीर्य्य की उत्पत्ति देखी नहीं जाती। अन्न नाम यहां किसी मुख्य वस्तु का नहीं किंतु जोर पदार्थ खान पान में आते हैं उन सब का नाम अन्न है ?

उ०- हां यह बात सत्य है कि वह अन्नका रूप है क्योंकि अन्नका अवस्थांतर है अवस्थांतर उसको कहिते हैं कि जो दुग्ध से दधि की नांई अन्य अवस्था को धारण कर ले और वास्तव में वही हो। जैसाकि अन्नसे रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस मांस से मेद, मेद से अस्थित, अस्थित से मज्जा, मज्जा से सप्तम, अवस्था में अन्नका ही नाम वीर्य बोला जाता है यदि अन्नप्रथम अवस्थामें ही वीर्य्य रूप है तो स्त्रीकी योनिमें रखनेसे पुत्र का देह बन जाना चाहिये। फिर

अन्न में जो इच्छा द्वेषादि षट्क दिखाई नहीं देता पुत्रकी देह में भी न आना चाहिये क्योंकि जो गुण कारण में होते हैं कार्य्य में वेही प्रकट हुआ करते हैं अन्यथा नहीं होते। हां इतना सत्य है कि अन्न क्या वरन परम् परा संबंध से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये पांचों तत्व देह का रूप तथा देह की स्वस्थता और स्थिति का कारण दिखाई देतेहैं इसी कारण उनको वीर्य्य तथा पुत्र देहका कई एक आचार्य्यों ने उपादान कारण माना है परंतु हमारी समझ में वे उपादान नहीं बन सकते क्योंकि उपादान वह होता है जो मुख्य कारण हो वे सब गौणहैं॥

प्र०-आप ने कहा अन्नमें इच्छा द्वेषादि षट्क न होने से इच्छादि षट गुण विशिष्ट पुत्र देह उसका कार्य्य नहीं माना जा सकता। इस में हमें यह शंका होती है कि इच्छा द्वेषादि षटगुण तो वीर्य्य में भी दिखाई नहीं देते फिर तज्जन्य पुत्र देह में कहां से आगये?

उ०-बेरीके बीजमें चाहे डाल, पत्र, पुष्प, फल, कांटे, उस की बीज दशा में दिखाई नहीं देते परंतु ज्ञान दृष्टि से विचारो तो वह सब कुछ उस में विद्यमान है कि जो बेरी के वृक्ष में सदासे होता चला आता है। यदि उसमें न होता तो तज्जन्न बेरीमें कहांसे आजाता। इसी भांति वीर्य्य में भी वह सब कुछ गुप्त विद्यमान है जो पिता की देह में सदा से चला आता है यदि न होता तो पुत्र की देहमें कहां से आ जाता॥

प्र०-बहुत लोग कहते हैं कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवीके जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच गुणहैं इनका गृहण तबही हो सकताहै जो आकाशादि पंचभूतके पांचज्ञानेंद्रिय देह में निवास कर तेहैं। जैसाकि आकाशके शब्द गुणका ग्राहक देह में आकाश से बना हुआ श्रोत्र इंद्रिय बसता है और वायु की स्पर्श गुण का ग्राहक वायु से बना हुआ देहमें त्वक् इंद्रिय वर्त्तमानहै। इसीप्रकार अग्नि का रूप ग्राहक चक्षु इंद्रिय और जल का रस ग्राहक रसना इंद्रिय और पृथि वी से बना हुआ उस के गंध गुण के गृहण करने वाला घ्राण इंद्रिय देह में निवास करताहै सो वे पांच ज्ञानेंद्रिय देहमें इस भांति न्यारे रहते हैं कि जैसे आत्मा देह से न्यारा पदार्थ है इस स्थल में आप

क्या समझते हैं ?

उ०-इंद्रिय रूप बन जाना पंचभूत का स्वभाव अपने आपहै अथवा किसी के बनाये बनता है ? यदि आप बने तो जड़ में यह विचार कहां कि शब्द का ग्राहक श्रोत्र बन जावे वा रूप का ग्राहक चक्षु बन बैठे। यदि कहो किसी अन्य के बनाये बनते हैं तो किस के ! क्या यहां फिर कोई ईश्वर मानना चाहते हो जिस पर अनेक संशय खड़े हो जायेंगे कि जिन को तुम ईश्वर निर्णयमें पीछे सुन चुके हो॥ हम सच कहिते हैं कि देहसे भिन्न इंद्रिय पंचक कोई पदार्थ नहीं और न कोई पदार्थ आत्मा है किंतु कान, नयन, नाशा द्वारा हृदय खंड ही शब्दादिको ग्रहण करता है॥

प्र०-भला ऐसा मानने में क्या हानि है कि क्षिति, जल, तेज, मरुत ये चार द्रव्य नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। परमाणुरूप तो नित्य हैं और कार्य्यरूप अनित्य हैं जो शरीर इंद्रिय और विषय भेद से तीन २ प्रकार के बन रहे हैं ?

उ०-यही हानि इस मानने में है कि नित्य परमाणुओं को एकट्ठा करके स्थूल बनाने वाला कौन है। और इंद्रिय, मन तथा आत्माको देह में डालने वाला कोई हाथ नहीं आता। यदि आता है तो युक्ति और आक्षेपों को नहीं सहारता जैसा कि ईश्वर निर्णय में कथन हो चुका है॥

प्र०-यदि कान, नयन, नासा द्वारा वह हृदय खंड ही शब्द, रूप, गंधादि को ग्रहण करता है श्रोत्र, चक्षु, घ्राणादि इंद्रिय कुछ भिन्न पदार्थ नहीं तो इसका क्या कारणहै कि शब्द का ग्रहण कान द्वारा ही हो अपने हृदय खंड को कहो कि शब्द को नेत्र द्वारा तथा रूप को कान द्वारा ग्रहण करे क्योंकि छिद्र२ सब समान हैं ?

उ०-मुख एक अंग है और उससे शब्द निकलता है परंतु अकारादि अक्षरों के उच्चारण की शक्ति सारे मुख को नहीं किंतु मुख में के भिन्न२ स्थानोंको है जैसाकि अकार और क, ख, ग, घ, ङ और हकार के उच्चारणकी शक्ति कंठको है। और इकार तथा च, छ, ज, झ, ञ, और य, श, के उच्चारण की शक्ति तालु को है। ऋ, और ट, ठ, ड, ढ, ण, तथा ष, के उच्चारण की शक्ति मूर्द्धा स्थान को तथा लृ

और त, थ, द, ध, न, ल, स, के उच्चारण की शक्ति केवल दंत स्थान को है। उ, प, फ, ब, भ, म, और विसर्जनीय के उच्चारण की शक्ति ओष्ठ स्थानको है किसी अन्यको नहीं। इत्यादि मुखके समस्त स्थानों में भिन्न२ शक्ति देखके यह बात सिद्ध होती है कि जैसे मुखांतर्गत स्थानोंमें भिन्न२ शक्तियांहैं वैसे देहांतर्गत स्थानोंकी शक्तियांभी भिन्न२ हैं जैसाकि कानमें शब्द गृहण शक्ति और त्वचामें स्पर्श गृहण शक्ति और नेत्र में रूप गृहण और रसना में रस गृहण तथा नासा में गंध ग्रहण शक्ति है। यद्यपि इन संपूर्ण छिद्रों द्वारा शब्दादि विषयोंका गृहण तो वह हृदय खंडही करता है तथापि एक२ विषय गृहणका द्वारभूत वे छिद्रही हैं। उन छिद्रोंमें जो किसी परोक्ष पदार्थ इंद्रिय को मानते हो यह गौरव है ॥ यदि फिरभी कानमें श्रोत्र और चर्ममें त्वक और नेत्र में चक्षु आदिक इंद्रिय को कुछ भिन्न पदार्थ मानते हो तो बताओ श्रोत्र इंद्रिय कानमें क्यों रहा नेत्रमें रहा होता इत्यादि। यदि कहो कान आकाश का अंशहै और शब्द आकाशका गुणहै अत: शब्द का ग्राहक इंद्रिय कानमें ही रहिनाथा तो तुम्हारे मतमें आत्मा के बिना और सब कुछ जड़ है फिर जड़ श्रोत्रइंद्रिय को यह ज्ञान कैसे हुआ कि कान आकाश का अंश है मुझे इसी में रहिना चाहिये तथा चक्षु को नेत्र में रहिना किसने सिखाया। फिर कान और नेत्र तो अन्य अंगों के समान हाड़, मास, रक्तकेही बनेहुए हैं इन को आप आकाशादिके अंश कैसे मानतेहो और छाती, पृष्ठि, कटि, नाभि को उन के अंश क्यों नहीं मानते। हम सत्य कहिते हैं कि जैसे मुखमें किसी स्थान को कवर्ग उच्चारण की शक्ति और किसी को चवर्ग उच्चारण की शक्ति है वहां कोई भिन्नउच्चारक नहीं वैसे देह के अंगों में भी कहीं शब्द गृहण की शक्तिऔर कहीं रूप गृहण की शक्तिहै उनसे भिन्न कोई इंद्रिय पदार्थ समझमें नहीं आता। यह बात भी यहां ही सिद्ध हो गई कि जैसे कवर्ग का उच्चारण तालु से और चवर्ग का कंठ से नहीं होसकता वैसे शब्द का गृहण चक्षु और रूप का गृहण कानभी कभी नहीं कर सकता ॥

प्र०यह तो सत्यहै कि शब्दादि बिषयों को कान आदिक स्थानों-द्वारा हृदय खण्ड ही गृहण करता है और करणादि विवर के बिना न

कोई वहां इंद्रिय है न आत्मा परंतु अब यह बताइये कि जो वस्तु उस के साथ स्पृष्ट हो अथवा सामनें आवे उसी वस्तु का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि इंद्रिय का और अर्थ का संन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होता है इसका क्या कारण है कि स्वप्न दशा में कोई पदार्थ भी उसके सामने नहीं होता और वह अनेक पदार्थों को देखता जानता, चाहता, छोड़ता, और दुःखी सुखी होता है ।

उ०-हमने कहा देह में किसी स्थान को रूप गृहणकी शक्ति और किसी को रस गृहण की शक्ति है फिर किसी स्थान को शब्द करने की शक्ति और किसी को शब्द के सुनने की शक्ति है वैसे ही हृदय स्थान को छै शक्तियां हैं जिनका नाम इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख ज्ञान, है अर्थात् ये छै ही गुण हृदय में रहिते हैं। ये ज्ञान गुण दो प्रकारका है एक स्मृतिरूप दूसरा अनुभव रूप। स्मृति रूप यह है कि पूर्व अनुभूत पदार्थोंके संस्कार जो हृदयमें पड़ रहे हैं उन का सामने हो आना जैसाकि निद्रामें स्वप्न देखना और जागृतमें पूर्व द्रिष्ट श्रुत पठित व्यवहारोंको सामनेहो आना। और अनुभवज्ञान वहहै कि जो पंच ज्ञानेंद्रिय द्वारा वा बुद्धि द्वारा देहके बाहर वा भीतर का नवीन ज्ञान हो जैसाकि बाहर से शब्दादि का ज्ञान और भीतर से क्षुधा, पिपासा, निद्रा, क्रोध, सुख, दुःख, का ज्ञान होताहै। तात्पर्य्य हमारे कथन का यह है कि हृदय खंडके बिना जीवात्मा कोई पदार्थ नहीं जब लों वह सावधान है तब लों दोनों प्रकार का ज्ञान देह में दिखाई देता है जब वह असावधान होतो लुप्त हो जाता है वह सारे देह का एक प्रधान अंग है और पंचभूत का अवस्थांतर है ॥

प्र०-बहुत से स्वप्न ऐसे हैं कि जिन को हमने कबी अनुभूत नहीं किया फिर आप उनको स्मृति रूप क्यों कहिते हो जैसाकि हम कबी आकाश में उड़े नहीं और स्वप्न में अपने को उड़ते देखते हैं ।

उ०-जो विषय अनुभूत नहीं उसका स्वप्न कबी नहीं आता यदि आता है तो पिछली शताब्दी में किसी को बाष्प शकट अर्थात् रेल गाड़ी का स्वप्न क्यों नहीं आया था । और जो तुमने आकाश में उड़ने की बात कही उसमें यह सोचो कि चाहे अपना उड़ना नहीं देखा था परंतु जागृत में तुमने पक्षियों का उड़ना तो देखा था जो निद्राके

वेग से तुमको उलटा दिखाई दिया ॥

प्र०-यदि काष्ठ खण्ड को कहीं पड़ा देखें तो वहां यह बात निश्चित हो सकती है कि यह अपने बीज से स्वतः ही उत्पन्न हो गयाहै परंतु यदि शकट अर्थात् छकड़ेको खड़ा देखें तो यह बात बुद्धिमें कवी नहीं आती कि यह काष्ठ खंड से स्वतः ही बन गया होगा क्योंकि उस के कील, धुर, चक्रादि अंगों में कोई मुख्य क्रिया दिखाई देतीहै कि जिन का कोई स्थापक मानना पड़ता है। वैसे ही यदि यह मनुष्य देह एक पिंडाकार डला सा होता तो चाहे स्वतः सिद्ध मान लेते परंतु इस के समस्त अंगों में जो कोई मुख्य २ शक्ति रहिती है अतः इस का कोई स्थापक मानना पड़ेगा। यदि स्थापक न होता तो एक छिद्र का काम दूसरे छिद्र से अवश्य ले लिया जाता ?

उ०-स्थापक तो मानो परंतु उसके माननेमें जो कई प्रकारके सन्देह उठने लगतेहैं जो पीछे ईश्वर निर्णयमें वर्णित होचुके उनका निवारण कैसे करोगे। निस्संदेह पक्ष तो यही है कि जिस बीजमें जोर अंग ढंग जिस२ स्थानमें होते और उनमें जो २ शक्तियां होती हैं वे अवश्य प्रकट होजाती हैं इसमें कोई नियामक नहीं। और यह बात भी उस बीज में ही छिपी हुईहै कि उसके अंग उपांग में जो रूप, गुण, नाम, शक्ति है वह सदा उसीमें रहितीहै अन्यमें नहीं होती। जैसाकि आम के बीज में यह शक्ति है कि उस से अंकुर और अंकुर से खंभ। खंभ से शाखा, शाखा से पत्र, पत्र से पुष्प, और पुष्पसे फल हुआ करे सो यह व्यवहार सदा से क्रम पूर्वक ही होता आता है। यद्यपि हम यह कहेंगे कि सब कुछ उस बीज में भरा हुआ है परंतु यह कवी नहीं हो सकता कि बीज से फल, और फल से अंकुर और अंकुर से पुष्प वा पत्र कोई जन ग्रहण कर सके जो पदार्थ और शक्ति बीज में से जिस दशा और जिस स्थान और जिस समय में उत्पन्न होती है वह सदा उसी में होगी अन्य में नहीं ॥

प्र०-यद्यपि आपने बहुत कहा परंतु मेरे निश्चय से यह बात दूर नहीं हुई कि जीव और देह भिन्न २ पदार्थ नहीं। हां इतना तो सत्य है कि जीवात्मा देह से भिन्न कहीं दिखाई नहीं देता परंतु यह बात हमारी बुद्धि में कवी नहीं आती कि जीवात्मा देह अथवा देह

का कोई अंगहो जैसाकि आप उसको हृदयरूप एक मांस खंड और देह का प्रधान अंग समझते हो ?

उ०- जो बात बहुत काल से किसी की बुद्धि में आरूढ हो रही हो उस का शीघ्र उठना कठिन होता है परंतु जब आप बारंबार इस बात को विचारोगे कि वह देह से भिन्न पदार्थ हो तो अवश्य कहीं अन्य स्थान में दिखाई देवे तब तुरंत हमारा कथन मन में बैठ जावेगा। यदि कहो वह कोई चाक्षुक द्रव्यनहीं जो दिखाई देवे तो हम कहेंगे अच्छा ज्ञान द्वारा तो उसका प्रत्यक्ष हम को कराओ कि जिस के साथ आपको उसका प्रत्यक्ष हुआ है ॥

दूसरी यह स्पष्ट बातहै कि यदि वह सारे देहमें व्याप्तहै तो देह की दो फांक करनेसे उस की भी दो फांक होती माननी पड़ेंगी। यदि कहो फांक सावयव पदार्थ की हुआ करती हैं वह निरवयव है तो हम कहेंगे अच्छा निरवयव की दो फांक तो चाहे न हों परंतु व्यापी पदार्थ को देहके दोनों टूक में कार्य्य तो देना चाहिये जैसा-कि जो अग्नि पाषाण में व्याप्तहै पाषाण के दो टूक करने से दोनों टूक में प्रतीत होता है क्या कारण है कि देह की दो फांक करने से दोनों में चेतन धर्म दिखाई नहीं देता। यदि कहो वहां चेतन तो विद्यमान है परंतु मन नाम इंद्रिय के न रहिने से सुख दुःखादि की उपलब्धि नहीं होतीतो यह कहिना सच नहीं क्योंकि तुम्हारे मत में मनका लक्षण यह है कि सुखादि की उपलब्धि का साधन जो इं-द्रियहै वह मनहै और वह आत्मा२ प्रति भिन्न२ रहिता है। अब सोचो कि जब दोनों फांक में चेतन अर्थात् आत्मा विद्यमानहै तो मन वहां क्यों न रहा क्योंकि जहां आत्मा हो तुम वहां मनका होना अवश्य मानते हो। फिर हम यह पूछते हैं कि यदि मन अणुरूप है तो आत्माके किसी सूक्ष्म देश में युक्त होगा फिर सारे देह के सुख दुःख की उपलब्धि आत्माको कैसेहोगी। औरफिर हम यह पूछतेहैंकि देह के चीरने से मन भी दो फाँक हो जाता है वा नहीं। यदि हो जाता है तो दोनों फाँका में आत्मा के इच्छा ज्ञानादि गुण दिखाई देनेचा-हिये। और यदि नहीं होतातो जिस फाँकमें वहहै सारा ही है फिर किसी फाँक में भी आत्मा के गुण क्यों नहीं रहिते। और यदि कहो

देह को चीरने से मनका नाश हो जाताहै तो लिंग देह काहेका ब-नाओगे और नर्क स्वर्ग का भोग कैसे बनेगा। क्योंकि मन सहित सतारह तत्व का लिंग देह तुम मानते हो ॥ इत्यादि आशंका इस बात को सिद्ध करती हैं कि देह में न कोई पदार्थ मनहै और न आत्मा केवल हृदय खंड नाम एक मांस है और इच्छा द्वेषादि उसके गुण हैं मन बुद्धि जीवात्मादि सब उस के नाम हैं ॥

प्र०-देह के दो टूक करने से चेतन धर्म दोनों में दिखाई देता है। हम ने कई बार देखा कि यदि देह का कोई अंग काटा जावे तो देह और वह अंग कुछ काल तड़फता रहिता और चेतन दिखाई देता है ?

उ०- वह तड़फना चेतन का नहीं किंतु प्राण वायुका है सो जब लौं प्राण वायु उन दोनों टूक मेंसे समग्र निकल नहीं जाता तब लौं तड़फता है जब निकल गया तो तड़फना रुक गया। इस हेतुसे सि-द्ध हुआ कि क्रिया रूप व्यवहार उस अंग में वायु का है न कि चे-तनका। यदि चेतनका होता तो ज्ञान भी वहां अवश्यहोता क्योंकि तुम चेतन को ज्ञान का अधिकरण मानते हो। और वेदांती आत्मा को ज्ञान का स्वरूप मानते हैं ॥

प्र०-जीव को देहसे न्यारा मानने में मैं ने जो जैन मत का कथन सुना है उस का आप उत्तर क्या देते हो। किसी ने एक जैनसे पूछा आप जो जीव को देह से भिन्न मानते हो फिर इस में क्या कारण है कि एक कीड़े को छिद्र रहित डबीया में मूंद दें। जब वह मरता है डबीया में कोई छिद्र नहीं पड़ता यदि जीवात्मा देह से कुछ भिन्न पदार्थ था तो किधर से निकल गया ?

जैन ने कहा एक लोहखंड अग्नि से लाल करके डबीया में मूंद दें तो अग्नि निकल जायेगा पर डबीया में छिद्र कोई नहीं करता सो यदि स्थूल पदार्थ अग्नि निकलता हुआ छेद नहीं करता तो सूक्ष्म प-दार्थ जीवात्मा छेद कैसे कर जावे ॥

उ०-यह जैन का उत्तर विद्या से हीन है क्योंकि पदार्थ विद्यामें लि-खा है कि—अग्नि प्रथम निकट वर्त्ती शीतल पदार्थ में प्रवेश करताहै फिर वहां से आगे शीतल पदार्थ न मिले तो वह पवन में मिल जाता

है यह उस का सनातन स्वभाव है। सो बस उस तप्त लोह खंड का अग्नि प्रथम उस डवीया के पूर्व परमाणुओं में मिला। फिर उत्तरोत्तर परमाणुओं में आता २ बाहर के पवन से मिलगया और लोहका खंड ठंडा हो गया। इस से छिद्र पड़ने की क्या बात थी। परंतु जीव का यह स्वभाव कबी नहीं देखा कि पार्श्ववर्त्ती पदार्थों में प्रवेश कर जावे और देह को ठंडा कर जावे। यदि अग्नि की नांईं यह भी निकटवर्त्ती पदार्थों में प्रवेश कर जाता है तो जीवित देह के निकट मृतक देह रखने से जीवित का आत्मा मृतक में आ-जाना चाहिये। अथवा काष्ट पाषाणादि जड़ पदार्थ भी उस की सन्निधि से चेतन हो जाने चाहिये सो ऐसा व्यवहार देखने में नहीं आता॥

जीव और देह का पृथक्त्व दूर करने वाली युक्ति एक और सुनो। यदि मृत्यु के समय जीवात्मा देह को छोड़ के बाहर चला जातहै तो पूर्व संबंधियों के मोह का खैंचा हुआ कबी हट के क्यों नहीं आता। अथच यदि नर्क का दुःख देखता है तो अपने पुत्रादिकों को बता क्यों नहीं जाता कि अमुक काम मत करना नहीं तो मेरे नांईं नर्क की यातना भोगोगे। अथवा अमुक कर्म अवश्य करना जिस से मुझे स्वर्ग का सुख मिला है॥

यदि कहो देह छोड़ता ही वह किसी अन्य देह में चला जाता है वहां जब लों पूर्व कर्म का फल नहीं भोग लेता तब लों उस देह के बाहर नहीं आ-सका जो अपने संबंधियों को मिल जावे। और नर्क से लौकिक कारागार के बँधुए की नांईं वह छुटकारा नहीं पाता फिर संबंधियों को कैसे मिले। और स्वर्ग सुख को छोड़ के वह लौकिक महा मलिन स्थानमें आना ऐसे श्रेष्ट नहीं समझता कि जैसे पुष्प वाटिका में बैठा हुआ पुरुष मलागार में आना नहीं चाहता फिरआप सोचो संबंधियों के पास कैसे आवे?

इन बातों को उत्तर यह है कि यह तो तुम्हारे ही मुख से तुम्हारे दोनों पक्ष झूठे होगये क्योंकि यदि देह को छोड़ता ही जीवात्मा किसी दूसरी देहमें आ-जाताहै तो फिर नर्क, स्वर्गको कौन गया। और यदि देह छोड़ के नर्क, स्वर्ग को जाना पड़ता है तो तुरंत दूसरे देह का धारण करना कैसे सिद्ध हुआ। फिर जो तुमने कारागारके बँधुए

और पुष्पवाटिका का दृष्टांत दिया यह भी ठीक नहीं क्योंकि कारागारके जो बंधुए होतेहैं वे देह धारी सावयव होतेहैं कि किसी बंधनमें आसकें जीवात्माको तो आप निरवयव मानतेहो वह बंधन में कैसेआ गया। स्वर्ग को पुष्प बाटिका के समान जो आपने माना उसमें अनेक दोष आते हैं। एक यह कि वह कोई स्थान बना हुआहै तो एक देश में होगा फिर किसी को दूर पड़ा और किसी का समीप। जिस को दूर पड़ा उस को मार्ग का श्रम अधिक है। फिर यदि स्थानहै तो कहां है क्या आकाश में है वा पाताल में अथवा पृथिवीके तल परहै अथवा अंतरिक्ष में लटकता है। यदि आकाश में है तो उस की नेंव काहे पर रक्खी और ईंट पत्थरादि में से काहे का बना है और लोह काष्टादि सामग्री वहां कहां से आई। यदि पाताल में है तो पृथिवी में कोई छिद्र जीव के प्रवेश का नहीं वहां पहुंच कैसे सकताहै। यदि कहो पृथिवी के तल पर है तो देश वा नगर का पता बताओ अथवा भूगोल में कहीं उस का चिन्ह दिखाओ। यदि अंतरिक्ष में लटकताहै तो काहे के आश्रय लटकता है इत्यादि॥

प्र०-यदि यह मानें कि पूर्व देह को छोड़ के जीव तुरंत दूसरे देह में आ-जाता है उसी के सुख दुःख का नाम नर्क वा स्वर्ग है तो क्या दोष है?

उ०-इस से अधिक दोष और क्या है कि युक्ति बलसे जीवका देह से भिन्न कुछ वस्तु होना सिद्ध नहीं होता फिर निकल के कौन गया। भला यदि तुम्हारी प्रसन्नता के लिये हम इस बात को मान भी लें तो और शंका हमारे मन में उठती है उसका निवारण कीजिये। वह यह है कि यदि जीव पुराणे कपड़ों को उतार के नवीन धारण करले नें की नांई एक देह को छोड़ के दूसरा देह धारण करलेता है तो केवल देह में अन्यता हुई न-कि जीव में अर्थात् जीव दोनों देह में एकही है। फिर क्या कारण है कि पूर्व देह में किये हुए कामों वा पूर्व देखे सुने स्थानों की उस को स्मृति नहीं रहिती॥

यदि कहो कि जब निद्रा में इतना बल है कि जो२ स्वप्न, स्वप्नकाल में देखेथे वह जागृत में उसी जीवको सांगोपांग स्मृत नहीं रहिने देती तो मृत्यु जो बड़ी भारी निद्रा है वह पूर्व देह के व्यवहार नवीन

देह में कैसे स्मृत रहिने देवे। तो सुनो स्वप्न काल के व्यवहार निद्रा के बल से यदि कुछ जागृत में भूल जातेहों तो आश्चर्य नहीं क्योंकि वह एक घूर्णित दशा है परंतु स्वप्न काल के पूर्व जो एक दो दिन वा मास जागृत अवस्थामें देखे सुने पदार्थ वा कियेहुए काम कभी किसी को निद्रा से उठ के नहीं भूलते वैसे ही मृत्यु के समय घड़ी दो घड़ी जब मूर्छा की दशा होती है उस समय के व्यवहार द्वितीय जन्म में स्मृत न रहें तो अचंभा नहीं परंतु इस का क्या कारण है कि मृत्यु से कई दिन पहिले जो २ व्यवहार जीवने किये थे उन में से एक की भी स्मृति नहीं रहिती। इस से निश्चित है कि यह वही जीव नहीं जो किसी पूर्व देह से आया था। यदि कहो कि जीव तो अवश्य वही है जो पूर्व देह से आया है परंतु पूर्व देह की स्मृति इस देह में इस कारण नहीं रही कि पूर्व देह की मन, बुद्धि और इंद्रियां इस देह में जीवके साथ नही आई कि जिन के द्वारा पूर्व देह में जीव ने व्यवहारों को देखा सुना वा किया था तो सुनो प्रथम तो यह कथन तुम्हारा तुम्हारे शास्त्र के विरुद्ध है क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि पांचज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय पांच प्राण और एक मन एक बुद्धि इन सतारां तत्व का लिंग देह सदा जीव के साथ रहिता है यह उस दिन भंग होता है कि जब मोक्ष हो॥

दूसरा हम यह पूछते हैं कि चाहे मन, बुद्धि और इंद्रिय वह न हो कि जिनके द्वारा जीवने पूर्वदेहमें व्यवहार कियेथे परंतु कर्त्ता भोक्ता जीव तो वही है कि जो मन, बुद्धि द्वारा पदार्थों और व्यवहारों को कर और देख रहा था फिर क्या कारण है कि उस के पूर्व दृष्ट श्रुत व्यवहारों की स्मृति नहीं रहिती। क्या आप जिस वस्तुको उपचक्षु द्वारा देखो उपचक्षु के न होने से आप को उस पूर्व दृष्ट वस्तु की स्मृति नहीं रहिती! इस युक्तिसे यही सिद्ध होताहै कि जिसको आप जीवात्मा मानते हो वह देह से भिन्न कुछ सत्ता नहीं रखता। न कहीं से आया और न वह कहीं को जाता है दीप की ज्योति के नांई बीच ही से फैला और बीच ही में छिप जाता है॥

प्र०—ऐसा मानने में क्या दोष है कि जीव और देह अर्थात् जड़ और चेतन का संबंध अनादि काल से ऐसा हो रहा है कि देह से

भिन्न जीव कहीं दिखाई नहीं देता ?

उ०-इस में अनेक दोष हैं। एक यह कि देह तो है परंतु जीव का होना युक्तिसे तुमने सिद्ध नहीं किया। जिस ज्ञानादि गुणका आधार तुम कोई जीव ठहिराते हो हम उसको देह का अंग हृदय कहिते हैं जो प्रत्यक्ष है। दूसरा वह मृत्यु के अनंतर देह से भिन्न क्या रहैगा जो नर्क स्वर्ग भोगेगा इत्यादि॥

प्र०-युक्तिके बलसे चाहे जीवात्मा देहसे न्यारा पदार्थ सिद्ध न हो परंतु जिन लोगों ने योग बल से जीवात्मा का प्रत्यक्ष किया है क्या उनका कहिना भी आप सत्य नहीं मानते ?

उ०-तुम कहिते हो उनको प्रत्यक्ष हुआ है इस में हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान वह होता है कि जो किसी इंद्रिय और अर्थके सन्निकर्ष से उत्पन्न हो। सो बड़े आश्चर्य की बात है कि आप जीवात्माको अभौतिक वस्तु कहिते हो और फिर भी उसके साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष कहिते हो क्या आप इस बात को नहीं जानते कि इंद्रिय उसी बात को विषय कर सकते हैं कि जो भौतिक हो। हमारी समझ में योगी जनों को जीवात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता किंतु उनको प्रत्यक्ष होजाता है अर्थात् आत्माके किसी ज्ञान इच्छा, द्वेषादि, गुणको वह आत्मा समझ बैठते होंगे। यदि कहो आत्मा का प्रत्यक्ष उन को किसी इंद्रिय से नहीं होता किंतु आत्मा से ही होता है तो पहिले आत्मा पदार्थको युक्तिसे सिद्धतो करलो फिर किसी आत्माको वेद्य और किसी को वेत्ता भी मान लेना॥

प्र०-आत्माका प्रत्यक्ष होता न मानों परंतु आत्मा प्रकाश तो योग मार्ग के बल से अवश्य अधिक हो जाता है जिस के प्रताप से योगी जनों को सिद्धि प्राप्त होजाती है ?

उ०-हमारे मतमें आत्मा एक मांस खंडका नामहै जो हृदय नाम से बोला जाता है सो योग मार्ग के बलसे उस में अधिक प्रकाश तो क्या होना था परंतु उस की बुद्धि वृत्तिको किसी एक पक्षमें जुड़ जानेसे और काम क्रोधादि मलसे स्वच्छ हो जानेके कारण कुछ तीव्रता अवश्य प्राप्त होजाती है जैसाकि जिन लोगों का ध्यान संसार के अनेक कार्यों और संकल्प विकल्पोंमें ताड़ित रहिताहै उनकी बुद्धि

वृत्ति ऐसी तीव्र नहीं होती कि जैसी एकांत सेवी और निः संकल्प पुरुष की होती है। जिन की बुद्धि वृत्ति तीव्र हो उन में सूक्ष्म बातों और कठिन विद्याओं के समझ लेने की शक्ति तो हो जाती है कि जिस से संपूर्ण दुःखों का ध्वंस और परमानंद की प्राप्ति होजाती है परंतु हम और किसी प्रकार की सिद्धि उनमें नहीं मानते॥

प्र॰-मैंने कई लोगों में यह सिद्धि देखी कि उन्हों ने जो कुछ वचन किया सो सत्य होगया जैसाकि जिसको कहा तेरे पुत्र होगा उसके अवश्य हुआ। और जिसको कहा तू धनी होगा वह धनी होगया। इत्यादि व्यवहार क्या सिद्धि रूप नहीं ?

उ॰-हमने पूर्व कहा था कि जिनकी बुद्धि वृत्ति तीव्र होजाती है वे सूक्ष्म बातोंको समझने लग जाते हैं सो जिस के शरीर में उन्हों ने पुत्रोत्पत्तिके वा धनी होनेके लक्षण देखे उसे वही फल बुद्धि कौशल से कहि दिया। जैसाकि जिस के शारीरिक लक्षण देखे उसे पुत्रवान होना कहिदिया और जिस के मानसिक लक्षण विचारे उसे धनवान होना कहि दिया इस में सिद्धि की बात कोई नहीं॥

प्र॰-वे लक्षण शरीर और मन में किस ने भरे हुए होते हैं जिन का फल कभी उलटा नहीं होता ?

उ॰-भरे किसने थे वह तो शरीर की बनावट ही वैसी होतीहै। सो उसीके अनुसार सूक्ष्म दर्शी लोग कामी, क्रोधी, मानी, साधु, असाधु पुत्रवान, कन्यावान, निःसंतान, धनी, गुणी, मूर्ख, चतुर होना पहिचान लेते हैं। और यह बात भी सत्य नहीं कि उन का फल कभी उलटा नहीं होता किंतु कईवार देखा कि कहा कुछ और हुआ कुछ। और उन लक्षणों को किसी ने ठहिराया नहीं किंतु कईवार की परीक्षा से यह बात निश्चय कर छोड़ी है कि जिस मनुष्यमें अमुक लक्षण हो वह ऐसा होता है॥

प्र॰-मैं ने सुना कि एक साधु ने अपने वचन से अमुक पुरुष को कुष्टी कर दिया फिर इस में चिन्ह परीक्षा कहां रही ?

उ॰-प्रथम तो यह बात सच्ची नहीं यदि किसी अंश में हो भी तो उस साधुके मन में कुछ कपट है अर्थात् जिस को कुष्टी करने का बचन कहा किसी प्रकार से उसे कुछ रुधिर विकार का उत्पादक द्रव्य

खिला दिया अथवा उस के देह पर लगा दिया होवेगा। क्योंकि सं-सार में अनेक ऐसे पदार्थ हैं कि जिन के खाने, लगाने से मनुष्य का अंधा, कुष्टी तथा ज्वर गुल्मादि रोगों से ग्रस्त होजाना कुछ दूर नहीं। यदि वे सिद्ध लोग बिना किसी शारीरिक लक्षणके पहिचाने और बिना किसी विकार जनक पदार्थ के खिलाने लगाने के केवल अपने व-चन मात्र से कुछ बिगाड़ वा सुधार सकते हैं तो मनुष्य में वैसी बातें ही क्यों बना के दिखाते हैं कि जो उन में संभव हैं योग्य तो यह है कि वे असंभव काम करके दिखावें। जैसा कि मनुष्यको बैल वा बैल को हाथी और हाथी को चिड़िया बना देना॥

अथवा कभी यह दिखायें कि इस भारत खंड में कभी सूर्य्य, चंद्रादि के उदय अस्त में उन के वचन से कुछ व्यतिक्रम हुआ हो॥

प्र०—चांदको अंगुली से तोड़ देना और मृतोंको जीते करना आ-दिक व्यवहार जो कईएक महापुरुषों के सुने जाते हैं इस से बढ़के असंभव व्यवहार क्या होता है?

उ०-जिसने चांद को तोड़ा और और मृतकों को जिलाया उस से अधिक शक्तिमान कौन है कि जिस ने फिर चांद को वैसाही जोड़ दिया तथा उन मृतकों को आजलों जीते न रहिने दिया क्योंकि आज हमको उनकीवृत्त कहीं दिखाई नहीं देती। और इस बातका क्या कारण है कि वे सिद्ध और समर्थ लोग पीछे बहुत होतेथे आज कोई वैसा कहीं भी उत्पन्न नहीं होता॥

प्र०-मैं आजभी ऐसे कई महा पुरुषदिखा देताहूं कि जो बता सकते हैं कि छै महीनेको अमुक तिथि वारमें वर्षा होगी अथवा बीस वर्ष को यह पुरुष ऐसा होगा वा यह बालक पांच वर्ष का होके मर जावेगा?

उ०-जब विद्या और विचारके बल से छै महीने पहिले ग्रहणादि का लगना बता दिया जाताहै तो आंधी वर्षा का बताना भी कुछ कठिन नहीं। और बीस वर्ष को यह पुरुष ऐसा होगा यह बात उस की विद्या बुद्धि और स्वभावादि के विचार से होती है। और जो पांच वर्ष में किसी बालक का मरना कहा वह शरीर के लक्षणों और चिन्हों से प्रतीत होजाता है। क्योंकि शरीर में ऐसे कई चिन्ह हैं कि

जिनकी परीक्षा करके बुद्धिमानों ने निश्चय कर छोडा है कि इस चि न्ह का पुरुष अल्पजीवी वा चिरंजीवी होता है और इस चिन्ह का पुरुष अलस वा उद्यमी होता है। जैसाकि हम यहां कुछ चिन्ह पुरुष और स्त्रियों के लिखतेहैं कि जिनकी कई वार परीक्षा हुई और सच्चे निकले:—

जिस पुरुष का वर्ण गौर, कृश शरीर और सूक्ष्म देह तथा कलाई और जंघा पर बाल बहुत हों वह अत्यंत कामी और बहु पुत्र होता है। जिस का देह लंबा, वर्णगोधूम का, अत्यंत चतुर, और कृश देहहो वह पुत्र हीन वा स्वल्प संतान और क्रोधी होता है। जो ह्रस्व काय, ह्रस्व ग्रीव, सूक्ष्म देह, चंचल स्वभाव, वह कपटी और छली होताहै। काणा, खल्वाट, खंज, तथा विड़ाल नेत्र, का पुरुष पापात्मा, कुटिल, अविश्वास पात्र होता है। जिसके लिंग में वामांग टेढ़ाहो वह कन्या की संतान वाला और जिस के दक्षिणांग टेढ़हो वह पुत्र संततिमान् होता है। जो लंबदेह, स्थूल काय, वहु भाषी, और उच्चशब्द वालाहो वह मानी, अहंकारी होताहै। मध्य काय, भारी देह, गौर वर्ण, शीघ्र बोलने वाला, जिस की जिह्वा बोलने में अटकती हो, वा भेददंतीहो वह अवश्य चतुर, विद्वान तथा गुणी और बहु पुत्र होता है। कृष्णवर्ण ह्रस्व तनु, कुरूप, क्रूरात्मा, अवश्य झूठा, छली, ठग, होता है॥

जैसा पुरुष का व्यवहार है वैसो ही स्त्रियों का है। जो स्त्री ह्रस्व काय, श्याम नयना, वह व्यभिचारिणी होती है। जिस के चरण की तर्जनी अंगुष्ट से लंबी हो वह व्यभिचारिणी तथा विधवा होतीहै। जि स के हस्त, पाद भारी अँगुली छोटी किंचित् स्थूल काय, मध्य देह, गौर वर्ण वह भी व्यभिचारिणी निर्लज्जा, निर्भया होतीहै। लंबी तथा कृश देह पिँडली और कलाईपर बाल शीघ्र गामिनी जिस का पांव मध्य से पृथिवी पर न लगे वह भी व्यभिचारिणी होती है। जिस के स्कंध, कुच, नितंव चलने में हिलें तथा शीघ्र और तिरछी चले वह भी व्यभिचारिणी होतीहै। इत्यादि लक्षणों से स्वभाव, गुण, औगुण तथा आयु पहिचानी जा सकतीहै यदि अधिक सीखना चाहो तो मनुष्यों की देहों में ध्यान रखो नित्य की परीक्षा से यथार्थ ज्ञानहो जावेगा। और इसको बुद्धि की तीव्रता कहिते हैं॥

प्र०-भला क्या अणिमा, लघिमा, मध्यमा आदिक सिद्धियां भी झूठी हैं जो शास्त्र ने कही हैं ?

उ०-विद्या और बुद्धि कौशलसे ये सिद्धियां कोई कर दिखावे तो आश्चर्य नहीं परंतु हम इस बातको नहीं मानते कि किसी योग तप के बल से प्राप्त हो जाती हैं। हां यह शक्ति हम आत्मा में देखते हैं कि उसको संकल्पों के रोकने से जो अत्यंत अभ्यास से होता है कुछ २ ज्ञान की वृद्धि प्राप्त हो जाती है॥

प्र०-हृदय खंड तो सब का समान ही है फिर इसका क्या कारण कि किसीमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, ये षट गुण अधिक होते हैं और किसी में न्यून ?

उ०-यदि यह बात तुम कहिते कि हृदय खंड में इच्छा द्वेषादि होते ही नहीं और कान मुखादि अंगों में होते हैं तबतो हम कुछ उत्तर देते परंतु अब इस बात के बिना और क्या उत्तर दें कि उनकी वृद्धिका कारण ज्ञान अज्ञान तथा सत्संग और कुसंग आदि पदार्थ हैं॥

प्र०-क्या किसी साधन से आत्मा के इच्छा, द्वेषादि गुण का नाश भी होजाता है जैसा कि इच्छा, द्वेष और दुःखके अत्यंताभावका नाम शास्त्रों में मोक्ष सुना जाता है ?

उ०-जो गुण जिस पदार्थ में स्वभाविक होता है वह उस से दूर कबी नहीं होता किंतु साधन द्वारा उसमें संयम और संकोच अवश्य होजाता है सो इच्छा, द्वेषादि जो आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं इनका भी संयम और संकोच तो होजाता है परंतु अत्यंताभाव उन का होना असंभव है। सो मनुष्यको चाहिये कि अत्यंत इच्छा जो पापको उत्पन्न करती है उस को रोके और आवश्यक भोगों के त्याग का यत्न न करे। इसी प्रकार दुःख जनक पदार्थों और कार्य्यों के साथ तो द्वेषरखे परंतु जिन से सुख की प्राप्ति हो उन में द्वेष का यत्न न करे। फिर दुःख की निवृत्ति की बात जो शास्त्र ने लिखी उस का भी यही तात्पर्य्य है कि जो अपने रचे हुए दुःख हैं उनके दूर करने का यत्नकरे जैसा कि वैर, ईर्षा, क्रोध, छल, अहंकार, चोरी, व्यभिचार, झूठ, दंभ अज्ञानादि से जो दुःख होते हैं वे सब अपने रचे हुए होते हैं। परंतु ऐसा कबी नहीं होसकता कि किसी के आत्मा से दुःख का ज्ञान ही

नष्ट होजावे। फिर ज्ञान के विषय में भी यही बातहै कि आत्माका ज्ञान गुण तो कबी दूर नहीं होता परंतु जिन बातोंको जानना नहीं चाहता वहाँ ज्ञान का संयम और संकोच माना जाता है॥

प्र०-आप कहिते हो कि आत्मा के स्वाभाविक गुण इच्छा, द्वेषादि, स्वरूप से कबी दूर नहीं होते इसका क्या कारण है कि मृत्यु दशा में आत्मा तो बड़ा होता परंतु उसके इच्छादि गुण वहां नहीं होते क्योंकि आप आत्मा को हृदयखंड मात्र मानते हैं सो वहां पड़ा होता है?

उ०-हृदयखंड जो देह का एक अंग विशेषहै अत: जो पदार्थ देह के उपयोगी हैं वे इस के उपयोगी भी अवश्य मानने चाहिये। सो यद्यपि हृदयका माँस तो मृत्यु दशामें वहांपड़ाहै परंतु उसकी स्थितिके उपयोगी पदार्थ वहां नहीं रहिते कि जिनके संबंधसे वह स्वस्थ और प्रफुल्लित था॥ अर्थात् प्रथम तो वहां से प्राण वायु निकल जाता है फिर उसके निकलते ही रुधिर का प्रस्राव रुक गया और प्रस्राव के रुकतेही वह जल रूप होगया और जलके होते ही हृदय खंड गलित हो गया कि उस के इच्छादि गुण नष्ट हो गये जो उस की सावधान दशा में हुआ करते हैं॥

प्र०-भला यदि प्राण वायु निकल सकताहै तो कबी फिर हट के भी आसकता होवेगा क्या कारण है कि जो जीव एकबार मर जाता है फिर जीता नहीं होता?

उ०-प्रथम क्रमानुसार जब लों प्राण वायु का संचार देह में बना रहिता है तबलों तो जीवन दशा की हानि नहीं होती। जब किसी हेतुसे प्राण वायु अपना स्थान छोड़जावे तो उन सर्वछिद्रों और हृदय, तालु, नासा, नाभि, आदिक चक्रों के मुख मूंदे जाते हैं कि जिन में वायुका प्रवेश होताथा फिर अब जीना कैसे होसके। यदि कहो मूर्छा और सुषुप्ति में प्राण वायु के होतेही हृदयखण्ड की सावधानदशा में इच्छादि षट् गुण क्यों नहीं रहिते तो सुनो हम पूर्व कहि चुके हैं कि निद्रा और उन्मादक द्रव्यों के संयोग से हृदय की सावधानता छिप जाती है अत: उस के गुण भी तिरोभूत हो जाते हैं॥

प्र०-आपने कहा उपयोगी पदार्थ के निकल जाने से उस के गुण

दूर हो जाते हैं इस में हम पूछते हैं कि वे गुण तो हृदय खंड के थे जो वहां मृत्यु के समय भी पड़ा है फिर क्या कारण कि एक प्राण रूप उपयोगी पदार्थ के निकल जाने से हृदय के गुण दूर होगये ?

उ०-प्राण यद्यपि एक पदार्थहै तथापि उसके निकलनेसे हृदय के उपयोगी रुधिरादि कई पदार्थों का वहां अभाव हो जाता है जो हृदय की सावधानता के कारण थे। उपयोगी के अभाव से उपयुक्त पदार्थ के गुणों के अभाव में दर्पण का दृष्टांत बिचारने के योग्य है। अर्थात् दर्पण एक काचमणि का खंड होता है कि जिस में राँगपत्र और पारद के उपयोग से यह गुण उत्पन्न होजाताहै कि जो वस्तु उस के सामने करें उस का उसमें प्रतिबिंब पड़ जाताहै। परंतु यदि राँग पत्र वहां से भिन्न होजावे कि जिस का उस के साथ उपयोग या तो उसका प्रतिबिंब गुण तुरंत टूट जाता है क्योंकि राँगपात्र के आश्रय वहां पारद ठहिर रहाथा और पारद के साथ दर्पण सावधान दशा में स्थित था उस स्वस्थता में प्रतिबिंब गुण का संबंध था जब एक उपयोगी का वियोग हुआ, न गुणी रहा न गुण ॥

प्र०-आप के उपदेश से अब मेरे मन में यह दृढ़ निश्चय होगया है कि ईश्वर, वेद और जीव की कल्पना जो पूर्वाचार्य्यों ने ठहिराई थी; प्रयोजन इस का यही था कि संसार के सिर पर एक परोक्षभय बना रहे तो परस्पर अपकार से बचें और उपकार में लगे रहेंगे परंतु एक अब और संदेह मेरे मन में उठता है। वह यह है कि यद्यपि ईश्वर और वेद तथा जीव के सत्य मानने में कई प्रकार के अनर्थ तो हुए परंतु आज लों जो कई विद्वान हुए उन्होंने आप के नांई ईश्वरादि का भय संसारके मनसे दूर करने वाला कोई गृन्थ क्यों न लिखा। इस से जाना जाता है कि ईश्वरादि का भय संसार के मनसे उठाना योग्य नहीं किंतु इस भय का बने रहिना ही श्रेष्ट है ?

उ०-विद्वान तो कई हुए परंतु इस प्रकार का कोई ग्रंथ तुम्हारी दृष्टि में न पड़ने के कई कारण हैं। एक यह कि अन्य विद्या और चतुराईयां तो चाहे विद्वानों को प्राप्त हुई होंगी परंतु यह सत्य विद्या बहुत से विद्वानों को प्राप्त ही नहींहुई। क्योंकि पूर्व सुनी सुनाई बातों को मिथ्या जान के बुद्धि का इस सत्य विद्या पर्य्यंत पहुंचना बहुत

कठिन है ॥ दूसरा यह कि चाहे सत्यविद्या तो उनकी समझमें आ ई होगी परंतु जब कोई पुरातन बात को उठाके नई बात लोगों के लिये लिखता वा कहिताहै तो सब लोग उसके शत्रु तथा निंदक और बिघातक बन जातेहैं किसीको तो इस शत्रुतादिके भयने दबा रखा। और किसी को गृन्थ लिखने से इस लालच ने रोक रखा कि लोग मुझे नास्तिक समझ के मेरी तथा मेरी संतान की सेवा पूजा से रुक– जायेंगे ॥ तीसरा यह कि गृन्थ तो कई विद्वानों ने रचे परंतु भाषांतर और देशांतर में होने से तुमको वे प्राप्त नहीं हुए। इत्यादि ॥ जो तुमने कहा इस सत्यविद्या का लिखना श्रेष्ट है वा अश्रेष्ट सो सुनो यदि पूर्वाचार्यों भेद वादियों के अनर्थ रूप गृन्थ जगत में विद्यमान न होते कि जिन के पढ़ने से लोग ईश्वरादि के बोझ से दबाये जाते और सारा आयु उस से जाग नहीं पाते तो ऐसे गृन्थों का लिखना आवश्यक नहीं था परंतु अब जो सारा संसार स्वप्न के झूठे हाथी के भय में थर थर कांपता और कबी स्वाधीनता और स्वच्छंदता से आनन्द पूर्वक श्वास नहीं भरता ऐसे गृन्थों का लिखना ही श्रेष्ट है। हां यह बात हम भी श्रेष्ट कहिते हैं कि जिन लोगों की बुद्धि सत्य उपदेशको समझ नहीं सकती अथवा सच्चे उपदेश को सुन के स्वान, सूकरोंकी नांई यथेष्टाचार में प्रवृत्तहोती दिखाईदेवे उनको ऐसे गृन्थोंका सुनाना बहुत पाप और अनर्थ रूप है परंतु हम ऐसे पुरुषको कबी विद्वान और शूरबीर तथा परोपकारी नहीं समझेंगे जो किसी अपनी हानि वा लाभ के प्रताप से उन लोगों को भी अज्ञान निद्रा से न जगावे जो सत्य उपदेशको समझ सकें और अपने आचार व्यवहारको बिचार और बिवेकके अनुसार रखें कबी बिषम न होने देवें।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम बिरचित सत्या मृत प्रवाहोत्तर भागे परा-विद्यायां जीव निर्णयो नाम पञ्चमतरङ्गस्समाप्तः५

ओ३म्

॥ श्री परम गुरवे नमः ॥

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नामग्रंथस्य उत्तरभागः ॥

अथ षष्टस्तरङ्गस्यारम्भः क्रियते

॥ अथाचार निर्णयो व्याख्यायते ॥

प्र०-ईश्वर वेद तथा जीव निर्णय को सुनके मैं विगतसंदेह हुआ परंतु एक बात मुझे और समझाइयेकि मनुष्यके मन में जो रजोगुण और तमोगुण, की अधिकता से काम, क्रोध, भरे हुएहैं जब उन का वेग होता है चोरी व्यभिचार तथा हिंसा वैरादि कुकर्म में प्रवृत्त होने लगताहै कि जोअत्यंत अनर्थके हेतु हैं। सो पहिले तो हम उन कुकर्मों को ईश्वर और परलोक के भय से त्याग देतेथे अब कैसे त्यागेंगे कि जब उनका भय हमारे मन से उठ गया। यदि कहो राज भय और लोकापवाद के भय से इनका त्याग करो तो हम कहेंगे जहां राजा प्रजा की दृष्टि और कान न पहुंचें वहां क्यों रुकना चाहिये। अथवा बहुत कुकर्म ऐसे हैं कि जिनके करनेमें मनुष्य लोक अपवाद और राज दंडका कुछ भय नहीं करता। जैसा कि व्यभिचारादिहैं, फिर वे वर्जित क्यों हुए?

उ०-हम तो यही कहिते हैं कि जहां राज दंडका भय नहीं वहां यदि कुछ काम पड़ जावे तो परमेश्वर के भय से कोई जन भी पाप करने में संकोच नहीं करता। जैसाकि देखो सब कोई जानता है कि परमेश्वर दयालु है और जीवों के दुःखी करने वाले मनुष्यों को अवश्य,दंड देवेगा परंतु बहुत लोग हैं जो कुकरी, बकरे को मारके खा लेनेमें तो कुछ भयनहीं करते कि जिसका दंड राजा कुछ नहीं देता परंतु मनुष्य को मार खाने में कबी उद्यम नहीं करते कि जिस

का दंड राजा से मिलता है। इसी प्रकार यदि यश की इच्छा और फलकी कामना न हो तो केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिये कोई मनुष्य पुण्य कर्म को करता भी दिखाई नहीं देता। इस से सिद्ध होगया कि परमेश्वर के भय और प्रेम से कोई भी पाप पुण्य में प्रवृत्त निवृत्त नहीं होता किंतु राज दंड और प्रजा दंड तथा यश की कामना ही इस में कारण है। तुमने जो यह कहा कि जिनको ईश्वर और परलोक का भय नहीं रहिता वे यथेष्टाचरणमें प्रवृत्त होकर अपना दुर्लभ और अमोलक जन्म बिगाड़ लेते हैं इसके विरुद्ध हमारा यह निश्चय है कि जो सत्यको धारण करके सत्यधारी बना और जिस को सम्यक् विचार होगई हो यद्यपि उसको कोई राजा प्रजा नहीं देखते तथापि अनाचार में प्रवृत्त नहीं होसकता। क्योंकि वह किसी ऐसे तीव्र काम का आरंभ ही नहीं करता कि जिसकी सिद्धि के निमित्त कोई अनाचार करना पड़े हां मेरी लेखिनी कई वर्ष लों इस ग्रन्थके लिखने में इस कारण लों रुकती रही कि सम्यक् विचार का प्राप्तहोना जो कठिन बातहै इसको पढ़के बहुतसे लोग उभयतो भ्रष्ट न हो जायें परंतु फिर मैंने यह बात बिचारी कि लिखने में तो कुछ अधिक अनर्थ नहीं होता परंतु न लिखने में बहुत अनर्थ होंगे। एक यहकिलोग झूठे भय और लालचमें ग्रस्त होके अपना जीवन धन नष्ट कर लेंगे। दूसरा यह कि ईश्वर और परलोकके कल्पित भयके प्रताप से अपना दुर्लभ द्रव्य व्यर्थ कामों और भयानक रौचिक फलों की आशा में खोदेंगे कि जिस से परिवार पोषण परोपकार साधु सेवा आदिक उत्तम कार्य सिद्ध हो सकते हैं॥

जो तुम ने कहा अनेक कुकर्म ऐसे हैं कि जिनको करता हुआ प्राणी लोकापवादादिका भय नहींकरता जैसाकि व्यभिचारादिहैं, इस का उत्तर यहहै कि चाहे राजदंड और दुराख्यातिका भय तो न करे परंतु ऐसा मनुष्य कौन है कि जिसको अपने दुःख सुख का भी विचार नहीं। देखो व्यभिचारादि जितने कुकर्म हैं प्रथमतो उनके करने में राज दंड और दुराख्याति का भय मनसे दूर होही नहीं सकता यदि होसके तो वैसे कामों को प्राणी छिप के क्यों करे। दूसरा उनसे रोग, शोक, भय, व्यय, वैर, ईर्षा, झूठ आदिक उपताप अवश्य

सहारने पड़ते हैं। भला सोचो कि सम्यक् विचार का पुरुष किंचित सुख के निमित्त इतने क्लेशों को अपने सिर पर रख सकता है उस को तो इस प्रकारके वाक्यों पर विश्वास होरहाहै। जैसाकि मनु अ० ४ श्लो० १६१ में कहा है:—

'यत्कर्म कुर्वतो स्यस्यात्परितो षोंतरात्मनः
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतांस्तु वर्जयेत्॥'

अर्थ–जिस काम के करने से इसके आत्मा में संतोष अर्थात् त्रिकाल अबाधी सुख हो मनुष्य उस को यत्न से करे। जिन से दुःख हो उनको न करे॥ काम, क्रोध, हिंसा, व्यभिचार, चौर्य्यादि व्यवहारोंमें यद्यपि प्रथमतो कुछ सुखाभाससा दिखाई देताहै परंतु परिणाम में अवश्य रोग, शोक, भय, ज्वलन, वैरादि दुःख उठाने पड़ते हैं॥

जिस को यथार्थ ज्ञान हुआ वह इस बात को भी जानता है कि बिना विचारे काम करना पशु का स्वभावहै मनुष्य का नहीं। मनुष्य उसी का नाम है कि जो अपने और पराये सुख दुःख को विचारे। चोरी व्यभिचारादि में अपने पराये मन को अवश्य कष्ट होता है अतः मुझ को उन का सेवन कभी न करना चाहिये और जिन दया, दान प्रेम, क्षमा, कोमलता, गांभीर्य्य, शांति, संतोष, संयम, ज्ञान, उपकारादि व्यवहारों से अपने और पराये तन, मन को सुख हो उनको अवश्य गृहण करना चाहिये॥

बस जिस को इस सत्य विद्याके साथ सम्यक विचार प्राप्त हुई वह बिना ईश्वर और परलोक के भय और लालच के केवल ज्ञान मात्रसे ही पशुचर्य्या को त्याग के मनुष्य धर्म में स्थित रहेगा कि जिस में अपने पराये सुख दुःख का विचार और सर्व आचार व्यवहारों में सम भाव का पालन होता है॥

प्र०—आप तो इस जगत प्रपंच से भिन्न कोई ईश्वर नहीं मानते परंतु ईश्वर के ठहिराने में पूर्वचार्य्यों ने क्या प्रयोजन समझा था?

उ०—जगत में दो प्रकार के पुरुष हैं एक ज्ञानी, दूसरे अज्ञानी। सो ज्ञानी जन तो केवल ज्ञान बल से अशुभ कर्मसे निवृत्त और शुभ में प्रवृत्त हो सकतेहैं और अज्ञानीजन तब लों कभी प्रवृत्त वा निवृत्त

नहीं हो सकते कि जब लों उन्हें कोई भय वा लालच न दिखाया जावे। सो अपने और पराये सुख की सिद्धि और दुःख की हानि करानी के लिये जो मनुष्य का मुख्य धर्म है अज्ञानियों को तो ईश्वर का भय और लालच दिखाया था और ज्ञानी जन ज्ञान बल से ही सदाचार में स्थित हैं ॥

प्र०–इस ग्रन्थ को पढ़ के क्या अज्ञानी जन भी ईश्वर को असत्य नहीं समझ लेंगे। कि जिस के समझने से फिर यथेच्छा चरण में उन की प्रवृत्ति हो जावेगी ?

उ०–अज्ञानी तीन प्रकारके होते हैं। एक अज्ञानी। दूसरे महा-अज्ञानी। तीसरे पामर। सो अज्ञानी जन तो सत्संग और इस ग्रन्थ के पढ़ने सुनने के प्रतापसे कवी न कवी ज्ञानवान भी हो सकता है कि जिस से कवी फिर अनाचार नहीं होने पाता। और जिस का नाम महा अज्ञानी है वह इस ग्रन्थ का भाव ही नहीं समझेगा क्यों कि उसकी बुद्धि तुच्छ है और इस ग्रन्थ की युक्तियां कुछ सूक्ष्म हैं। तीसरा जो पामर कहा वह हमारे इस ग्रन्थ के सुनने और पढ़ने के बिना ही अनाचार और अनर्थ में प्रवृत्त है उस को कवी छोड़ना नहीं चाहता फिर हमारे ग्रन्थ से उस का यथेष्टा-चरण अधिक क्या हो जावेगा ॥

एक बात हम और भी नित्य देखते हैं कि मनुष्योंकी प्रकृति तीन प्रकार की होती है। एक यह कि चाहे उन्हें बुराई करने का कोई उपदेश भी करे परंतु उनसे होही नहीं सकती। दूसरी यह कि यदि बुराई हो जावे तो उन्हें अत्यंत पश्चात्ताप होता है और फिर कवी बुराई नहीं होती। तीसरी यह कि चाहे कितना रोको और भय दिखाओ परंतु उन्हें बुराई करने में कुछ ग्लानि नहीं होती इसी हेतु से गीता में लिखा है कि:—

"प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किंकरिष्यति"

अर्थ-सब जीव अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार बरतते हैं उनको निग्रह अर्थात् रोकना क्या फल करताहै। सो बस हमारा ग्रन्थ न किसी की प्रकृति को बढाताहै और न घटाता है। एक बात यह

भी स्मृत रखो कि यह ग्रन्थ उसी को प्यारा लगेगा जिसकी प्रकृति शुद्ध है अन्य कोई पुरुष इस को ग्रहण नहीं कर सकता ॥

प्र०—इस ग्रंथ के पढ़ने से वर्णाश्रम की मर्य्यादा का व्यवहार मनमें रहिता है वा नहीं ?

उ०—शास्त्रोक्त वर्णाश्रम की मर्य्यादा तो जगत में से इस ग्रन्थ को पढ़ने के बिना ही दूर होगई है जैसा कि ब्राह्मण लोग शूद्रों तथा म्लेच्छों के काम करते और शूद्र जन ब्राह्मण, क्षत्रियों के आचार,व्यवहार में तत्परहैं। गृहस्थ लोग सन्यासियोंके त्याग विराग औरज्ञान विवेक से युक्त दिखाई देते और सन्यासी जन गृह क्षेत्र के झगड़े तथा स्त्री पुत्रों के पालन लालनमें लगे हुएहैं फिर हमारे ग्रन्थसे वर्णाश्रम की मर्य्यादा अधिक क्या टूट जावेगी ॥ उलटा यह ग्रन्थ वर्णाश्रम की मर्य्यादा को स्थिर करेगा अर्थात् जो जन गुण कर्म से ब्राह्मण उस को ब्राह्मण और जो गुण कर्म से क्षत्रिय उसको क्षत्रिय कहेगा॥

प्र०—इस सत्य विद्या का ज्ञानी ब्राह्मणों और साधुओं को कबी पूजेगा वा नहीं ?

उ०—ब्राह्मण साधुका पूजन करना वह बहुत आवश्यक समझेगा। परंतु इस में इतना भेद है कि वह जातिमात्र के ब्राह्मण तथा वेषमात्र के साधु को ब्राह्मण और साधु नहीं समझेगा किंतु गुण और कर्म का नाम ब्राह्मण और साधु समझेगा । पूर्ण विद्वान का नाम ब्राह्मण और सत्य सारख्यादि साधन संपन्न का नाम साधु है ॥

प्र०—सत्य विद्या का ज्ञानी कुछ अपने उपदेष्टा सद्गुरु की सेवा पूजा भी करेगा वा नहीं ?

उ०—यह बड़े भारी नीच और कृतघ्न का काम है कि जो किसीके उपकार को मनसे भुला देवे। सद्गुरु का बड़ा भारी उपकार शिष्य परहै कि उसने वे संपूर्ण संदेह और भय दूर कर दिये जिनके कारण जन्म व्यर्थ चला जाता और अनेक प्रकारके उपताप और क्लेश सहारने पड़ते थे। फिर उस की सेवा कैसे नहीं करेगा ॥

प्र०—सत्य विद्या का ज्ञानी कबी कुछ दान भी करताहै वा नहीं ?

उ०—यदि संपन्न और समर्थ हो तो अवश्य करता है परंतु किसी जाति वा वेषको वह दान पात्र नहीं समझता किंतु नंगा,भूखा,अर्थी,

देख के संपूर्ण देह धारियों को दान पात्र जानता है। तात्पर्य्य यह कि दान उस का दान पात्र में और सेवा उसकी सेवा के पात्र में होती है अनाथा कबी नहीं होती। दान का पात्र वह है कि जो अर्थी हो और सेवा का पात्र वह है कि जो विद्वान, ज्ञानवान, परोपकारी अर्थात् जिस के उपदेश से लोगों को सत्यविद्या की प्राप्तिहोती॥

बड़े शोक की बात है कि संसारी लोग यथार्थ दान और उपकार तथा सेवा को नहीं जानते और अज्ञान से अपना धन नष्ट करते रहते हैं। जैसा कि जाति वा वेषमात्र के ब्राह्मण और साधुओं को धनादि का देना है॥

यदि कहो उन को देना छुड़ाने में तुम को निर्दयता का कलंक लगेगा तो सुनो—हमारी यह निर्दयता नहीं किंतु उनपर बड़ाभारी उपकार है क्योंकि जब उन्हें दान का मिलना छूट जावेगा तो वे अपनी उपजीपिका के अर्थ आप अपनी संतान को विद्या और गुण के उपार्जन में लगावेंगे कि जिस के प्रताप से वे धन धान्य युक्त हो कर आप दाता बन सकते हैं। फिर विद्या के प्रताप से उन में सु-स्वभाव और ज्ञान विवेक भर जावेगा कि जिस के द्वारा वे आप सुखी और अन्य लोगों को सुखी कर सकते हैं॥

भारत खंडमें जो बहुत ब्राह्मण, साधु, चड़सी, भंगी, मद्यप, अलस, द्यूत-कार, चोर, कपोत क्रीडी, बन जाते हैं, इसका यही कारण है कि लोग उनको दान देतेहैं। वृथा धनकी प्राप्तिमें यही दोष है कि प्राणी उस को पा-कर निकम्मा और विकारी हो जाता है। हमारी समझ में उनको दान देना उनकी संतानका और उनका सत्यानाश करना है। उत्तम पुरुष ऐसा काम कब करता है कि जिस से किसी की हानि हो। देखो कितनी हानि है कि उन साधु ब्राह्मणों को जब लोग पूजते और दान देतेहैं तो कई औगुन उनके मन में भर जाते हैं। एक यहकि उपजीविका तो हम को प्राप्त हो ही जाती है अब गुण विद्या सीखनेका क्या प्रयोजन। दूसरा यह कि जब निर्गुण की पूजा हुई तो उससेदो पाप उत्पन्न हुए। प्रथमयहकि गुणवानोंका निरादर हुआ। द्वितीय यहकि निर्गुण की पूजा उस को अहंकारी कर देती है। इत्यादि॥

जो लोग दान का प्रकार नहीं जानते वे व्यर्थ व्यवहारों में धनको

नष्ट करते हैं जैसाकि जिस नगर में दो चार मंदिर आगे बने हुएहों वहां कोई और मंदिर बना के खड़ा करदेना क्या अच्छा होता कि उस द्रव्य को अपने वा अपने संबंधियों तथा मित्र पड़ोसियों के भरण पोषण में व्यय करते। यदि किसी धर्म मार्गमें ही लगाना था तो जहां नहीं था वहां सत्यधर्म और सत्यविद्या और सत्यनारायण के उपदेश के निमित्तकोई मंदिर अथवा सर्वोपकारके अर्थ कोई एक कूप वापी तड़ाग बनवा देते अथवा पथिगृह वा वैद्यालय, पाठशाला, बनवाते। अथव दीनों और अकिंचनोंकी सहायता में व्यय करते। अथवा जिन विद्वानों के उपदेश से सत्यज्ञान प्राप्त हो उनको सहायता करते। अथवा कवी २ सत्य धारी महा पुरुषों और सुहृदों को एकट्ठा करके उनकी सेवा और गोष्टी करते। जिस का फल ज्ञानोन्नति है॥

प्र०-इस ग्रन्थ का ज्ञानी तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा करेगा वा नहीं?

उ०-उसका मन चाहे तो अवश्यकरेगा परंतु उसकी और अन्य लोगों की यात्रा में भेद बहुत है। उसकी यात्रा मूल कारण को विचार के है और अन्य लोगों की पुण्य और पारलौकिक सुख की कामना से है॥

प्र०-तीर्थ क्षेत्रादि की यात्रा स्थापन में मूल कारण क्या है?

उ०-पूर्व विद्वानों ने जो २ काम जगतमें चलाये हैं उनका मूल कारण कुछ और होताहै परंतु उनके पश्चातवर्ती लोग कुछ और फल समझने लगजाते हैं। जैसा कि तीर्थ क्षेत्रादि की यात्रा में उन्होंने यह फल सोचा था कि गृहस्थ लोग जो कवी अपने गृह कार्योंसे अवकाश नहीं पाते उनको देशांतर का रटन कठिन है सो तीर्थाटन के बहाने से जब उनको देशाटन प्राप्त होजावेगा तो निम्न लिखित फलों की प्राप्ति होवेगी॥

१-घर से बाहर जाने में कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक क्लेश सहारने का स्वभाव होजावेगा कि जिस से मन की दृढ़ता होती है॥

२-देशांतर और स्थानांतर के जल पवन का संयोग देहको आरोग्यता में भी कवीर कारण होताहै। और वहां कई प्रकारके मनुष्य स्थान, यान, वस्त्र, भूषणादि पदार्थ देख के बुद्धिमें विस्तृति होती है।

तथा देशांतर में भाषांतर का लाभ और कई प्रकारके गुणी और ज्ञानी जनों का निर्यत्न मिलाप हो जाता है कि जिस के प्रताप से अपने में भी उन के गुण भर जाते हैं ॥

३–तीर्थ वा क्षेत्रों में जन समुदाय होने के कारण व्यापारकी वृद्धि होती है कि जो देशोन्नतिका मूल कारण है । इत्यादि ॥

प्र०–लोगों के हृदय में जो वहुत काल से ईश्वर तथा परलोक का नाम जम रहा है उस से विरुद्ध बात सुनके सारा संसार आप का शत्रु और निंदक तथा हिंसक वन जावेगा फिर क्या कारण है कि आप इस लोक विरुद्ध वात को मुख से निकालते हो ?

उ०–जो जन संसार का कल्याण करना चाहता है उस को अपनी हानि पर ध्यान न रखना चाहिये । यद्यपि आज पुराने निश्चयके विरुद्ध वात सुन के लोग कुछ चौंक उठेंगे परंतु जब हमारी वात में सत्यता और स्पष्टता उन को प्रतीत होगी तो कवी शत्रुता नहीं करेंगे । देखो प्रसुप्त पुरुषको जब कोई जगाने लगता है तो वह निद्रित पुरुष कितना दुःखी होता और क्या२ वकने लगजाताहै परंतु जब प्रबुद्ध होताहै तो उस जगाने वाले का उपकार मानताहै । सो उपदेष्टा को उचित है कि शांति गांभीर्य्य और धैर्य्य के साथ निर्भय और निराकांक्ष होके सत्य धर्म का उपदेश करता रहे अपनी हानि और क्लेशों का विचार न करे ॥

प्र०–आप के उपदेश से प्राणी सर्व प्रकार के वंधनों से विमुक्त होहोजाता है परंतु मेरी समझ में सनको अत्यंत निर्वंध करनो श्रेष्ट नहीं । फिर क्या आप जगत के जीवों के निमित्त कोई पद्धती भी श्रेष्ट समझते हो वा जिसकी जैसी इच्छा हो विचरे ?

उ०–यथेष्टाचार जो पशुवर्ग का धर्महै हम उसको कवी श्रेष्ट नहीं कहिते मनुष्य वहीहै कि जो सत्पुरुषोंकी पद्धति अनुसार चले । जिस ने सत्पुरुषों की पद्धति को त्यागा उस की जीवन यात्रा सुख सहित कवी समाप्त नहीं होती । यदिपूछो जितनी पद्धतियों जगतमें प्रचलित हैं सब सत्पुरुषों की ही रची हुई मानी जाती है क्या सब पर ही मनुष्य को चलना चाहिये तो सुनो–वे पद्धतियां यद्यपि किसी २ अंश में श्रेष्ट भी हैं परंतु अनेक वातें जो उनमें बुद्धि के विरुद्ध हैं उन के

मान लेने में प्राणी की बहुत हानि होती है। फिर एक दूषण उनमें और भी है कि वे सब स्वार्थ साधक लोगों की रची हुई हैं। यदि ऐसा न होता तो एक दूसरे से विरुद्ध न होती॥

प्र०-सत्पुरुषों की पद्धति क्या सब को अनुकूल होगी?

उ०-विद्वानों और विचारवानों को तो सब को अनुकूल ही होगी परंतु पक्षपाती संप्रदाई तथा मूर्ख लोग उस में भी छिद्रान्विषण करेंगे और प्रति कूल समझेंगे। हमारे कथन का तात्पर्य्य यह है कि मूर्खों और दुर्जनों के कलंक से तो कोई मार्ग भी नहीं बच सकता परंतु सत्पुरुषों की पद्धति वह है कि जो श्रेष्ट बुद्धिसे विरुद्ध न हो॥

प्र०-अच्छा फिर वह सर्व सम्मत सत्पुरुषों की पद्धति मुझको सुनाइये कि जिस के अनुसार चलनेमें सुख और विरुद्ध चलनेमें दुःख की प्राप्ति होती है?

अब सत्यधारी महापुरुषों की पद्धति कथन होती है॥

पद्धति शब्द का अर्थ मार्ग है। सो जो पुरुष मार्ग को छोड़ के यथेच्छाचार करता है वह कभी सुखी नहीं रहिता। बहुत लोग ऐसे हैं कि वे सुख के मार्ग को जानते हैं परंतु मन की चंचलता से उस पर स्थित नहीं होते अतः सारा आयु सुख को नहीं पाते। इस हेतु से पद्धति का होना और उस पर चलना बहुत आवश्यक है सो सुनो॥

प्राणीको अपना जन्म सुख सहित समाप्त करनेके लिये दो आश्रम ग्रहण करने चाहिये। एक गृहस्थाश्रम। दूसरा सन्यासाश्रम। यद्यपि बहुत विद्वान ऐसा भी मानते हैं कि कुछ काल गृहस्थ में रहिके अंतको सन्यासी अवश्य होना चाहिये परंतु हमारा कथन इससे विरुद्ध यह प्रकट करताहै कि यदि गृहस्थाश्रममें किसी प्रकारका विक्षेप न हो अथवा वहांके विक्षेपोंको मन सहारसके तो मनुष्य सन्यासाश्रमका कबी नाम न ले क्योंकि सन्यास श्रांत और असमर्थ पुरुषोंका धर्महै॥

गृहस्थाश्रम उस आचारका नाम है कि जिस में गृहस्थ लोग निवास करते हैं। और गृहस्थ इसका नाम है जो गृह में स्थितहै। सो गृहस्थ को चाहिये कि जब लों माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री, पु-

त्रादि कुटंब वर्त्तमान हो उनके भरण पोषण और प्रेममें नियुक्त रहे। सूर्य्य से कुछ पूर्व शय्या को त्याग के मल, मूत्र, का त्याग करे फिर जल मृत्तिका के साथ उतना शौच करे कि जिसके करने से अपने और पराये मन को ग्लानि न रहे। फिर दंत धावन क्रिया के पश्चात् यदि देश काल का विरोध न हो तो अवश्यमेव देह शुद्धि के निमित्त नित्यप्रति स्नान करे। प्रातःकाल चङ्क्रमण क्रियाका करना देहकी आरोग्यता में कारण है परंतु अवकाश और इच्छाको यहां प्रधानता है। फिर आवश्यक काम काज के अनंतर मध्यान्हके पूर्व अपने बांधवोंके बीच बैठके भोजन करे। भोजन का स्थान और आशन स्वच्छ और पवित्र आवश्यहोना चाहिये और भोजनके समय हाथ, पांउ, तथा वस्त्र और बरतन आदिका निर्मलहोना भी अत्यावश्यकहै। वस्त्रों सहित भोजनकरना वा अवस्त्र होकेकरना देश कालके विचारपर निर्भर रखताहै अर्थात् जिस देश और कालमें उतारना योग्यहो वहां उतारे जहां न हो न उतारे। खान पान में भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विचार भी बहुत आवश्यक है। जिन पदार्थों से मनको ग्लानि तथा तन में रोग उन्मादादिका अभ्युत्थान होवे अभक्ष्य पदार्थ हैं और शेष सब भक्ष्य हैं परंतु हिंसाको वर्ज्जके। भोजनके समय चिंता शोक तथा क्रोधको मनमें न आने देवे। और भोजनके अनंतर हाथ, मुख, शुद्ध करके उच्छिष्टपात्रोंकी शुद्धि भी नित्यमेव कर्त्तव्यहै। फिर अपने आवश्यक कार्य्य तथा आजीविकाके साधनमें प्रवृत्त हो। राजाको प्रजा पालन और प्रजाको राजाज्ञापालन आवश्यकहै। दुष्टोंको यथोचित दंड और श्रेष्टों का सत्कार और विद्वानोंका पालन और संग करना राजाका परमधर्म है। गृहस्थको योग्यहै कि संपूर्ण जीवोंके साथ मैत्री, मुदता, करुणा, उपेक्षाको यथाधिकार बरततारहै। परपदार्थोंका लालच और छल, कपट, अहंकार, वैर, ईर्षादि पापोंको कबी मनमें न आनेदेवे। राजा प्रजासे यथोचित कर और धनीलोग यथोचित व्याज लियाकरें किजिससे किसीको अत्यंत पीड़ा न हो। गुणका ग्रहण और गुणकी वृद्धिका उपायतथा गुणीजनोंका मान, पूजन यथाशक्ति समस्त गृहस्थोंको करना चाहिये। वस्त्रालंकार विभूषित होना गृहस्थ का भूषणहै परंतु वह संयम और संतोष पूर्वक हो और देशाचार और शिष्टाचारके विरुद्ध न हो। सत्पु

रुषोंकेसंग और सच्चिंतनके लिये भी कुछ अवकाश अवश्य निकाले। अभ्यागत अतिथिका अन्न, जल, वस्त्र, स्थान, मानादि से यथाशक्ति और यथाधिकार सत्कार अवश्य करे। चौर्य्य, व्यभिचार, परनिंदा, मिथ्यालाप, द्यूतादि लोक विरुद्ध व्यवहारों से सदा भय करे। वस्त्र, भूषण, धन, धान्य, स्थान, यान, यथोचित मान का संचय गृहस्थ को आवश्यकहै परंतु छल और कपटसे तथा निंदित आचार व्यवहारसे न करे। साधु को मिलके प्रणाम और गृहस्थको मिलके जयति हरि शब्द बोले ॥ गृहस्थ के यहाँ जब गर्भाधान हो तो सदौषधियों के साथ स्त्री की रक्षा करे। प्रसूत के समय सदुपाय और श्रेष्ठ द्रव्यों तथा श्रेष्ठ वैद्योंकी सहायतासे स्त्री तथा जातक की रक्षा करे। निर्दंत जातक की मृत्यु होजाये तो पृथिव में गोड़ना और तदनंतर अग्नि दाह करना बहुत श्रेष्ठ है। जहां लों होसके मृत्यु की समय शोक में मूर्छित न हो परंतु उस समय वैराग्य जनक वार्त्तालाप का करना और सुनना बहुत श्रेष्ठ है। जातक का भरण पोषण तथा रक्षण गृहस्थ को अवश्य कर्त्तव्य है। कन्या हो तथा बालक छै वर्षके पीछे उसे विद्याध्ययनमें अवश्य प्रवृत्त करना चाहिये। कोई न कोई उपजीविका का साधन गुण विद्या उसे अवश्य सिखलानी चाहिये। बोलने बैठने तथा उचित की मर्य्यादा और वृद्धों और श्रेष्ठों के आदर और प्रणामादि व्यवहार की शिक्षा भी उसे अवश्य करनी चाहिये। पंद्रह वर्ष से नीचे कन्या बालकका संबंध करना उचित नहीं और विवाहके समय कन्यासे वर अवश्य अधिक होना चाहिये। माता पिता का धर्म है कि विवाह की समय यथाशक्ति कुछ धन, धान्य, वस्त्रालंकार कन्या को अवश्य देवे। विवाह के समय श्रेष्ठ पुरुषों के समक्ष सत्त प्रतिज्ञा के साथ वर को उचित है कि वधू का पाणिग्रहण करे। गृहस्थ को एक स्त्री के होते दूसरी के साथ विवाह करना संतानकी कामना बिना कभी श्रेष्ठ नहीं। विधवा स्त्री और पुरुष को यदि उस का मन चाहै दूसरा विवाह अवश्य करना चाहिये। और विवाह होना उन स्त्री पुरुषों में श्रेष्ठ नहीं है कि जो पिता, पितामह तथा मातामह की संतान हों अन्य स्थानों में सर्वथा योग्य है। यदि संतान न हो तो पर पुत्र को पुत्र बना लेना भी उचित है। और दौहित्र भी पुत्र के तुल्यहै। पुत्र

को योग्य है कि माता पिता के आदर सत्कार तथा सेवा को अत्या-वश्यक समझे। और पिता माता अपने पदार्थों को उन का समझें। माता पिता तथा अन्य जेष्ट संबंधियों और साधुओं के शरीर मृत्युके पीछे उत्सव पूर्वक दाह करने चाहिये। मृत माता पिता के स्थानाप-न्न ज्येष्ट पुत्र होना चाहिये और उस के पदार्थ के अधिकारी समस्त पुत्र हैं। संतान के अभाव में दुहिता तथा दौहित्र भी अधिकारी है। जहां इन का भी अभाव हो तहां कोई स्वगोत्र तत्पश्चात् राजा उस पदार्थ का अधिकारी है॥

गृहस्थ को दान तथा परोपकार और सद्गुरु का पूजन तन, मन, धन, से कर्त्तव्य है। और कवी २ अपनी सत्यधारी पुरुषोंका समुदाय और सत्संग करना भी उचित है। इस में जो द्रव्य व्यय हो वह स-फल है। गृहस्थ को चाहिये कि अपना तो उसी को समझे जिस के साथ आश्य और इष्ट मिले परंतु संपूर्ण प्राणी जाति को प्रसन्न रखना पुण्य समझे और दुःखी रखना पाप समझे। पापीका नाम नीच और पुण्यात्मा का नाम ऊंच है. जाति से ऊच नीच कोई नहीं। गृहस्थों में से जो पुरुष विद्या और ज्ञान के बल से अन्य लोगों को सत्य धर्म का उपदेश करे उसका नाम आचार्य्य है। आचार्य्य का और सन्या सी का तन, मन, धन, से पूजन और सत्कार करना गृहस्थ का परम धर्म है क्योंकि उन से संसार का कल्याण और उपकार होता है॥

अब सन्यासी की सुनियें।

सन्यास शब्द का अर्थ त्याग है सो जिस में वह सन्यास हो उस-को सन्यासी कहिते हैं। जिसका मन गृहस्थ के सुखों की इच्छा न रखे और गृहस्थ के दुःखोंको सहार न सके वह गृहस्थाश्रमका त्या ग कर देवे और जहां चाहे विचरे परंतु चालीस वर्ष की अवस्था से पूर्व सन्यासी बनना श्रेष्ट नहीं क्योंकि उस समय मन का भोगों से रुकना कठिनहै और भोगोंकी प्रवृत्ति साधु को सुखी नहीं होने देती॥

निर्बाह मात्र भिक्षा का उसको दोषनहीं परंतु काया, मन, बाणी से लोकोपकार करता रहे। स्त्री सन्यासनी तीन से न्यून न विचरें और पुरुष सन्यासी आवश्यक समुदाय के बिना पांच के अधिक न

विचरें। सन्यासीको उचितहैकि उपद्रव उत्पादक पदार्थोंका संचय न करे। चार माससे अधिक एक नगरमें न रहे। दस कोशसे अधिक अप ने पांउ से यात्रा न करे। अपना यान स्थान कधी न वनावे। मुंडन कराना उसको एक मास में एकवार उचितहै और वह सश्मश्रुहो। शृंगार का करना तथा किसी खेल का खेलना उसको वर्जित है। स्त्री अतीत पुरुषों के और पुरुष अतीत स्त्रियों के निकट व्याख्यान और उपदेश के समय विना तथा रोग शोक की दशा विना कवी न वैठें। वैर, विवाद, खेती, व्यापार, चाकरी, व्यभिचार, सन्यासी को कलंक है। कमंडलु, भिक्षापात्र, पुस्तक, दंड, उपानत् के विना अन्य परिग्रह उसको भार है। वैराग्य, विवेक, सत्य, शौच, दया, शांति, गांभीर्य, प्रेम, अद्वैत्य, अतृष्णादि उसके भूषणहैं। आचार्य्य की नांई ज्ञानोपदेश करना उसका आचारहै। दो कौपीन, एक कटिवस्त्र चादर, एक चोला, एक अंगोछा, एक शिरोवस्त्र, एक आसन, एक शीत; उष्ण निवारण इन सप्तवस्त्र से अधिक रखना उसको श्रेष्ट नहीं न्यून होतो शोभा है। रोगमें औषध करना उचितहै। मृत्यु के समय अतीत, अतीत को काष्ट पाषाणवत् त्याग देवे गृहस्थ जन चाहे गाड़ें चाहे जलायें। साधु का नाम देव शब्द से प्रसिद्ध होना चाहिये। अतीत को अपने हाथ से भोजन वनाना वर्जित है। भिक्षा का अन्न गुण वृद्ध के आगे निवेदन करे वह यथा भाग बांट देवे। परस्पर मिलाप में प्रणाम शब्दका उच्चारण करना योग्य है। ये पूर्वोक्त पद्धति सावधान दशा में छूट जाये तो दुःखों और क्लेशों को उत्पन्न करती है और आपत्काल में इसके विरुद्ध चलने में कोई दोष नहीं ॥

प्र०-संसारमें जो सन्यासी, विरागी, योगी, उदासी आदिक अनेक प्रकार के साधु देखे जाते हैं क्या वे श्रेष्ट नहीं होते ?

उ०-श्रेष्ट तो वही है कि जो गुण कर्म में श्रेष्ट हो किसी वेष वा जातिमात्र से कोई श्रेष्ट नहीं हो सकता। देखो सन्यासी शब्द का अर्थ त्यागी है सो ये जो गिरि पुरी नाम के सन्यासी हैं त्यागी तो इन में कोई पुरुषही होगा वहुधा मठ धारी धनाढ्य वरन स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, आरामादि में ग्रस्त और नित्य वादानुवाद के कारण राज द्वारों और न्यायशालाओं में मारे२ फिरते हैं। यदि ठीक विचारके देखेंतो उन

में कोई यथार्थ पुरुष भी नहीं निकलता परंतु अपने को महापुरुष कहिलाने में सब तत्पर हैं ॥

प्र०-क्या दंडी सन्यासी भी श्रेष्ट नहीं होते ?

उ०-हम पीछे कहि चुके कि किसी दंड कमंडलु आदिक वाह्य चिन्ह से कोई श्रेष्ट नहीं होता श्रेष्ट वही है जो अंतर से श्रेष्ट हो। दंड एक वांसकी लकड़ी का नाम है जो किसी को श्रेष्ट नहीं बना सकती और न काषाय वस्त्र को वा कमंडलु को यह शक्ति है कि किसी को पवित्र करसके जैसाकि लिखा है:—

"न लिंगं धर्म कारणम्"

अर्थ-कोई चिन्हधर्मका कारण नहीं। हमें बड़ा शोक उन दंडियों पर होता है कि जो पूरे तो दास भावमें भी नहीं उतरते परंतु अपने को सबके स्वामी जी प्रकट करते हैं ॥

विरागी भी किसी कंठी तिलक वा तप्तमुद्रादि चिन्हका नाम नहीं किंतु सर्व पदार्थों से जिसका राग दूर होगया उसका नाम विरागी है। बड़े आश्चर्य्य की बात है कि देह गेह तथा मंदिरों और पदार्थों और प्रतिष्टा में राग तो उनका गृहस्थोंसे भी अधिक परंतु कहिलाते वे विरागी हैं। उनको पूछना चाहिये कि तीन प्रकार के वैराग्य में से आप को कौनसा वैराग्य हुआ है ॥

वैराग्य तीन प्रकार का होता है। एक मंद वैराग्य—अर्थात् किसी पुरुष को मरे देखके क्षण मात्र मन में मृत्यु का भय उत्पन्न होजाना और सांसारिक भोगों को झूठे जान के स्वर्गादि श्रुत पदार्थों में रुचि होजानी। सो यह मंद वैराग्य तबलों रहिता है कि जबलों किसी अन्य व्यवहार में मन प्रवृत्त नहीं होता ॥

दूसरा कारण वैराग्य—अर्थात् स्त्री, पुत्रादि पदार्थों के वियोग से अथवा किसी राजा वा शत्रु आदिक के शंकट भय से कुछ काल सांसारिक भोगोंसे मन का उदासहो जाना। यह तब लों रहिता है कि जब लों वैसे ही स्त्री पुत्रादि फिर प्राप्त नहीं होते ॥

तीसरा तीव्र वैराग्य—अर्थात् ज्ञान वृत्तिद्वारा सांसारिक समस्त भोगों को क्षणभंगुर और परिणामी तथा विक्षेप जनक जान के उनसे

मन का उदास रहिना। सो यह कवी दूर नहीं होता॥

योगी शब्द का अर्थ योगवाला है। सो जिस का सत्य पदार्थमें योग हुआ उस का नाम योगी है। काषाय वस्त्र तथा नाद मुद्रादि चिन्हीं का नाम योगी नहीं। बड़े आश्चर्य्य की बात है कि अंतर से तो भैरव वा काली, कराली तथा बाला, सुंदरी नाम किसी दुर्गाके उपासकहैं जो कबी देखी नहीं, और जगत में अपने को योगी कहि के पुजवाते हैं। ये योगी मनसे तो भांग, गांजा तथा मद्य, मांसादि के दास हैं ऊपर से जगत के नाथ जी बने बैठे हैं। आश्चर्य्य है कि जिन का मारन, मोहनादि झूठे मंत्र, यंत्र तंत्रोंका व्यवहारहो लोग उनको योगी समझते हैं॥

उदासीन शब्द का अर्थ भी सन्यासीके सदृशही है अर्थात् जो सर्व संसार से उदास हो उस का नाम उदासीन है। परंतु बड़े आश्चर्य्य की बात है कि स्त्री, पुत्र, धन, धाम, क्षेत्र, आराम आदिक के झगड़ों में और मंडली की वृद्धि में उरझे रहिते हैं और नाम अपना उदासीन प्रकट करते हैं॥

सत्य तो यह है कि जैसे गृहस्थ लोग अपने मानसिक रोग शोक में ग्रस्त रहिते और आजीविका के हेत नाना उद्यम और यत्न करते हुए कबी दुःखी कबी सुखी दिखाई देतेहैं वैसे ही ये भेखी लोगहैं। जैसे अन्य जातिके लोग जगतमें वसते हैं वैसे भेख भी एक जातिहै॥ साधु वही है जो सीधा और श्रेष्ट हो। श्रेष्ट वह है जो न आप किसी से दुःखे और न किसी अन्य को दुःखावे। जैसा कि कृष्ण महाराज ने गीता अध्याय १२ श्लोक १५ में कहा है:—

"यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नोद्विजते चयः स सन्यासी च योगी च स शांति मधि गच्छति"

अर्थ—जिस से जगत दुःखी नहीं होता और जो जगत से आप दुःखी नहीं होता वही सन्यासी और वही योगी है और वही शांति को प्राप्त होता है॥

प्र०-यद्यपि आप किसी को दुःखाते नहीं परंतु आप के मत को देख के ही बहुत लोग दुःखी हैं अथवा आप का आचार व्यवहार जो लोगों से विरुद्ध है कई लोग इस में भी बहुत दुःखी हैं फिर कृष्ण महाराज के वाक्यानुसार आप को भी शांति कभी नहीं होती होगी ?

उ०-किसी से दुःखी होना वा दुःखी करना यह नहीं होता जो तुमने कहा किंतु यह होताहै कि किसीके साथ वैर विरोध वा ईर्षा छल, चोरी, व्यभिचार, विघात, विश्वास-घातादि व्यवहारों का करना। सो ये व्यवहार हम किसी के साथ कभी करने नहीं चाहते और न कराने चाहते हैं। और आचार व्यवहार भी हम कोई ऐसा नहीं रखते कि जिस से किसी को कुछ हानि पहुंचे फिर यदि अपने अज्ञान से कोई वृथा ही हमारे मत वा आचार व्यवहार को देख के दुःखी होवे तो इस का हम क्या उपाय कर सकते हैं ॥

प्र०-सारा जगत ईश्वर, जीव और वेद को सत्य मानता और तप, जपादि को श्रेष्ठ कहिता है आप का कथन जो इस से विरुद्ध है अतः लोग दुःखी होते हैं ?

उ०-यदि सोते पुरुष को कोई जगाने लगे तो वह सुप्त पुरुष बहुत दुःखी होता है फिर क्या उस जगाने वाले का इस में कुछ अपराधहै वा उपकार। हम सच कहिते हैं कि अज्ञान निद्रा में सुप्तपुरुषों को जो हम अपने उपदेश द्वारा स्वप्न के हाथी से छुड़ातेहैं उनपर उपकार करतेहैं और तप जपादि वृथा आयासोंसे जो उनको बचाते हैं यह भी उपकारसे बाहर नहीं फिर जो लोग उपकार को भी अपने अज्ञान से अपकार समझें वहां उपकारी का क्या दोष है। बहुत बातें ऐसी हैं कि हैं तो झूठी परंतु लोगों ने उनको सत्य और श्रेष्ठ समझा हुआ है सो उपकारी को योग्य है कि परोपकार दृष्टि से उन के शोधन का उपाय अवश्य करता रहे ॥

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत प्रवाहोत्तरभागे पराविद्यायामाचार निर्णयः षष्ठस्तरङ्गस्समाप्तः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तोयंग्रंथः ॥

॥ सत्यामृत प्रवाह का शुद्धाशुद्धि पत्र ॥

अथ पूर्व भाग

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ट	पं०
नगर	नगरे	१	१३
वौद्धक	वौद्ध	२	३
कौनमा	कौनसा	४	२
मानना	मागना	४	२२
रूइ	रूई	६	७
कहने से	कहने से तुमने यह कैसे	६	१७
जो ईश्वरही कीवाणी है तो सुनो ईश्वर का होनाकथन करते हैं.	ईश्वरकाहो ना कथन करतेहैंजो ईश्वर ही की वाणी है तोसुनो	६	२८
इंधन	ईंधन	८	६
यम	यत	९	२३
बनाया गया	बना गया	९	२३
आपकी	आप को	१०	७
कुप	चुप	१०	१८
तुम यह	तुम	१४	१
पुड़े	पड़े	२०	१३
सिद्धि	सिद्ध	२१	३
अघ्यों	आघ्यों	२६	१६
आमघाट	आमघट	३५	२८
विवाहाहित	विवाहरहित	३६	२१
भ्रभ	भ्रम	४१	७
किंचकि	किंच	४१	२७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ट	पं०
निर्मूला	निर्मूल	४२	३
बनाना	बनना	४७	२
जगत	जगतके	४७	६
तत्व	सत्व	५१	१
उन्नति	उन्नत	५२	१७
प्राणा	प्राण	५४	२५
देने	देनेको	५५	१२
सब	सबका	६३	३
नचाता	नाचता	६४	१२
अनेकऔर	औरअनेक	६७	१
वर्गका	वर्गको	६७	७
देनो	दोनो	६८	२०
ऐसे	ऐसा	६९	१६
न्यूनदूसरा अधिक	न्यूनादूसरी अधिका	७०	२७
यथा	याथा	७१	२५
किभी	कभी	७४	८
झूठ	झूठा	७५	२५
वकरे	कुकरी	७७	१९
अन्त	अत:	८१	८
अनाधि कारिता	अनधि कारिता	८१	१७
सत्व	स्वत्व	८२	६
लोगोंस	लोगोंसे	८७	२१
लोहकारता	लोहकारतथो	९७	२
वाभिचार	व्यभिचार	९९	४
जता	जाता	१०१	
आठ	सात	१०३	

[अशु]द्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
[illegible]	मैं	१०६	२१
[illegible]	करे	११०	२१
[स]कटक	सकंटक	११४	४
[illegible]	लेवे	११५	११

उत्तर भाग का शुद्धा शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
[illegible]	सो	११८	८
[illegible]	गा	१३०	७
[illegible]वित	मुक्ति	१३१	४
[उप]ासना	उपासन	१३२	८
[धा]रणा	धारण	१३२	२६
[illegible]पू	खपू	१३२	३०
[illegible]ोंकोको	वृर्चोंको	१३५	२८
[illegible]गडे	कागडो	१४१	५
[illegible]	यहच्छांदोग्य	१४२	२३
[illegible]ना	पासन	१४४	२०
[illegible]ह	यह ऋग्वेद	१४४	२०
[illegible]दंति	विदंति	१४५	४
[प्र]थम प्रथम	प्रथम	१५०	२४
[illegible]ानाया	जनाया	१५०	२४
[illegible]खा	देखा	१५५	२४
[illegible]ात	जातक	१५६	२४
[illegible]	भी	१५७	१५
[illegible]ुटमे	पुट	१५९	२५
[illegible]टकते	फटते	१५९	२९
[illegible]०	उ०	१६१	७
[illegible]भाव	समभाव	१६२	२९
[illegible]	घर	१६५	१७
को	के	१६७	१०
ढोर	ढोरा	१७०	२८
खाना	खान	१७१	११
पग	पतंग	१७३	३
याग	संयोग	१७३	५
हाता	होता	१७३	११
पंथ	पथ	१७७	३
राघ	राध	१७७	१७
थाड़ी	थोड़ी	१७९	६
बुद्धि	बृद्धि	१७९	२४
तानता	तनता	१८५	२०
टहिराओ	ठहिराओ	१८६	१२
काथ्य	कार्य्य	१८६	१५
मन	मत	१८७	२०
सा	सो	१८९	१
कारो	करो	१८९	७
ता	तो	१९७	४
कते	करते	१९७	५
कहत	कहते	१९७	६
ईश्वरमे	ईश्वरसे	१९८	७
कहा	कहाँ	१९८	१६
सा	सो	१९८	२१
सृष्टिका	सृष्टिको	१९९	५
होता	होती	१९९	७
लन	लेन	१९९	१०
आर	और	१९९	१३
शंसय	संशय	२००	६
प्रचिलत	प्रचलित	२००	८
किभी	किसी	२००	१४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
जिससे	जिससे	२००	२०
संबध	संबंध	२०१	२६
क्याकि	क्योंकि	२०२	१६
ह	हैं	२०२	१६
वेदां	वेदों	२०२	२०
किसाबद	किसीवेद	२०२	२१
कपा	कथा	२०२	२२
जेसा	जैसा	२०२	२३
भरद्वाज	भारद्वाज	२०२	२४
अर्थ	अथर्व	२०४	१
सोचा	सोचो	२०४	१०
कर्त्ता	कर्त्ता है	२०६	१०
दूमरे	दूसरे	२१०	१८
उसमे	उससें	२१३	२
नर्णय	निर्णय	२१३	११
पीनेस	पीनेसे	२१५	१०
खानसुाग्-	खानखाग्	२१६	८
अत्मा	आत्मा	२१६	२१
देद	देह	२२६	२
अनूभूत	अनुभूत	२३४	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
हदे	देह	२३५
जात	जाता	२३८
कारगार	कारागार	२३८
होत	होते	२३६
खग	स्वर्ग	२३६
प्रत्यक्ष	प्रत्यय	२४१
आत्माप्र काश	आत्माका प्रकाश	२४१
ओर ओर	ओर	२४३
टेढ़ा	टेढ	२४४
व्यहरो	व्यवहारों	२५१
समझ	समझा	२५१
होती	होती है	२५४
विमुक्त हो हो	विमुक्त हो	२५६
कालक	कलंक	२६१
अतात	अतीत	२६१
अथ	अर्थ	२६१
दाम	दास	२६३